जनवरी १९९१

पुरोधा

In this material world, for men, money is more sacred than the Divine's Will

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा जनवरी १९९१ वर्ष २९, अंक ४, पूर्णांक २९०

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी.पी.पी. से जायेगा। वी.पी.पी. लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२
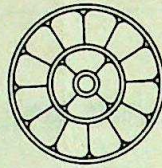
प्रार्थना और ध्यान

१३ मार्च १९१३

. . . वर दे कि पवित्रीकरण की शुद्ध सुगंध हमेशा जलती रहे, ऊंची और ऊंची, सीधी और सीधी उठती रहे, पूर्ण सत्ता की कभी न रुकनेवाली प्रार्थना की तरह जो तेरे साथ एक होने की इच्छा करती है ताकि वह तुझे अभिव्यक्त कर सके।

—श्रीमां

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा जून १९९१ वर्ष २९, अंक ९, पूर्णांक २९५

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी० पी० पी० से जायेगा। वी० पी० पी० लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

संपर्क-सूत्र —संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

प्रार्थना और ध्यान

२७ जून १९१३

तेरी आवाज इतनी विनीत, निष्पक्ष, अपने धैर्य और दया में इतनी उत्कृष्ट है कि वह अपने-आपको किसी अधिकार, किसी इच्छा-शक्ति के सामर्थ्य के साथ नहीं सुनाती बल्कि वह शीतल, कोमल, शुद्ध समीर की तरह है। वह एक बिल्लौरी मर्मर की तरह है जो बेसुरी संगीत-गोष्ठी को सामंजस्य की धुन प्रदान करता है। वह आदमी जो इस धुन को सुनना जानता है, उस समीर में सांस लेना जानता है, उसके लिये वह सौंदर्य का ऐसा खजाना, शुद्ध स्वच्छता और उदात्त महानता की ऐसी सुगंध देता है कि सभी फालतू भ्रम गायब हो जाते हैं या जिस अद्भुत सत्य की झांकी मिली है उसकी आनंदमय स्वीकृति में बदल जाते हैं।

श्रीमां

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा, गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा जुलाई १९९१ वर्ष २९, अंक १०, पूर्णांक २९६

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी० पी० पी० से जायेगा। वी० पी० पी० लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

	पुरोधा	*अग्निशिखा*	*दोनों मिलाकर*
आजीवन सदस्यता शुल्क	*२७५*	*२२५*	*५००*
वार्षिक शुल्क	*१४*	*१०*	*२४*

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना

प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

प्रार्थना और ध्यान

२१ जुलाई १९१३

फिर भी कितने धीरज की जरूरत है ! प्रगति की अवस्थाएं कितनी अदृश्य-सी हैं ! . . .

ओह ! मैं तुझे अपने हृदय की गहराइयों से कैसे पुकारती हूं, हे सत्य ज्योति, परम प्रेम, दिव्य स्वामी, जो हमारे प्रकाश और हमारे जीवन का उत्स, हमारा पथ-प्रदर्शक और हमारा रक्षक, हमारी आत्मा की आत्मा हमारे प्राण का प्राण, हमारी सत्ता का हेतु, सर्वोच्च ज्ञान, अविकारी शांति है !

—श्रीमां

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा अगस्त १९९१ — वर्ष २९, अंक ११, पूर्णांक २९७

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी० पी० पी० से जायेगा। वी० पी० पी० लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

अगस्त १९९१

पुरोधा

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा,
गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा
सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा सितंबर १९९१ वर्ष २९, अंक १२, पूर्णांक २९८

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १० और पुरोधा के १४ शीघ्र भेजें अन्यथा अगला अंक वी० पी० पी० से जायेगा। वी० पी० पी० लौट आने से हमें बहुत हानि होती है। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो २२५ या २७५ एक साथ या किस्तों में देकर अग्निशिखा और पुरोधा के ५०० देकर आजीवन सदस्य बन सकते हैं।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	२७५	२२५	५००
वार्षिक शुल्क	१४	१०	२४

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

पुरोधा

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा, गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा नवंबर १९९१ वर्ष ३०, अंक २, पूर्णांक ३००

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १५ और पुरोधा के २० शीघ्र भेजें। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा, न ही अगला अंक वी० पी० पी० से जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो ३०० रु० देकर अग्निशिखा के और ४०० रु० देकर पुरोधा के आजीवन सदस्य बन सकते हैं। आजीवन सदस्यता २० वर्ष के लिये मानी जायेगी। रुपये किस्तों में भी भेज सकते हैं।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	४००	३००	७००
वार्षिक शुल्क	२०	१५	३५

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

नवंबर १९९१

पुरोधा

उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा, गुजरात, ओड़िसा, आंध्र प्रदेश, पंजाब और मैसूर सरकार द्वारा सरकारी पुस्तकालयों, विद्यालयों और महाविद्यालयों आदि के लिये स्वीकृत

पुरोधा दिसंबर १९९१ वर्ष ३०, अंक ३, पूर्णांक ३०१

विषय-सूची

आपका अग्निशिखा/पुरोधा का चंदा . . . में समाप्त हो रहा है। कृपया अग्निशिखा के १५ और पुरोधा के २० शीघ्र भेजें। अलग अनुस्मारक नहीं भेजा जायेगा, न ही अगला अंक वी० पी० पी० से जायेगा। कृपया चेक न भेजें। चाहें तो ३०० रु० देकर अग्निशिखा के और ४०० रु० देकर पुरोधा के आजीवन सदस्य बन सकते हैं। आजीवन सदस्यता २० वर्ष के लिये मानी जायेगी। रुपये किस्तों में भी भेज सकते हैं।

	पुरोधा	अग्निशिखा	दोनों मिलाकर
आजीवन सदस्यता शुल्क	४००	३००	७००
वार्षिक शुल्क	२०	१५	३५

संपर्क-सूत्र—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२

संपादक : रवींद्र, वंदना
प्रकाशक : अनिरुद्ध सरकार, श्रीअरविंद सोसायटी, पांडिचेरी—६०५००२
मुद्रक : अमियरंजन गांगुली, श्रीअरविंद आश्रम प्रेस, पांडिचेरी—६०५००२

दिसंबर १९९१

पुरोधा
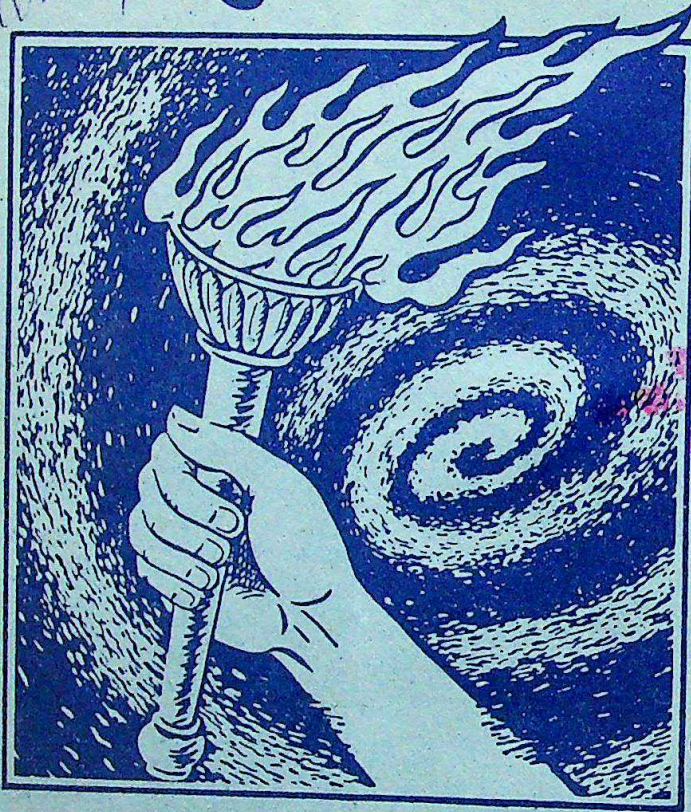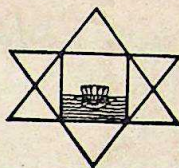
क्योंकि तुम्हारी अग्नि हो गयी क्षीण

क्योंकि तुम्हारी अग्नि हो गयी क्षीण, क्या मेरी हो जायेगी न्यून,
ऐ कुसुम-कली, खिलते गुलाब के रूप-चमत्कार ?
प्रेम में क्रय-विक्रय कर, क्या करूं तिरस्कार
अपने प्रेम और अपनी आत्मा का, खोलूं और करूं बंद
अपने उत्कट अनुराग का लम्बा आख्यान, पुनर्भुगतान
के लिये प्रदत्त, व्यापारी के उधार-खाते के समान,
या अविनिवृत्त, जिसे भ्रूभंग से कर दिया अवमार्जित
अविवेचित रूप से दर्ज मानों था एक ऋण निकृष्ट।
जो तुम दे सकते थे, तुमने मुझे दिया, एक मधुर मुस्कान
जीवन में मिली सारी रोशनी की तरह मूल्यवान्,
महीनों में कैसा था वह एक माह जब तुम्हारा मधुर रूप कुछ क्षण
मेरी सत्ता पर मंडराया था वहीं रह जाने के लिये अर्ध-मन।
जो मैं अर्पित कर सकता था, तुम्हें किया अर्पण, अपनी अंतिम
सांस तक, मृत्यु से भी अविचल, अमर प्रेम।

अनु० —अमृता भारती

—श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

जनवरी

१. अत्यधिक निंदा अत्यधिक प्रशंसा से अधिक अच्छी नहीं है। सच्ची विनम्रता तो इसमें है कि अपने बारे में विचार न किया जाये और भगवान् को ही हमारा सच्चा मूल्य आंकने दिया जाये।

२. प्र०—मेरे हृदय को खाली मत छोड़ो मां!
उ०—मैं हमेशा तुम्हारे हृदय में रहती हूं।

३. तुम जितना अधिक खिन्न रहोगे और जितना अधिक विलाप करोगे उतना ही अधिक मुझसे दूर होते जाओगे। भगवान् खिन्न नहीं हैं और भगवान् को पाने के लिये तुम्हें सारी खिन्नता और हृदय की सारी दुर्बलताओं को अपने अंदर से दूर फेंक देना होगा।

४. खोज में एक आनंद है, प्रतीक्षा में एक आनंद है, अभीप्सा में एक आनंद है, कम-से-कम उतना ही बड़ा आनंद जितना कि प्राप्ति में।

५. एकमात्र तुम्हारी अंतरात्मा में ही शांति निवास करती है और संक्रमण के द्वारा ही वह तुम्हारी सारी सत्ता में छा जाती है। पर वह स्थायी नहीं होती, क्योंकि अभी तक तुम्हारी सारी सत्ता पर अंतरात्मा का राज्य निश्चित रूप से स्थापित नहीं हुआ है।

६. हमारा रास्ता **बहुत लंबा** है और यह अत्यावश्यक है कि हम प्रत्येक पग पर यह पूछे बिना कि हम आगे बढ़ रहे हैं या नहीं, शांति के साथ आगे बढ़ते रहें।

७. **अध्यवसाय के बिना कुछ भी नहीं हो सकता।**
किसी चीज को इसलिये नहीं छोड़ देना चाहिये कि वह कठिन है, बल्कि वह जितनी अधिक कठिन हो उतना ही अधिक उसमें सफ़लता पाने का संकल्प होना चाहिये।
सभी चीजों में सबसे अधिक कठिन है भौतिक जगत् में भागवत चेतना को उतार लाना। तो क्या हमें इस कठिनाई के कारण इस कार्य को छोड़ देना चाहिये?

८. मेरी समस्त शक्ति तुम्हें सहायता देने के लिये तुम्हारे साथ है; शांत विश्वास के साथ अपने-आपको खोलो, भागवत कृपा पर श्रद्धा रखो और तुम अपनी सभी कठिनाइयों को पार कर जाओगे।
दुर्बल होने की भावना को स्वीकार ही क्यों किया जाये? यही तो बुरी बात है।

९. चिंतित मत होओ, केवल अपने अंदर और अच्छा करने के संकल्प को सर्वदा बनाये रखो।
हां, शांत और धैर्यपूर्ण विश्वास में ही विजय की सुनिश्चिति होती है।

१०. प्र०—"तू सभी कठिनाइयों को पार कर जायेगा"—मैं इसे बार-बार दोहराता हूं परंतु मेरी संपूर्ण सत्ता इसको स्वीकार नहीं करती।

उ०—यदि तुम पर्याप्त दृढ़ता के साथ इसे दुहराते रहो तो तुम्हारा विद्रोही अंग अंत में मान जायेगा।

११. प्र०—मेरे अंदर भगवान् पर विश्वास की कमी नहीं है, परंतु वह शायद मेरा अहंकार ही है जो निरंतर यह कहता रहता है कि भगवान् मुझसे जो कुछ चाहते हैं उसे मैं नहीं कर सकता।

उ०—हां, और जब यह अहंकार हार मानकर अपना अधिकार छोड़ देता है तब यह भय दूर हो जाता है और उसका स्थान यह सुस्थिर प्रतीति ले लेती है कि कुछ भी असंभव नहीं है।

१२. प्र०—हे मां! तू मेरे साथ रह, तेरे बिना मैं दुर्बल हूं, बहुत दुर्बल और संतप्त हूं।

उ० —भय नहीं करना चाहिये, विजय उन्हीं की होती है जो निर्भय होते हैं। मैं तुम्हें पथ दिखाने और तुम्हारी रक्षा करने के लिये हमेशा तुम्हारे साथ हूं।

१३. स्वयं अपने हृदय को शुद्ध करने के लिये यह आवश्यक है कि तुम कार्य करो और यह सोचने-विचारने में अपना समय न बिताओ कि दूसरे क्या करते हैं और क्या नहीं करते।
तुम्हें अपने सतही तथा निराधार निर्णयों पर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये।

१४. प्र० —वर दे कि मेरी सारी सत्ता उस प्रेम के सिवा कुछ न हो जो अपने-आपको तुझे देना चाहता है और जो मुझे तेरी ओर ले जाता है।

उ० —इस अभीप्सा को बनाये रखो तो विजय निश्चित है; एक दिन तुम्हें मेरे लिये एक ऐसा प्रेम प्राप्त होगा जो तुम्हें शक्ति और आनंद से भर देगा।

१५. निष्ठा सफलता का निश्चित आधार है।
हर एक में और सबमें उच्चतम चेतना को जीवन का शासक होना चाहिये।
हमारे जीवन पर सत्य के लिये प्रेम और प्रकाश के लिये प्यास का शासन होना चाहिये।

१६. हमें सतत अभीप्सा की स्थिति में रहना चाहिये लेकिन जब हम अभीप्सा न कर सकें तो हम एक बालक की सरलता के साथ प्रार्थना करें।
हम प्रार्थना करते हैं कि भगवान् हमें हमेशा अधिकाधिक सिखायें, अधिकाधिक बोध दें, हमारे अज्ञान को छिन्न-भिन्न करें, हमारे मनों को प्रकाश दें।

१७. यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि सौदेबाजी का सारा भाव सचाई का विरोधी और कपट है जो प्रार्थना का सारा मूल्य हर लेता है।
जो सचाई के साथ भगवान् को पुकारते हैं उनके लिये कुछ भी कठिन नहीं है।

१८. परम प्रभु, हमें नीरव रहना सिखा ताकि नीरवता में हम तेरी शक्ति पा सकें और तेरी इच्छा को समझ सकें।
हमें सत्य की ओर अपने प्रयास में वास्तविक रूप से सच्चा होना सिखला।

१९. काली उच्चतर क्षेत्रों में प्रेम की शक्ति हैं जो प्रगति और रूपान्तर की ओर धकेलती हैं। प्राण में वे मिथ्यात्व, आडम्बर और दुर्भावना के विनाश की शक्ति हैं।
और जो कुछ शुभ, सत्यमय और प्रगतिशील हो उसे वह कभी नष्ट नहीं करतीं, इसके विपरीत वे उसकी रक्षा करती और उसे सहारा देती हैं।

२०. प्र० —कक्षा में शांति और स्थिरता और बच्चों से काम करवाने के लिये क्या करना चाहिये ?

उ० —सबसे उपयोगी चीज है उनके अंदर अध्ययन के लिये **सच्ची** रुचि, **सीखने और जानने की आवश्यकता** पैदा करना या जगाना, उनकी **मानसिक** जिज्ञासा को जाग्रत् करना।

२१. ...प्रतीत होने की अपेक्षा होना कहीं अधिक अच्छा है। अगर हमारी सचाई पूर्ण हो तो हमें अच्छा प्रतीत होने की आवश्यकता नहीं। और पूर्ण सचाई से हमारा अभिप्राय यह है कि हमारे सभी विचार, अनुभव, इन्द्रिय-बोध और कर्म हमारी सत्ता के केन्द्रीय सत्य के सिवा और किसी चीज को अभिव्यक्त न करें।

२२. मेरे नन्हे बच्चो, तुम आशा हो, तुम भविष्य हो। इस तरुणाई को हमेशा बनाये रखो, यही प्रगति की क्षमता है; तुम्हारे लिये "असम्भव" शब्द का कोई अर्थ न होगा।

२३. तुम अपने आनंद और अपने सुख के लिये केवल भगवान् पर ही निर्भर रहो, केवल उन्हीं में सहायता और आश्रय को खोजो, उसे तुम वहीं पाओगे। वे तुम्हें हर दुःख में आश्वासन देंगे, तुम्हें

पथ पर चलायेंगे, तुम ठोकर खा जाओ तो तुम्हें उठायेंगे और यदि दुर्बलता और क्लान्ति की घड़ियां आयें तो प्रेम की बलवान् भुजाओं में लेकर अपनी सुखद मधुरिमा में लपेट लेंगे।

२४. जब विरोधी शक्तियों के साथ ठीक तरह से व्यवहार किया जाता है तो वह सब जो कुरूप और मिथ्या होता है केवल सत्य और सुन्दर के लिये स्थान छोड़कर गायब हो जाता है।

२५. श्रद्धा और विजय का संकल्प रखना अनिवार्य है।
भौतिक प्रमाणों पर टिकी श्रद्धा, श्रद्धा नहीं होती—वह सौदेबाजी होती है।
जिनमें श्रद्धा है वे पार हो जायेंगे।

२६. सहायता हमेशा मौजूद रहती है।
यह तो तुम्हें ही अपनी ग्रहणशीलता को जीवित-जाग्रत् रखना है।
कोई मनुष्य जितना ग्रहण कर सकता है, भगवान् की सहायता उससे कहीं अधिक विशाल होती है।

२७. बोला गया प्रत्येक झूठ विघटन की ओर लिया गया एक कदम है।

२८. अगर तुम पृथ्वी पर शांति चाहते हो तो पहले अपने हृदय में शांति स्थापित करो।

२९. मां के प्रति आत्मसमर्पण करने का यह अर्थ है कि हमारी प्रकृति उनके हाथों का यंत्र और हमारी अंतरात्मा उनकी गोद का बालक बन जाये।

३०. यदि कोई विश्वास और निर्भरता के साथ अपने-आपको भगवान् के हाथों में सौंप दे तो भगवान् सब कुछ कर सकते हैं—हृदय और स्वभाव को शुद्ध, भीतरी चेतना को जाग्रत् और पर्दों को दूर किया जा सकता है।

३१. वास्तव में भूतकाल को भूल जाना और सोचने की आदत से पिंड छुड़ाना कठिन काम है और उसके लिये कठोर "तपस्या" की जरूरत होती है। लेकिन अगर तुम्हें भागवत कृपा पर श्रद्धा है और तुम पूरे हृदय से उसके लिये याचना करो तो तुम ज्यादा आसानी से सफल होगे।

—माताजी

———*———

अगर वास्तविकता का यह अर्थ है कि हम निम्न प्रकृति की कुरूपता को इस बहाने स्वीकार कर लें कि उनका अस्तित्व है तो यह साधना का अंग नहीं है। हमारा लक्ष्य इन चीजों को स्वीकार करना और उनमें मजा लेना नहीं है बल्कि उनसे पिंड छुड़ाना और आध्यात्मिक सौंदर्य तथा पूर्णता के जीवन का निर्माण करना है। जबतक हम इन कुरूपताओं को स्वीकार करते हैं तबतक यह नहीं किया जा सकता।

इस बात से अभिज्ञ होना कि वे हैं और उन्हें अस्वीकार करना, उन्हें अपना स्पर्श न करने देना एक चीज है; उन्हें स्वीकार करना और उनके आगे झुक जाना एकदम अलग चीज है।

—माताजी

हमेशा सच्चा मार्ग-दर्शन अपनाना

१ अप्रैल, १९५३

"महत्त्वाकांक्षा ने बहुत-से योगियों का नाश किया है। यह नासूर बहुत समय तक छिपा रह सकता है। बहुत-से लोग जब इस मार्ग पर चलते हैं तो उन्हें इसका पता भी नहीं होता लेकिन जब उन्हें शक्तियां प्राप्त होती हैं तो उनकी महत्त्वाकांक्षा उठ खड़ी होती है। शुरू में ही उसे निकालकर दूर नहीं फेंका गया था इसलिये और भी ज्यादा भड़क उठती है।"

प्रश्न और उत्तर १९२९ (१४ अप्रैल)

आप "नासूर" किसे कहती हैं ?

यह एक बिंब है। जैसे एक बहुत सुन्दर आम, देखने में बहुत अच्छा होता है लेकिन काटने पर उसके अंदर से कीड़ा निकलता है। यह इसलिये कि फल बनने से पहले ही उसमें मक्खी ने अंडा दे दिया था। बाहर से देखने से उसका कहीं कोई चिह्न नहीं दिखायी देता। सब कुछ निष्कपट और निःस्वार्थ दीखता है। लेकिन अंदर, ठीक तली में, बहुत बड़ी महत्त्वाकांक्षा होती है। विशिष्ट पद पाने की, सबके द्वारा सम्मानित होने की इच्छा रहती है . . .। यह है अहंकार। यही वह नासूर है, यह बहुत शांत रहता है, पर रहता जरूर है। जब शक्ति आती है तो यह अनुभव करने की जगह कि हम कुछ नहीं हैं, हम किसी चीज के अधिकारी नहीं और इतना ही करने की जगह कि बस जहां तक हो सके निष्क्रिय बने रहें, हम अपने-आपको धोखा देने लगते हैं और यह आवश्यक मानते हैं कि दूसरे भी उसे लक्ष्य करें ! मैं इसी को नासूर कहती हूं। यह अंदर का सब कुछ खा डालता है, सिर्फ बाहरी दिखावा ठीक बना रहता है।

आप कहती हैं कि "हमारी सत्ता में समरूपता" स्थापित करना जरूरी है ?

(वही)

क्या तुम नहीं जानते कि समरूप चीज क्या होती है ? वह एक-से भागों से बनी होती है। इसका मतलब यह है कि सारी सत्ता को एक ही प्रभाव के अधीन, एक ही चेतना, एक ही प्रवृत्ति, एक ही संकल्प के अधीन होना चाहिये। हम सब प्रकार के अलग-अलग भागों से बने हैं। वे एक के बाद एक सक्रिय होने लगते हैं। जो भाग सक्रिय होता है उसके अनुसार आदमी अलग-अलग रूप में दीखता है, एक और ही व्यक्तित्व बन जाता है। उदाहरण के लिये, किसी में पहले अभीप्सा थी, यह लगता था कि सब कुछ भगवान् के लिये ही है; फिर, कुछ होता है, कोई आता है, कुछ-न-कुछ करना होता है और सब कुछ गायब हो जाता है। तुम उस अनुभव को वापिस लाने की कोशिश करते हो लेकिन उसकी याद तक नहीं रहती। तुम पूरी तरह किसी और प्रभाव के आधीन होते और आश्चर्य करते हो कि यह कैसे हो गया। दोहरे, तिहरे, चौहरे व्यक्तित्वों के उदाहरण हैं जो अपने बारे में एकदम अचेतन हैं . . .। लेकिन मैं उनकी बात नहीं कर रही। मैं ऐसी चीज की बात कर रही हूं जो तुम सबके साथ हो चुकी है, तुम्हें अनुभव हो चुका है और कुछ समय के लिये तुमने अनुभव किया कि वह अनुभूति ही एकमात्र मूल्यवान् वस्तु थी—उसीका निरपेक्ष मूल्य है—आधे घंटे के बाद तुम उसे वापिस

लाने की कोशिश करते हो, वह धुंए की तरह गायब हो जाती है। अनुभूति गायब हो गयी। और अभी आधा घंटा पहले ही वह इतनी प्रबल थी . . .। इसका कारण यह है कि आदमी बहुत तरह की अलग-अलग चीजों से बना है। शरीर एक ऐसे बोरे की न्याईं है जिसमें कंकर और मोती मिले हुए हैं और बोरा ही उन सबको इकट्ठा रखता है। यह समरूप, एक-सी चेतना नहीं है, यह पंचमेल चेतना है।

तुम अपने जीवन के भिन्न-भिन्न क्षणों में भिन्न-भिन्न व्यक्ति हो सकते हो। मैं ऐसे लोगों को जानती थी जो निश्चय कर सकते थे, जिनमें संकल्प-बल था, जो जानते थे कि वे क्या चाहते थे और उसे करने के लिये तैयार थे। फिर उनकी सत्ता में जरा-सा उलट-फेर हुआ, कोई और भाग ऊपर आ गया और सारा काम दस मिनट में खराब हो गया। उन्होंने दो महीने में जो प्राप्त किया था वह सब नष्ट हो गया। ऐसी स्थिति में जब पहला भाग वापिस आता है तो वह व्याकुल होकर कहता है : "क्या ! . . ." तब फिर से सारा काम शुरू करना पड़ता है, धीरे-धीरे। अतः यह स्पष्ट है कि अपने चैत्य पुरुष के बारे में सचेतन होना बहुत जरूरी है। तुम्हारे पास एक प्रकार का मार्ग-निर्देशक या दर्पण होना चाहिये जिसमें सब चीजें प्रतिबिंबित हों और अपने-आपको उसी रूप में दिखायें जैसी वे सचमुच हैं। और तब वे जो कुछ हैं उसके अनुसार तुम उन्हें एक या दूसरे स्थान पर रखते हो। तुम उनकी व्याख्या शुरू करते हो और संगठित करते हो। इसमें समय लगता है। वही भाग तीन-चार बार ऊपर आता है और जो भी भाग ऊपर आता है वही कहता है : "मुझे पहले स्थान पर रखो, जो कुछ दूसरे करते हैं उसका महत्त्व नहीं है, बिलकुल महत्त्व नहीं है, अब मैं ही निश्चय करूंगा, मैं ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हूं।" मुझे विश्वास है कि यदि तुम अपनी ओर देखो तो तुम देखोगे कि तुममें से एक भी ऐसा नहीं है जिसे यह अनुभव न हुआ हो। तुम सचेतन होना चाहते हो, सद्भावनावाले बनना चाहते हो, तुम समझ गये हो, तुम्हारी अभीप्सा चमक रही है—सब कुछ चमकदार, आलोकमय है, पर अचानक कुछ होता है, कोई बेकार-सी बातचीत, कोई अशुभ वाचन, और उससे सारी चीज अस्त-व्यस्त हो जाती है। तब तुम सोचते हो कि तुम भ्रांति में रह रहे थे, कि सभी चीजें एक विशेष कोण से देखी गयी थीं।

यही जीवन है। आदमी पहले ही अवसर पर ठोकर खाता और गिर पड़ता है। आदमी अपने-आपसे कहता है : "ओफ ! मैं हमेशा इतना गंभीर नहीं रह सकता," और जब वह दूसरा भाग लौटता है तो बुरी तरह पछताते हुए कहता है : "मैं मूर्ख हूं, मैंने अपना समय नष्ट किया। अब मुझे फिर से शुरू करना होगा . . .।" कभी-कभी एक भाग बदमिज़ाज होता है, विद्रोह करता है, चिंता से भरा रहता है और दूसरा भाग प्रगतिशील और समर्पण से भरपूर होता है। और यह सब एक के बाद एक . . .।

बस, एक ही उपाय है। वह मार्ग-निदेशक हमेशा रहना चाहिये। तुम्हारी भावनाओं, तुम्हारे आवेगों और संवेदनों में हमेशा दर्पण ठीक स्थान पर लगा रहना चाहिये। तुम उन्हें दर्पण में देखते हो। उनमें से कुछ बहुत सुंदर या देखने में मोहक नहीं होते, जब कि दूसरे सुंदर और मोहक होते हैं और उन्हें रखना चाहिये। जरूरत पड़े तो तुम इसे दिन में सौ बार करते हो, और वह बहुत मजेदार होता है। तुम अपने चैत्य दर्पण के चारों ओर एक घेरा खींच देते हो और अपने सभी तत्त्वों को उसके इर्द-गिर्द बिठा देते हो। अगर कोई चीज ठीक नहीं है तो वह दर्पण पर एक धुंधली-सी छाया डालती है। इस तत्त्व को हटाना होगा, व्यवस्थित करना होगा। उससे बातचीत करनी होगी, उसे समझाना होगा। तुम्हें उस अंधेरे में से बाहर आना होगा। अगर तुम ऐसा करो तो कभी न उकताओगे। जब लोग भद्र न हों, जब तुम्हारे सिर में सर्दी हो, जब तुम्हें अपना पाठ याद न हो आदि-आदि, तो तुम इस दर्पण में देखना शुरू करते हो। यह बहुत मजेदार है, वहां तुम नासूर देखते हो। "मैंने सोचा था कि मैं निष्कपट हूं"—बिलकुल नहीं।

जीवन में ऐसी कोई चीज नहीं होती जो मजेदार न हो। दर्पण बहुत, बहुत अच्छी तरह बना है। तुम

यह दो, तीन, चार वर्षतक करो, कभी-कभी यह बीस वर्ष तक करना पड़ता है। तब कुछ वर्षों के बाद पीछे देखो, तुम तीन वर्ष पहले जो थे उसकी ओर नजर घुमाओ : "ओह! मैं कैसा बदल गया हूं! . . . क्या मैं ऐसा था? . . ." यह बहुत मनोरंजक है। "मैं ऐसे बोल सकता था? क्या मैं ऐसे बातचीत कर सकता था, ऐसे सोच सकता था? . . . लेकिन सचमुच मैं मूर्ख था। मैं कैसा बदल गया हूं!" यह बहुत मजेदार है न, नहीं है क्या?

—श्रीमातृवाणी खण्ड ५ से

आदतें और उनसे छुटकारा पाना

माताजी, हम जानते हैं कि कुछ लोग ऐसे हैं जिन्हें हर वर्ष एक ही बीमारी सताया करती है। अगर हम इस बीमारी को देखें, तो पता चलता है कि वह वर्ष के किसी खास समय पर ही आया करती है, और यही क्रम अगले वर्ष भी चलता है; और इसी तरह चलता रहता है। लेकिन समय बंधा रहता है। इसका कारण क्या है और इससे कैसे छुटकारा पाया जा सकता है?

क्या . . .?

कारण . . .

कई कारण हो सकते हैं। यह इस पर निर्भर है कि तुम किससे पूछते हो। तुम किसी ज्योतिषी से पूछो तो वह कहेगा : "यह ग्रहों के कारण है; जब ग्रह उसी स्थिति में आते हैं तो वही हालत फिर से पैदा होती है।" हां, तो यह बात इतनी गलत भी नहीं है। ऐसा भी हो सकता है। यह व्यक्ति की किसी खास तरह की जलवायु के प्रति प्रतिक्रिया, या सूर्य की स्थिति या फिर केवल बुरी आदत के कारण भी हो सकता है। बस। (हंसी)

और अगर तुम . . .। अगर संयोगवश एक चीज तुम्हें दो बार हो गयी तो तुम रूप दे लेते हो . . . एक अच्छी रचना बन जाती है जो अवचेतना में यूं (मुद्रा) रहती है, अगर तुम उसका अवलोकन न करो, तो वह अपने-आपको प्रकट नहीं करती! और फिर जब समय नजदीक आता है, तो वह बड़े धीमे-से, नीचे से ऊपर उभर आती है और तुमसे कहती है : "सावधान, समय आ रहा है, समय आ रहा है, समय आ रहा है!" तो स्वभावतः वह भी आ जाती है। साधारणतः ये चीजें इसी तरह आती हैं।

लेकिन भौतिक में होनेवाली सभी चीजें ऐसे ही होती हैं। पहली बार वह केवल परिस्थितियों का सहयोग हो सकता है; फिर, मन हस्तक्षेप करता है और एक रचना बना लेता है। अगर तुम उस रचना को स्वीकार कर लो तो निश्चय ही, वह घड़ी की तरह यथार्थता के साथ काम करेगी। अगर तुम यह भी कह दो : "वाहियात बात है, यह केवल एक विचार है!" और इस तरह करो (संकेत), तो भी विचार जाने की जगह अंदर घुस जाता है, अवचेतना में, अवचेतन मन में चला जाता है और वहां चुपचाप रहता है। और फिर, जब अपने-आपको प्रकट करने का समय आता है तो वह अंदर से यूं, एक प्रकार का . . . मानों, वह स्मृति में गुदगुदी-सी कर रहा है, उससे ज्यादा कुछ नहीं, बस इतना ही। अगर वह

स्मृति को जरा, इस तरह घिस देता है तो अचानक एक दिन तुम याद करते हो : ''आह, पिछले वर्ष इन दिनों मैं बीमार था।'' और धब्ब ! वह चीज घुस पड़ी। वह सक्रिय चेतना के क्षेत्र में घुस पड़ी और कुछ दिनों में घटना घट जाती है।

जब तुम्हें इस प्रकार का अनुभव हो चुका हो या किसी प्रकार का आभास या कोई बीमारी (सबसे बढ़कर बीमारी के मामले में या किसी दुर्घटना के बारे में) शरीर बहुत लम्बे समय तक याद रखता है। अगर तुम पूरी तरह रोगमुक्त होना चाहते हो, तो तुम्हें शरीर से इस स्मृति को भी हटाना होगा, यह एकदम अनिवार्य है। और तुम चाहे इस बात को जानो या न जानो, तुम शरीर को इस स्मृति से मुक्त करने के लिये काम करते हो। जब याद मिट जाये, तभी शरीर **सचमुच** रोगमुक्त होता है।

दुर्भाग्यवश, तुम इस याद को मिटाने की जगह, उसे पीछे धकेल देते हो। बहुधा तुम उसे नीचे, अवचेतना में धकेल देते हो, और कभी-कभी और भी ज्यादा गहरी निश्चेतना में। हां तो, उसे पूरी तरह मिटाया न जाये, सिर्फ पीछे धकेल दिया जाये, तो वह बहुत धीमे-से, बहुत ही धीमे-से, जरा भी दिखाये बिना ऊपरी सतह पर आ जाती है; तुम बरसों पहले जिस चीज से मुक्त हो चुके थे, वह अगर यूं ही तुम्हारे मन में से गुजर जाये, एक छोटे-से तीर की तरह, उसी तेजी से उड़ते हुए तीर की तरह यह बात आ जाये : ''इसी समय मुझे वह हुआ था,'' तो विश्वास रखो जल्दी या देर में—कुछ सेकंड, कुछ मिनट, कुछ घंटे या कुछ दिनों बाद वह चीज लौट आयेगी। तुम . . . वह बहुत अधिक हल्के रूप में आ सकती है, उसी तरह वापिस आ सकती है या फिर पहले से ज्यादा प्रबल रूप में आ सकती है। यह तुम्हारी आंतरिक अवस्था पर निर्भर है। अगर तुम निराशाभरी अवस्था में हो, तो वह ज्यादा उग्र रूप में आयेगी। अगर तुम आशाभरी स्थिति में हो, तो वह ज्यादा हल्के रूप में आयेगी। लेकिन वह वापिस आयेगी जरूर, और अगर इस बार तुम ज्यादा ध्यान दो तो तुम्हें शरीर की स्मृति में से इसे मिटाने के लिये फिर से युद्ध शुरू करना पड़ेगा। अगर तुम उसे नष्ट कर सको, तो तुम रोगमुक्त हो जाओगे, लेकिन अगर तुम उसे नष्ट न करो, तो वह फिर से आयेगी। वह कम या अधिक समय ले सकती है, वह कम या अधिक पूर्ण रूप से आ सकती है, पर आयेगी अवश्य। वह एक निमिष में आ सकती है। जब वह लौटे, उस समय अगर तुम पूर्णतः जाग्रत् हो, अगर तुम्हारे अंदर काफी ज्ञान और स्पष्ट दृष्टि हो, और तुम अपने-आपसे कह सको : ''यह लो, वह कमबख्त याद फिर से अपनी चालाकियां करने के लिये लौट आयी,'' फिर तुम उस पर जोर का प्रहार करो और उसकी वास्तविकता को सचमुच नष्ट कर दो। अगर तुम यह करना जानो तो उस चीज से तुरंत पिंड छुड़ाने का यह एक अच्छा अवसर है। लेकिन यह करना बहुत आसान नहीं है।

(पवित्र) : इसे कैसे किया जाये ?

इसे कैसे किया जाये ? (माताजी हंसती हैं) इसे कैसे किया जाये ? यह वही चीज है, वही प्रक्रिया है जैसे यह जानना कि किसी रचना को कैसे नष्ट किया जाये, समझे ?

यह एक प्रकार का बल है जो चीजों को लुप्त कर देता है, जो रचनाओं को नष्ट कर देता है। यह रचना की प्रकृति पर निर्भर है। अगर वह ऐसी है, विरोधी प्रकार की रचना है तो तुम्हें पूर्णतः शुद्ध रचनात्मक प्रकाश की शक्ति की जरूरत होती है। अगर यह तुम्हारे हाथ में है, तो बस, तुम्हें इतना ही करना होगा कि उस चीज पर इससे गोलाबारी करो, और तुम उसे लुप्त कर सकोगे। लेकिन यह एक ऐसी क्रिया है जो आंतरिक शक्तियों के द्वारा की जानी चाहिये; तुम उसे भौतिक रूप में नहीं कर सकते।

इसीलिये सभी भौतिक उपचार प्रश्नात्मक होते हैं; वे रोगमुक्त नहीं कर सकते, क्योंकि वे इतने सशक्त नहीं होते कि चीज के सजीव केन्द्रों को छू सकें।

(मौन)

यही बात नैतिक कठिनाइयों के साथ भी होती है। अगर तुम उनकी स्मृति को नष्ट करने में सफल हो सको, अपने अंदर से उस स्थिति की याद को नष्ट कर सको जो कठिनाई के समय थी, अगर तुम सच्चे और निष्कपट हो तो तुम्हारी कठिनाइयों का सदा के लिये अंत हो जायेगा।

—श्रीमातृवाणी, खण्ड ६ से

प्रकृति की पकड़

"अधिकतर मनुष्य, पशुओं की भांति, प्रकृति की शक्तियों के द्वारा चालित होते हैं; जो भी कामनाएं आती हैं वे उन्हें पूरा करते हैं, जो भी संवेदनाएं उठती हैं वे उन्हें खेलने देते हैं, जो भी भौतिक इच्छाएं उनमें होती हैं वे उन्हें संतुष्ट करने की कोशिश करते हैं। तब हम कहते हैं कि मनुष्यों के क्रिया-कलाप तथा अनुभव उनकी प्रकृति के द्वारा नियंत्रित होते हैं, और अधिकतर प्राणिक तथा भौतिक प्रकृति द्वारा। शरीर प्रकृति का यंत्र है—वह अपनी प्रकृति की आज्ञा मानता है या वह कामना, आवेग इत्यादि प्राणिक शक्तियों की आज्ञा मानता है।

"लेकिन मनुष्यों में भी मन है, जैसे-जैसे वह विकसित होता है, वह अपनी बुद्धि और संकल्प-शक्ति के द्वारा अपनी प्राणिक और भौतिक प्रकृति को नियंत्रण में करना सीखता है। यह नियंत्रण बहुत आंशिक होता है : क्योंकि बहुधा बुद्धि प्राणिक कामनाओं तथा शारीरिक अज्ञान के द्वारा विभ्रांत हो जाती है और वह उनके पक्ष में होकर अपने विचारों, तर्कों या युक्तियों के द्वारा उनकी भूलों तथा गलत क्रियाओं का समर्थन करने की चेष्टा करती है। चाहे बुद्धि स्वतंत्र हो तथा प्राण या शरीर से यह कहती हो, "इसे मत करो", फिर भी प्राण और शरीर उसके मना करने पर भी बहुधा स्वयं अपनी ही गतिविधि का अनुसरण करते हैं—मनुष्यों की मानसिक संकल्पशक्ति उन्हें बाध्य करने के लिये पर्याप्त शक्तिशाली नहीं होती।

"जब लोग साधना करते हैं तो उनमें एक उच्चतर प्रकृति कार्य करती है, यह चैत्य तथा आध्यात्मिक प्रकृति होती है और उन्हें अपनी प्रकृति चैत्य सत्ता तथा उच्चतर आध्यात्मिक आत्मा या भगवान् के प्रभाव के अधीन रखनी होती है। केवल प्राण और शरीर ही नहीं, बल्कि मन को भी भागवत सत्य जानना होता तथा दिव्य विधान का पालन करना होता है। लेकिन निम्न प्रकृति तथा अपने ऊपर उनके सतत शासन के कारण आरंभ में और बहुत समय तक वे अपनी प्रकृति को पुराने तरीकों का अनुसरण करने से रोकने में असमर्थ होते हैं—तब भी असमर्थ होते हैं जब अंदर से वे यह जान जाते हैं या उन्हें बता दिया जाता है कि क्या करना चाहिये या क्या नहीं करना चाहिये। केवल सतत साधना के द्वारा, उच्चतर आध्यात्मिक चेतना तथा आध्यात्मिक प्रकृति में प्रवेश करने पर ही इस कठिनाई को पार किया जा सकता है; लेकिन सबसे अधिक शक्तिशाली तथा उत्तम साधकों को भी इसे करने में लंबा समय लगता है।"

—श्रीअरविंद

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित :

पुनर्जागरण की ओर

भारतीय संस्कृति की कला, साहित्य, प्रशासन, अन्य देशों के प्रति उसकी अधीनता, उसके उत्थान और पतन के कालों, उसकी आध्यात्मिकता इत्यादि के बारे में हम अपने पिछले कई लेखों में चर्चा कर चुके हैं, अब आइये उस काल के भारत के पुनर्जागरण के बारे में भी चर्चा करते चलें—

वस्तुतः अपनी अधीनता के काल में भी भारत ऊपर से भले निष्प्राण या दुर्बल प्रतीत होता हो लेकिन सचमुच भारत के हृदय की आध्यात्मिकता की चिंगारी कभी न बुझी, कभी वह चिंगारी बनकर अंदर ही अंदर रही तो कभी उसने लौ या जाज्वल्यमान अग्नि का रूप धारण किया। इस शताब्दी के आरंभ में भारत में पुनर्जागरण का ऐसा काल आया जिसके बारे में श्रीअरविंद कहते हैं—हाल में भारत के पुनर्जागरण के बारे में कई चर्चाएं हुई हैं। विदेशी विचारकों ने इसके बारे में प्रबोधक लेख लिखे हैं, भारत में उठती हुई इन लहरों की फुहार से इधर-उधर कई लोग प्रभावित हुए और इस चीज ने उन्हें सोचने-विचारने के लिये बाधित किया। वस्तुतः भारत में नवजागरण का या नवजन्म का यह तथ्य स्वयं उसके और साथ-ही-साथ संसार के लिये भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। भारत के लिये इसलिये कि उसे अपने शाश्वत भाव और राष्ट्रीय आदर्शों को पुनः प्रकाश में लाना होगा और संसार के लिये इस कारण से कि अबतक संसार को जो आधुनिक विचार शासित कर रहे थे उनसे बहुत सारे आयामों और पक्षों में मौलिक रूप से भिन्न भारत की उठती हुई आध्यात्मिक शक्ति के भाव और पूरी तरह से अलग मानसिकता को वे समझ सकें। अब सबसे पहला प्रश्न यह उठता है कि अब जब भारत फिर से जाग रहा है तो वह जगत् को कौन-सी अपूर्व निधि भेंट करेगा ?

भारतीय संस्कृति के कई आलोचक प्रश्न करते हैं—क्या सचमुच भारत में पुनर्जागरण हो रहा है ? यह प्रश्न मुख्य रूप से इस पर निर्भर है कि पुनर्जागरण से हमारा मतलब क्या है; साथ ही यह भविष्य पर भी निर्भर करता है क्योंकि यह चीज अभी अपने शैशव में ही है और अभी से यह कहना बहुत कठिन है कि यह क्या रूप लेगी। यह शब्द हमारे मन को अतीत में यूरोपियन सभ्यता के उस सन्धिकाल में ले जाता है जब पुनर्जागरण शब्द का पहले-पहल प्रयोग किया गया था—वस्तुतः वह पुनर्जागरण का इतना नहीं बल्कि उलटाव-पलटाव का काल अधिक था। वह ईसाइयत, ट्यूटॉनिकवाद (जर्मनवाद) और सामन्तशाही रंग में रंगे यूरोप पर प्राचीन ग्रेको-लैटिन सभ्यता और संस्कृति की चढ़ाई और इसके कई जटिल और साथ-साथ महत्त्वपूर्ण परिणाम भी आये। निश्चित रूप से भारत में इस तरह का पुनर्जागरण न संभव है न वांछनीय। आयरलैण्ड में जो हाल में केल्टिक आन्दोलन चला था, यह पुनर्जागरण कुछ-कुछ उससे साम्य रखता है; अर्थात् राष्ट्रीय भावना की पुनर्जाग्रति, आत्माभिव्यक्ति के लिये एक नयी प्रेरणा प्राप्त करना जो राष्ट्र को महान् रूप से पुनर्गठित करने के लिये आध्यात्मिक शक्ति प्रदान करे। आयरलैण्ड में केल्टिक भावना के फिर से प्रवेश के बाद यह चीज पुनः स्थापित हो सकी, बहुत लम्बे समय तक तो आयरलैण्ड अंग्रेज-भावना से आच्छादित ही रहा, भारत में भी कुछ इसी तरह का आन्दोलन प्रकट हो रहा है और १९०५ के राजनैतिक विस्फोट के बाद तो इसने एक स्पष्ट दिशा ले ली है, लेकिन यहां भी यह उपमा या यह सादृश्य सम्पूर्ण सत्य को प्रकट नहीं करता।

इसके अतिरिक्त हमें यह भी देखना है कि भारत में अभी सब कुछ बहुत बड़ी अव्यवस्था में है जिसमें परस्पर संघर्षरत प्रभाव दृष्टिगोचर हो रहे हैं, बस इधर-उधर कहीं-कहीं कुछ उज्ज्वल साकार बिन्दु चमक रहे हैं और जहां-जहां ये स्फुलिंग प्रकाशमान हैं वहां-वहां एक नयी आत्म-सचेतनता ऊपरी सतह

पर आ गयी है। लेकिन अभी यह नहीं कहा जा सकता कि इन आकारों में इतनी पर्याप्त शक्ति है कि ये जनसाधारण पर हावी हो सकें; जनसाधारण के लिये अभी ये पहुंच के बाहर की चीज प्रतीत होते हैं; ये हरावल की आवाजें हैं, अग्रणियों की मशालें हैं। लेकिन सब मिलाकर हम सारे देश में एक विशाल शक्ति को देख रहे हैं जो एक नये जगत् में जाग उठी है, एक नये लेकिन पराये जगत् में; और जब वह अपनी तरफ दृष्टि घुमाती है तो क्या देखती है कि उसके अंग-प्रत्यंग बन्धनों में जकड़े हैं, वे हैं स्थूल या सूक्ष्म वे बन्धन जिन्हें उसने अतीत में स्वयं अपने ऊपर ताने-बाने के रूप में बुन लिया था और कई बन्धन हाल में ही बाहर से उस पर लादे गये हैं। यह महान् शक्ति अब उन जंजीरों से छूटने में संघर्षरत है, अब वह अपनी जागृति की घोषणा कर रही है, वह अपनी भावना का जादू देश-देशान्तर में फैला रही है और सम्पूर्ण जगत् पर उसकी मुहर लग गयी है। आज हम चारों तरफ से जंजीरों की कड़ियों के टूटने की मद्धिम आवाज सुनते हैं और यत्र-तत्र आवरणों के चिर जाने या फाड़े जाने की किर्र भी सुनायी देती है; लेकिन फिर भी क्रिया की स्वतंत्रता को अभी तक प्राप्त नहीं किया गया है, आंखें अभी तक धुंधलायी-धुंधलायी सी हैं। अंतरात्मा की कली अभी तक कुछ चटक ही पायी है। महाकाली अभी आविर्भूत नहीं हुई हैं।

—वंदना

सांध्य-वार्ताएं :

१५ अगस्त का उत्सव

१५ अगस्त १९२४

इस दिन का वर्णन कौन कर सकता है? कल्पना, कविता और भारी-भरकम अलंकार इसकी शोभा नहीं बढ़ा सकते। इतना ही कहना काफी है कि यह "पन्द्रहवीं अगस्त" थी। और कोई दिन आध्यात्मिक क्रिया की गहराई, तीव्रता में इस तक नहीं पहुंच सकता।

सभी शिष्यों में समर्पण के आनन्द की बाढ़ आयी हुई है, सब लोग सब कुछ त्याग चुके हैं। आह! सब कुछ हल्का लग रहा है, कोई है जो हमारे सब भार अपने ऊपर लेकर हमें मुक्त कर देता है, इनमें परम प्रेम की शक्ति है, इनपर पूरी तरह विश्वास किया जा सकता है। बस सब कुछ दे दो फिर न कोई चिंता रहेगी न कोई परेशानी। बस करने लायक चीज एक ही है—प्रेममय समर्पण।

हर चेहरा आनंद से दमक रहा है, हर एक में सुख और आनंद समा नहीं रहे हैं लेकिन इस आनंद के लिये कोई बाहरी कारण नहीं है। तो यह असीम आनंद आ कहां से रहा है? कहते हैं पिछले दो-तीन वर्षों से गुरु को किसी ने इतना आनंद-विभोर नहीं देखा।

सवेरे से आश्रम क्रिया-कलाप से गूंज रहा है। फूल, पत्ते, मालाएं चारों ओर की शोभा को बढ़ा रहे हैं। यूं तो हम श्रीअरविंद को रोज ही देखते हैं पर आज दर्शन का दिन है, किसी ऐसे वैसे मनुष्य का नहीं परम दिव्यता के दर्शन का दिन है।

वह रहे श्रीअरविंद। उनके बैठने के ढंग में ही दिव्य आत्म-विश्वास झलक रहा है। जिन्होंने इसका रस पाया है वही इसे समझ सकते हैं। जो इस प्रेम-सागर में एक बार गोता लगा चुके हैं वे इसमें से निकलना नहीं चाहते। साधारणतः श्रीअरविंद ज्ञान की मूर्ति दिखायी देते हैं पर आज वे प्रेममय हैं, महान् कवि और परम प्रेमी हैं।

मन पूछता है इन्हें क्या अर्पण करूं ? इनसे क्या मांगूं, हृदय पूछता है। मन अपने सर्वस्व की भेंट की नगण्यता को जानता है और इसलिये मौन है, हृदय अपने भिखारीपन के कारण लज्जित है।

यह सब दर्शन से पहले की बात है, उनके सामने जाते ही समस्त उत्सुकता, सारा गर्व, सभी विचार, सारे प्रश्न, सभी निर्णय दिव्य बाढ़ में बह जाते हैं। हृदय पिघलकर अपने-आपको उनके चरणों में उंडेल देता है। अब यहां वाणी मौन है। हर एक समता बनाये रखने की कोशिश में है, प्रेम का ज्वार सभी को बहाये लिये जा रहा है।

चार बज गये। सब लोग बरामदे में आकर अपने-अपने स्थान पर बैठ गये। वातावरण आशा और मौन से भरा है, हर मन मौन भाषा में दोहरा रहा है, "कब आयेंगे ?" सवा चार हो गये। धीरे से एक द्वार खुलता है। श्रीअरविंद आ रहे हैं, उनके पीछे लाल पाड़ की साड़ी पहने माताजी हैं। श्रीअरविंद अपनी विशेष जापानी कुरसी पर बैठते हैं और उनके दाएं माताजी एक छोटे-से स्टूल पर। पांच मिनट तक एकदम नीरवता रहती है।

श्रीअरविंद एक-एक पर मौन दृष्टि डाल रहे हैं। उन्होंने पूछा, आज तुम लोग क्या चाहते हो ? वाणी या मौन ? श्रीअरविंद शायद तीस-पैंतीस मिनट बोले होंगे और दस-पन्द्रह मिनट मौन।

उन्होंने कहा, यह कुछ रिवाज-सा हो गया है कि आज के दिन मैं कुछ बोलूं, मैं नीरव चेतना द्वारा कुछ कहना अधिक पसंद करूंगा क्योंकि जहां वाणी मन को संबोधित करती है वहीं मौन चेतना गहराई तक जा पहुंचती है। हम सब मिलकर सामान्यतः प्रचलित योगों से भिन्न योग का अभ्यास कर रहे हैं। प्राचीन पद्धति के अनुसार हमें बुद्धि, भाव, इच्छा में से किसी को चुनना चाहिये, पुरुष और प्रकृति के बीच भेद करना चाहिये। इस तरह हम अपने मन, भावमय सत्ता, इच्छा या व्यष्टिगत पुरुष के परे ज्ञान की अनंतता, सर्व प्रेममय, सर्वसुन्दर परम पुरुष या अनंत निराकार निर्वैयक्तिक इच्छा तक जा पहुंचेंगे।

हमारे योग का लक्ष्य ज्ञान, इच्छा या आनंद की अनंतता की तलाश नहीं है। वह परम सत्य की उपलब्धि चाहता है, एक अनंत ज्ञान चाहता है जो मानव ज्ञान की सीमित अनंतता के परे है, एक अनंत शक्ति की खोज में है जो हमारी व्यक्तिगत इच्छा का स्रोत है और एक ऐसे आनंद की टोह में है जिसे भावों की उपरितलीय गतियां पकड़ नहीं सकतीं।

हम जिस परम सत्ता तक पहुंचना चाहते हैं वह कोई निर्वैयक्तिक अनंतता नहीं है, वह है दिव्य व्यक्तित्व और उसे पाने के लिये हमें अपने सच्चे व्यक्तित्व को जानना और पाना चाहिये। तुम्हें अपनी आंतरिक सत्ता को पहचानना चाहिये। यह व्यक्तित्व आंतरिक मन, आंतरिक प्राण या आंतरिक भौतिक सत्ता या उसकी चेतना नहीं, जैसा कि बहुत-से मान बैठते हैं, वह तुम्हारी सच्ची सत्ता है जिसका उच्चतम के साथ सीधा संबंध है। मनुष्य धीरे-धीरे प्रकृति में विकसित होता है और हर एक को अपने दिव्य व्यक्तित्व को जानना चाहिये और वह है अतिमानस। हर एक सारतत्त्व में भगवान् के साथ एक है परंतु अपने स्वभाव और प्रकृति में परम पुरुष की आंशिक अभिव्यक्ति है।

चूंकि हमारे योग का यह उद्देश्य है अतः हम जीवन को ही बदलना चाहते हैं। पुराने योग जीवन को रूपान्तरित करने में असफल रहे क्योंकि वे मन के परे नहीं गये। वे मानसिक अनुभूतियों को ले बैठते थे और जब उन्हें जीवन पर लागू करना चाहते थे तो बंधे हुए सूत्र या नियम में बदल देते थे। उदाहरण के लिये अनंत की मानसिक अनुभूति या वैश्व प्रेम के सिद्धांत को लागू करना।

अतः हमें अपनी चेतना के सभी स्तरों पर सचेतन होना चाहिये और उच्चतर प्रकाश, शक्ति और आनंद को नीचे उतार लाना चाहिये ताकि वे जीवन के एकदम बाहरी ब्यौरों पर भी शासन कर सकें। हमें अपने-आपको अलग-थलग करके प्रकृति में होनेवाली सभी चीजों पर नजर डालनी चाहिये, कोई छोटी-से-छोटी, एकदम बाहरी चीज भी हमारी दृष्टि से बच न पाये। यह प्रक्रिया मानसिक और प्राणिक

स्तरों पर अपेक्षाकृत सरल है लेकिन चैत्य-प्राण और भौतिक स्तरों पर अज्ञान की शक्तियों का राज्य होता है और वे अपनी बातों को शाश्वत विधान मानकर उनपर डटी रहती हैं। वे उच्चतर प्रकाश के पथ में बाधा देती और उनके आगे अपना झंडा बुलंद करती हैं। वहीं पर अंधकार की शक्तियां बार-बार सत्ता को ढक लेती हैं और जब भौतिक प्राण का उद्घाटन होता है, अज्ञान के तत्त्व भौतिक सता के निचले स्तरों से ऊपर उठ आते हैं। उनके साथ निबटना बड़े धीरज का काम है। भौतिक प्राण और भौतिक सत्ताएं उच्चतर विधान को स्वीकार नहीं करतीं और अपनी बात पर डटी रहती हैं। वे बुद्धि का उपयोग करके अपनी बातों का औचित्य सिद्ध करती हैं और इस तरह भिन्न-भिन्न छद्मवेशों में आकर साधक को ठगती हैं।

साधारणतः प्राणिक सत्ता बहुत अधीर होती है और भौतिक प्राण और भौतिक स्तरों पर झटपट चीजें कर डालना चाहती है लेकिन इसकी बड़ी उग्र प्रतिक्रियाएं होती हैं। मानसिक और प्राणिक सत्ताओं को उच्चतर शक्तियों को पकड़ने की जगह अपने-आपको उनके आगे अर्पित कर देना चाहिये। हमें उच्चतर शक्ति को भौतिक स्तर तक उतारना चाहिये और उसके द्वारा जीवन की अत्यंत ब्यौरेवाली चीजों पर शासन करना चाहिये। मन उनपर शासन नहीं कर सकता। हमें उच्चतर प्रकाश, शक्ति और आनंद को नीचे लाना चाहिये ताकि वे हमारी वर्तमान प्रकृति का रूपांतर करें। इसके लिये सत्ता के हर अंग में शुद्ध, अमिश्रित सच्चाई होनी चाहिये जो स्पष्ट रूप से देख सके कि सत्ता के हर भाग में क्या हो रहा है और कौन सत्य, और केवल सत्य की मांग करता है।

प्रकाश के नीचे आकर जीवन के ब्यौरों की छोटी-से-छोटी चीज पर शासन करने की दूसरी शर्त यह है कि व्यक्ति अतिमानस में स्थित अपने दिव्य व्यक्तित्व के बारे में सचेतन हो।

कई बार साधकों में अनुभूतियों से ही संतुष्ट हो जाने की वृत्ति होती है। तुम्हें केवल अनुभूतियों से संतुष्ट न हो जाना चाहिये। दूसरी बात यह कि यहां हम सब एक ही उद्देश्य को पाने के लिये इकट्ठे हुए हैं अतः हमारे अंदर एक तरह की एकता-सी पैदा हो गयी है जिससे हम एक दूसरे की सहायता कर सकते हैं या एक दूसरे के लिये बाधक हो सकते हैं।

सत्ता के रूपांतर की शर्तें हैं अपने-आपको उच्चतर प्रकाश की ओर खोलना और संपूर्ण भाव से समर्पण करना। इससे रूपांतर आता है, अतः यदि संपूर्ण भाव से समर्पण हो, प्रकाश की ओर उद्घाटन हो और सभी स्तरों पर धीरे-धीरे चेतना का विकास हो तो तुम इस योग के आदर्श साधक बन सकते हो।

—पुराणीकृत श्रीअरविंद की 'सांध्य-वार्ताओं' से

———————

ध्यान से प्राप्त अचंचल मन सचमुच बहुत कम समय के लिये रहता है, क्योंकि जैसे ही तुम ध्यान से बाहर निकल आते हो वैसे ही मन की अचंचलता से से भी बाहर आ जाते हो। प्राण, भौतिक तथा साथ-साथ मन में सच्ची स्थायी अचंचलता भगवान् के प्रति पूर्ण उत्सर्ग से आती है; क्योंकि जब तुम किसी भी चीज को, यहांतक कि स्वयं अपने-आपको भी अपना न कह सको, जब सब कुछ, तुम्हारा शरीर, तुम्हारी संवेदनाएं, भाव तथा विचार भगवान् के हो जाते हैं तब भगवान् सभी चीजों का पूरा-पूरा उत्तरदायित्व ले लेते हैं और फिर तुम्हारे लिये किसी बात की कोई चिंता नहीं रहती।

—माताजी

'कुछ माताजी के बारे में' :

रोग और उपचार

क्या समस्त व्याधियों का मूल कारण मन की किसी अव्यवस्था में खोजा जा सकता है ? यदि हां, तो घमौरी और गला बैठना जैसे रोग मन की किसी प्रकार की अव्यवस्था के कारण पैदा होते हैं ?

जितनी संख्या बीमार पड़नेवालों की होती है रोग के उतने ही कारण हो सकते हैं, अतएव प्रत्येक रोग के कारण का हिसाब भिन्न-भिन्न होगा। यदि तुम मुझसे पूछो : "मुझे अमुक रोग क्यों हुआ ?" तो मैं देखकर कारण बता सकती हूं, किन्तु इस विषय में कोई सर्वसाधारण नियम नहीं है।

शारीरिक व्याधियां सदा मन की अव्यवस्था, असामंजस्य या कुप्रवृत्तियों के कारण ही नहीं होतीं। हो सकता है कि किसी रोग का मूल कारण मन में हो, हो सकता है कि वह प्राण में हो, अथवा यह भी हो सकता है कि वह कम या अधिक मात्रा में निरा भौतिक ही हो, जैसे कि बाह्य संसर्ग के द्वारा पैदा होनेवाले रोग। योग की क्रिया के कारण भी रोग हो सकता है और इस हालत में भी अनेक कारण संभव हैं।

हम जरा योग के कारण पैदा होनेवाले रोगों के विषय में विचार करें; क्योंकि हमारा सीधा और गहरा संबंध इन्हीं से है। इस क्षेत्र में, यद्यपि किसी विशेष रोग के संबंध में कोई एक ही कारण नहीं बताया जा सकता, फिर भी जिन कारणों से व्याधियां उभरती हैं उनके अनुसार विभिन्न वर्ग बनाये जा सकते हैं।

योग-साधना करनेवाले व्यक्ति के अंदर जो शक्ति अवतरित होती है और जो उसके रूपांतर के कार्य में उसकी सहायता करती है, वह अनेक प्रकार से कार्य करती है और इस शक्ति की क्रिया के परिणाम इसे ग्रहण करनेवाले स्वभाव पर तथा उसके अंदर जो कार्य किया जानेवाला है उस पर निर्भर करते हैं। सबसे पहले, यह शक्ति साधक में जो कुछ रूपांतरित होने के लिये तैयार है उस सबके रूपांतर में एक वेग ले आती है। यदि उसका मन खुला हुआ और ग्रहणशील हो तो इस योग-शक्ति का स्पर्श पाकर वह शीघ्रतापूर्वक परिवर्तित होने और प्रगति करने लगता है। इसी प्रकार यदि उसकी प्राणमय चेतना तैयार हो तो उसका भी, यहां तक कि उसके शरीर का भी, परिवर्तन उसी वेग के साथ होने लगता है। परंतु योग की रूपांतर करनेवाली शक्ति शरीर में एक हद तक ही काम करती है, क्योंकि शरीर की ग्रहणशीलता सीमित है। विश्व की अत्यंत जड़प्राकृतिक भूमिका की अभी तक यह अवस्था है कि उसमें ग्रहणशीलता के साथ-साथ प्रतिरोध भी बहुत अधिक मात्रा में मिला हुआ है। परंतु सत्ता के एक भाग में जो तीव्र प्रगति होती है उसका यदि दूसरे भागों की तदनुरूप प्रगति द्वारा अनुसरण न हो तो प्रकृति में एक असामंजस्य पैदा हो जाता है, कहीं पर शृंखला-भंग हो जाता है। और जहां कहीं या जब कभी यह शृंखला-भंग होता है तो वह किसी-न-किसी व्याधि का रूप धारण कर सकता है। इस शृंखला-भंग के स्वभाव पर ही रोग का स्वभाव निर्भर है। एक प्रकार का असामंजस्य का असर मन पर पड़ता है और इससे जो विक्षोभ होता है उसके कारण उन्माद तक हो सकता है; दूसरा असामंजस्य ऐसा होता है जिसका असर शरीर पर पड़ता है और उसके फलस्वरूप ज्वर, घमौरी तथा दूसरे छोटे-बड़े रोग हो सकते हैं।

एक ओर तो योग-शक्तियों के कार्य द्वारा सत्ता के उन भागों में, जो अपने ऊपर कार्य करनेवाली शक्ति को ग्रहण करने और उसका प्रत्युत्तर देने के लिये तैयार हैं, रूपान्तर की गति बढ़ जाती है और

इस प्रकार, योग समय की बचत करता है। सारा जगत् उत्तरोत्तर रूपान्तर की प्रक्रिया में है; और यदि तुम योग-साधना करने का निश्चय करते हो तो अपने अंदर होती हुई इस प्रक्रिया में एक तेजी ले आते हो। जिस काम को साधारण रीति से करने में वर्षों लगेंगे वही योग के द्वारा चंद दिनों में, यहांतक कि चंद घंटों में किया जा सकता है। परंतु तुम्हारी आंतर चेतना ही इस शीघ्रगामी आवेग के अधीन होती है; कारण, तुम्हारे आधार के उच्चतर भाग ही योग की द्रुत और एकाग्र गति का तत्परता के साथ अनुसरण करते हैं और इस गति के कारण उन्हें जो सतत रूप से उसके साथ एकरस होने और अनुकूलता स्थापित करने की आवश्यकता रहती है उसे अधिक सुगमता के साथ करते रहते हैं। दूसरी ओर शरीर है जो साधारणतया स्थूल, तमोगुणी और शिथिल है। यदि तुम्हारे इस भाग में कोई चीज ऐसी है जो उपर्युक्त गति का प्रत्युत्तर नहीं देती, यदि वहां कोई प्रतिरोध होता है, तो इसका कारण यह है कि शरीर बाकी सत्ता के साथ तेजी से नहीं चल सकता। इसे समय लगता है, जिस चाल से यह साधारण जीवन में चलता है उसी चाल से यौगिक जीवन में भी चलना चाहता है। और वैसा ही होता है जैसे जवान लोग बच्चों के साथ तेजी से चल रहे हों; उन्हें समय-समय पर रुक जाना पड़ता है ताकि लड़के, जो पिछड़ गये हैं, उनसे आ मिलें। आंतरिक सत्ता की प्रगति और स्थूल शरीर की जड़ता का विरोध बहुधा शरीर में शृंखला-भंग कर देता है और रोग के रूप में प्रकट होता है। यही कारण है कि योग-साधना करनेवाले आरंभ में अक्सर किसी-न-किसी प्रकार की भौतिक बेचैनी या गड़बड़ का अनुभव करते हैं। यदि ये लोग चौकसी रखें और सावधान रहें तो ऐसा होना जरूरी नहीं है। अथवा यदि शरीर बहुत अधिक और असाधारण रूप से ग्रहणशील हो तो भी वे बच जाते हैं। परंतु इतनी निर्मल ग्रहणशीलता पाना बहुत कठिन है जो भौतिक अंगों को भी आंतरिक रूपांतर के वेग के साथ-साथ लगातार चला सके; हां, यदि शरीर को भूतकाल में यौगिक प्रक्रिया के लिये तैयार किया जा चुका हो तो और बात है।

मनुष्य के साधारण जीवन में इस शृंखला-भंग का उत्तरोत्तर बढ़ते जाना ही नियम है। मनुष्य की मनोमय सत्ता और प्राणमय सत्ता तो विश्वव्यापी शक्तियों की गतियों का भरसक अनुसरण करती है और जगत् के आंतरिक रूपांतर तथा विकास की धारा उन्हें कुछ दूर तक आगे बढ़ा देती है; किन्तु शरीर, जो जड़प्राकृतिक नियमों से बंधा हुआ होता है, बहुत ही सुस्त चाल से चलता है। कुछ वर्षों के बाद, सत्तर या अस्सी, सौ या दो सौ वर्षों बाद, —और यही शायद अधिक-से-अधिक अवधि है, —यह शृंखला-भंग इतना अधिक बढ़ जाता है कि बाह्य सत्ता टुकड़े-टुकड़े हो जाती है। मांग और उत्तर में अंतर होने के कारण तथा शरीर की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई असमर्थता और प्रत्युत्तर देने की अक्षमता के कारण मृत्यु की घटना आ उपस्थित होती है। योग-साधना करने से सृष्टि के आंतरिक रूपांतर की धीमी, पर अनवरत प्रक्रिया अधिक तीव्र और द्रुतगामी हो जाती है, किन्तु बाह्य रूपांतर की चाल साधारण जीवन जितनी ही रहती है। फलतः, यदि सावधानी न रखी जाये और ऐसा संरक्षण न प्राप्त कर लिया जाये जिसके द्वारा शरीर को यथासाध्य आंतरिक प्रगति के साथ-साथ चलने में सहायता मिले, तो योग-साधना करनेवाले की आंतरिक और बाह्य सत्ता के बीच का यह असामंजस्य और भी बढ़ जाना चाहता है। फिर भी शरीर का स्वभाव ही ऐसा है कि वह तुम्हें पीछे की ओर खींचता है। यही कारण है कि बहुतों को हमें यह कहना पड़ता है : "मत खींचो, जल्दबाजी मत करो; शरीर को अनुसरण करने के लिये तुम्हें समय देना ही पड़ेगा।" कुछ साधकों को तो वर्षों रोक रखना और अधिक साधना करने से अथवा अधिक आगे बढ़ने से मना करना आवश्यक हो जाता है। कभी-कभी इस असमतोलता से बचना असंभव हो जाता है; और तब तुममें गड़बड़ पैदा होती ही है जिसके भिन्न-भिन्न स्वरूप होते हैं; यह तुम्हारे प्रतिरोध के स्वभाव पर और तुमने जितनी सावधानी रखी है या जितनी अवहेलना की है

उसके परिमाण पर निर्भर है। यह भी एक कारण है जिससे यह होता है कि जब-जब प्रगति की ओर तीव्र गति होती है तब-तब उसके बाद प्रायः निरपवाद रूप से स्थावरता का काल आता है, और इस काल में, उन लोगों को जिन्हें सावधान नहीं कर दिया गया है ऐसा मालूम होता है मानों वह केवल जड़ता, अवरोध और निरुत्साह का काल हो, जिसमें समस्त प्रगति रुक गयी हो और वे व्याकुल होकर सोचने लगते हैं : "अरे ! यह क्या हो रहा है ? मेरा समय नष्ट तो नहीं हो रहा ? कुछ भी उन्नति नहीं हो रही है।" परंतु सच तो यह है कि वह आत्मसात् करने का काल होता है; यह विश्राम इसलिये लिया जाता है कि शरीर अपने-आपको अधिक खोल दे और अधिक ग्रहणशील बन जाये तथा आंतर चेतना जिस भूमिका में ऊपर उठ चुकी है उसके अधिक समीप पहुंच जाये। मां-बाप बहुत अधिक आगे बढ़े जा रहे थे; उन्हें रुकना पड़ेगा ताकि पिछड़ा हुआ लड़का दौड़कर उनका हाथ पकड़ सके; इसके बाद ही वे फिर से एक साथ हो यात्रा आरंभ कर सकेंगे।

शरीर का प्रत्येक स्थान किसी-न-किसी आंतरिक गति का प्रतीक होता है; यहां सूक्ष्म अनुकूलता और सादृश्य का एक जगत् ही है। परंतु यह एक लंबा और जटिल विषय है और हम अभी इसकी ब्यौरेवार चर्चा में नहीं उतर सकते। शरीर के जिस विशिष्ट स्थल पर रोग का असर हुआ है वह इस बात का सूचक है कि अंदर का असामंजस्य किस प्रकार का है। यह व्याधि के उद्गम-स्थान को दिखा देता है, रोग किस कारण से हुआ है उसका यह एक चिह्न होता है। इसके अतिरिक्त, यह इस बात को भी प्रकट कर देता है कि जो प्रतिरोध हो रहा है, जिसके कारण समग्र सत्ता समान तेज चाल से चलने में असमर्थ हो गयी हो वह किस प्रकृति की है। यह संकेत करा देता है कि औषधि और उपचार क्या है। यदि कोई ठीक-ठीक समझ जाये कि भूल कहां पर है, इस बात का पता लगा ले कि कौन-सा अंग ग्रहणशील नहीं रहा है, उस अंग को खोल दे और उसमें शक्ति और प्रकाश प्रवेश कराये तो जो कुछ बेसुरा हो गया है उसे क्षण-भर में ही फिर से सुर में ले आना संभव हो जायेगा और रोग तुरंत भाग जायेगा।

ग्रुप के एक कप्तान को पत्र

प्यारी मां,

क्या आप क्रीड़ांगण के सामूहिक ध्यान के समय हमारे साथ होती हैं ?

निश्चय ही, मैं वहां हमेशा होती हूं।

उससे लाभ पाने के लिये हमें किस चीज पर ध्यान करना चाहिये ? और किस तरह ?

तरीका हमेशा वही-का-वही है : उन सभी ऊर्जाओं को इकट्ठा करो जो सामान्यतः बाहर बिखरी रहती हैं : सतह के आंदोलन के नीचे, अंदर की चेतना पर एकाग्र होओ, जहांतक हो सके अपने हृदय तथा सिर में एक पूर्ण शांति प्रतिष्ठित करो, फिर अगर तुम्हारे अंदर कोई अभीप्सा हो तो उसे सूत्रबद्ध करो और ऊपर से भागवत प्रकाश को ग्रहण करने के लिये स्वयं को खोलो।

१ जुलाई १९६०

प्यारी मां,

मेरे लिये कुछ ऐसी बात लिखिये जिसे मैं सारे साल याद रख सकूं।

हमारा लक्ष्य है अपनी सत्ता की पूर्णता को चरितार्थ करना और मानव पशु को भागवत मनुष्य में बदल देना।

मेरे आशीर्वाद सहित।

५ जुलाई १९६०

प्यारी मां,

अगर किसी अंतरात्मा ने एक जन्म में लड़के का शरीर धारण किया हो तो क्या वह भावी जीवनों में हमेशा लड़का ही बनी रहेगी या वह लड़की के रूप में जन्म ले सकती है ?

मत और संप्रदाय के अनुसार सिद्धांत बदलते रहते हैं और प्रत्येक शिक्षा अपने दावों के समर्थन के लिये अच्छे-से-अच्छा कारण दे सकती है।

निश्चय ही इन सभी कथनों में सत्य का तत्त्व है और न केवल ये सभी मामले संभव हैं बल्कि पार्थिव इतिहास के क्रम में ये जरूर घटे होंगे और अब भी हो रहे हैं।

इस विषय पर मैं निश्चिति के साथ जो कह सकती हूं वह मेरी अपनी अनुभूति है।

मेरी अनुभूति के अनुसार अंतरात्मा भागवत है, परम प्रभु का शाश्वत अंश है अतः उसे किसी भी सीमा या नियम में—सिवाय उसके अपने—बांधा नहीं जा सकता। ये अंतरात्माएं धरती पर प्रभु का कार्य करने के लिये उनसे प्रकट होती हैं और प्रत्येक धरती पर एक विशेष प्रयोजन के लिये, कार्य-विशेष के लिये तथा लक्ष्य-विशेष के लिये आती है, प्रत्येक का अपना विधान होता है जो उसी पर लागू होता है और उसे व्यापक नियम नहीं बनाया जा सकता।

अतः संभवन की शाश्वतता में, हर कल्पनीय और अकल्पनीय संभव मामले को निश्चित रूप से घटना चाहिये।

१४ जुलाई १९६०

उदार हृदय हमेशा पुराने दुर्व्यवहारों को भूल जाता है और दुबारा सामंजस्य लाने के लिये तैयार रहता है।

आओ, हम सब उसको भूल जायें जो अतीत में अंधकारमय और कुरूप है, ताकि ज्योतिर्मय भविष्य को ग्रहण करने के लिये हम अपने-आपको तैयार कर सकें।

२ अप्रैल १९६७

मेरी प्यारी बच्ची,

मैं जानती हूं कि रातों-रात अपनी प्रकृति को बदलना असंभव है लेकिन तुरंत जो तुम समझ सकती और मान सकती हो वह यह है कि अपना आपा खोना और अशांत होना बहुत बड़ी कमजोरी का लक्षण है। और, जैसा कि मैंने तुमसे कहा है, जिस क्षण तुम इस दुर्बलता को—जो तुम्हारे योग्य नहीं है—जीतने का निश्चय कर लोगी, मेरी शक्ति तुम्हारे साथ होगी। अतः मैं तुमसे कहती हूं कि अभी से इस शक्ति का उपयोग करो जो मैं तुम्हें तुम्हारी प्रतिक्रियाओं को वश में करने के लिये दे रही हूं और

तबतक शांत रहो जबतक तुम्हारा गुस्सा उतर न जाये। यह पहला अनिवार्य कदम है। बाद में क्रमशः मैं तुम्हें यह समझने में मदद दूंगी कि तुम्हारा गुस्सा अनुचित और निराधार था।

अपने समस्त प्रेम के साथ मैं तुमसे यह कहती हूं कि इस महान् प्रगति को प्राप्त करने के लिये कृपया आवश्यक प्रयास करो, यह रूपांतर का दरवाजा खोल देगी।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

अगस्त १९६९

प्यारी मां,

हमें किस तरह की चीज पढ़नी चाहिये या न पढ़नी चाहिये इसमें चुनाव कैसे करें? क्या 'हल्की-फुल्की चीजें' उदाहरण के लिये सामान्य अखबार या पत्रिकाएं पढ़ना अच्छा है?

सामान्य अखबार, पत्रिकाएं या किताबें जैसे उपन्यास इत्यादि उन आलसी मस्तिष्कवाले लोगों के लिये हैं जो कुछ सीखने के लिये नहीं बस मौज और आराम के लिये पढ़ते हैं। ऐसे लोग जीवन को, वह जिस रूप में आये, स्वीकार कर लेते हैं और प्रगति या चीजों के बारे एक गभीरतर समझ से कोई वास्ता नहीं रखते।

कुछ लोग जगत् में जो हो रहा है उसे जानने के लिये पढ़ते हैं और यह मानव प्रगति का सूचक है, पढ़ने के साथ-साथ वे सिनेमा जा सकते हैं और रेडियो सुन सकते हैं।

जो लोग अच्छी शैली विकसित करने के लिये पढ़ते हैं उन्हें बहुत अधिक पढ़ना चाहिये और उन्हें साहित्यिक-मूल्य की पुस्तकें चुननी चाहियें।

कुछ लोग सीखने के लिये पढ़ते हैं, उन्हें जिस विषय या जिन विषयों में रुचि हो: दर्शन, विज्ञान, कला इत्यादि, उनके बारे में प्रशिक्षणात्मक पुस्तकें चुननी चाहियें और फिर बहुत कम हैं ऐसे जो जीवन को, उसके उद्देश्य तथा उसके लक्ष्य को समझना चाहते हैं। उनके पढ़ने के लिये श्रीअरविंद की पुस्तकें ही सबसे अच्छी हैं।

आशीर्वाद।

१० सितंबर १९६९

प्यारी मां,

आपकी सच्ची बालिका बनने में मेरी सहायता कीजिये।

यह अच्छा निश्चय है। तुम अपने साथ मेरी सहायता तथा मेरी चेतना की उपस्थिति के बारे में सुनिश्चित हो सकती हो कि वह तुम्हारा रास्ता आलोकित करे और जब कभी तुम उसे पुकारो वह तुम्हें रास्ता दिखाये। नीरव अभीप्सा में ही तुम इस उपस्थिति के बारे में सचेतन हो सकती और उसकी सहायता पा सकती हो।

प्रेम तथा आशीर्वाद सहित।

१० नवंबर १९६९

प्यारी मां,

आश्रम में आपने विवाह की अनुमति देना क्यों शुरू कर दिया?

मैंने उन लोगों को अनुमति दी जिन्होंने कहा कि वे कोई लैंगिक संबंध नहीं चाहते—इस आशा के साथ कि वे सच्चे हैं। यह उनके और उनके अंतःकरण के बीच का मामला है।

और जो सच्चे नहीं हैं (जैसा कि बच्चे का जन्म दर्शाता है) उन्हें ओरोविल में जाना होगा।

आशीर्वाद।

२३ दिसंबर १९६९

प्यारी मां,

हम यहां "बड़ा दिन" क्यों मनाते हैं, हमारे लिये इस दिन का विशेष अर्थ क्या है? और बड़े दिन पर यहां यूरोपियन तथा भारतीयों में भेद क्यों किया जाता है?

ईसाई धर्म द्वारा ईसा का जन्म-दिवस २५ दिसंबर मनाने से बहुत पहले यह दिवस सूर्य के वापिस आने का, प्रकाश के दिवस के रूप में मनाया जाता था। प्रकाश के पुनर्जन्म के इस बहुत अधिक प्राचीन प्रतीक को हम मनाना चाहते हैं।

जहांतक मुझे मालूम है आश्रम का हर कोई क्रिसमस का पेड़ देखने और उपहार वितरण के समय आ सकता है।

यूरोपियन तथा अमेरिकनों को विशेष टोकरी भेजने के इस रिवाज के पीछे यह तथ्य है कि उन देशों में वे लोग एक-दूसरे को पहली जनवरी को उपहार देने की बजाय सामान्यतः बड़े दिन पर दिया करते हैं।

बस इतना ही।

आशीर्वाद।

२६ दिसंबर १९६९

प्यारी मां,

नये साल के संदेश में क्या आप भौतिक रूपांतर की बात कर रही हैं जब आप कहती हैं, "जगत् एक बड़े परिवर्तन के लिये तैयारी कर रहा है?" और हम उसमें सहायता कैसे कर सकते हैं?

सत्ता का आविर्भाव मनुष्य का स्थान लेगा, उस सत्ता का, जो मनुष्य के लिये वैसी ही होगी जैसा मनुष्य अभी पशु के लिये है, उसी की तैयारी हो रही है और उस नयी चेतना की क्रिया के साथ कार्य शुरू हो चुका है जो पहली जनवरी १९६९ को उतरी थी और उन सभी में कार्य कर रही है जो तैयार हैं। इस चेतना की क्रिया तीव्रता से हो रही है और अधिकाधिक भौतिक बन रही है। अगर हम उसके कार्य के परिणाम को जल्दी लाना चाहें तो यह हमारे ऊपर निर्भर है कि हम ग्रहणशील बनें।

आशीर्वाद।

१ जनवरी १९७०

प्यारी मां,

क्या यह जानने का कोई निश्चित तरीका नहीं है कि अमुक चैत्य सत्ता ने नया शरीर लिया है या नहीं?

एक तरीका है।

तुम्हें सचेतन रूप से चैत्य जगत् में जाना और यह देखना होगा कि तुम विचाराधीन चैत्य को वहां पाते हो या नहीं। अगर तुम उसे देख लो तो बस मामला खतम। अगर तुम उसे नहीं पाओ तो तुम्हें उस पर एकाग्र होना चाहिये ताकि तुम उसके साथ संपर्क साध लो और उससे यह कहो कि तुम्हें दिखाये कि वह किस मानव शरीर में है। यह लंबा और नाजुक कार्य हो सकता है।

क्या तुम इसे करने का प्रयास करना चाहोगी?

आशीर्वाद।

२३ मार्च १९७०

प्यारी मां,

अगर आप मुझे रास्ता दिखलायें तो मैं इस परीक्षण के लिये प्रयास करने को बहुत उत्सुक हूं।

मैं तुम्हारी सहायता करने के लिये तैयार हूं।

पहला कदम है अपनी चैत्य सत्ता के साथ सचेतन रूप से ऐक्य स्थापित करना। क्या तुमने कोशिश की है? अगर की है तो मुझे यह बताओ कि तुम्हारे अंदर क्या हुआ?

आशीर्वाद।

२४ मार्च १९७०

प्यारी मां,

इन दिनों मेरा मन ऐसी अशांति में है कि मैं अपनी चैत्य सत्ता के साथ किसी प्रकार के संपर्क का अनुभव नहीं करती। मेरे ख्याल से अब मेरे अंदर कोई चैत्य सत्ता नहीं बची।

उदास मत हो मेरी प्यारी बच्ची, तुम्हारी चैत्य सत्ता अब भी है, क्योंकि अगर वह चली गयी होती तो तुम्हारा शरीर जिन्दा नहीं रह सकता।

हो सकता है कि तुम अब इसकी उपस्थिति के बारे में बहुत सचेतन न हो क्योंकि, तुम्हारा मन कुछ कोलाहलपूर्ण हो गया है, इसलिये तुम चैत्य उपस्थिति को अनुभव करने के लिये काफी शांत नहीं रही।

लेकिन इसका उपचार किया जा सकता है। और चूंकि तुमने मुझसे कहा कि तुम कोशिश करना चाहोगी अतः तुम्हें भेजने के लिये कल मैंने श्रीअरविंद का यह उद्धरण चुना :

"सतत और निष्कपट अभीप्सा तथा केवल भगवान् की ओर मुड़ने की इच्छा ही चैत्य को सामने लाने के एकमात्र उत्तम तरीके हैं।"

एक ऐसा समय निश्चित कर लो जब तुम रोज खाली और शांत रह सको, आराम से बैठ जाओ और इस अभीप्सा के साथ अपनी चैत्य सत्ता के बारे में सोचो कि तुम्हारा उसके साथ संपर्क स्थापित हो जाये। अगर तुम तुरंत सफल न हो सको तो, निराश मत होना। एक दिन तुम अवश्य सफल होओगी। मैं बस तुमसे यही मांग करती हूं कि तुमने जो समय चुना हो उसकी मुझे सूचना दे देना ताकि मैं अधिक सचेतन रूप से तुम्हारी सहायता कर सकूं।

मेरे समस्त प्रेम और आशीर्वाद सहित।

२५ मार्च १९७०

प्यारी मां,

मैं रोज दोपहर १२-४५ से एक बजे तक इसे करने की कोशिश करूंगी। अगर मैं कुछ करने में सफल हुई तो आपको लिखूंगी। मेरी सहायता कीजिये प्यारी मां।

अच्छा है, यह मेरे लिये भी सुविधाजनक समय है और तुम सुनिश्चित हो सकती हो कि मैं तुम्हारी सहायता करूंगी।

आशीर्वाद।

२६ मार्च १९७०

प्यारी मां,

मैं यह जानने के लिये उत्सुक हूं कि आप क्या करेंगी जब आपने कहा कि रोज दोपहर को मेरी एकाग्रता के समय आप मेरी सहायता करेंगी।

मैं तुम्हारे ऊपर एकाग्र होऊंगी और अगर तुम्हारी चेतना की किसी चीज ने प्रत्युत्तर दिया तो मैं उसे चैत्य जगत् में ले चलूंगी ताकि वह अपनी खोज जारी रख सके।

२७ मार्च १९७०

प्यारी मां,

क्या आपको विश्वास है कि 'क्ष' अपने अगले जन्म में आश्रम में वापिस आयेगा?

नहीं, यह बिलकुल नहीं है।

जिन सत्ताओं का एक जीवन में आपके साथ संपर्क स्थापित हो जाता है क्या वे अपने नये जीवनों में हमेशा लौटकर आपके पास ही आती हैं?

ऐसी सत्ताओं की संख्या बहुत कम है जो अपने चुने हुए स्थान पर सचेतन रूप से वापिस आती हैं।

जो वापिस आयी हैं वे अधिकतर ऐसी सत्ताएं होती हैं जिन्होंने अपना शरीर छोड़ने से पहले नये शरीर में वापिस आने की मांग की थी।

लेकिन सब कुछ संभव है।

आशीर्वाद।

२८ मार्च १९७०

प्यारी मां,

अपने पूर्वजन्मों को याद करना कैसे संभव है?

चैत्य के साथ संपर्क से तुम्हें पूर्वजन्मों की आंशिक स्मृतियां प्राप्त होती हैं—उन घटनाओं की स्मृति जिनमें चैत्य ने हिस्सा लिया था।

यह तब सहज रूप से होता है जब चैत्य के ये समान तत्त्व फिर से क्रियाशील हो उठते हैं।

जान-बूझकर किये गये किसी भी मानसिक प्रयास में भ्रामक कल्पनाओं को लाने की संभावना बनी रहती है।

आशीर्वाद।

३ अप्रैल १९७०

प्यारी मां,

जब विशेष तारीखें होती हैं तो क्या उन दिनों जगत् में विशेष शक्तियां कार्यरत होती हैं? आज, श्रीअरविंद के यहां आने की ६०वीं जयंती पर कौन-सी विशेष बात हो रही है?

शक्तियां हमेशा इस प्रतीक्षा में उपस्थित रहती हैं कि कोई उन्हें ग्रहण करे। विशेष तारीखों का उत्सव मुख्य रूप से मन्द स्मृतियों और कुंठित ग्रहणशीलताओं को जगाने के लिये मनाया जाता है। वास्तव में पांडिचेरी शहर को यह ६०वीं जयंती मनानी चाहिये थी क्योंकि श्रीअरविंद के आगमन ने इसकी नियति को बहुत अधिक बदल दिया है।

आशीर्वाद।

४ अप्रैल १९७०

बच्चे के जन्म के पहले से ही मां अपनी मनोवृत्ति तथा अपने विचारों से अपने बच्चे को शिक्षा देना आरंभ कर सकती है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

१३ जुलाई १९७०

तुम्हारी सत्ता की बहुत गहराइयों में, तुम्हारी वक्ष की गहराई में, ज्योतिर्मय तथा शांत, प्रेम तथा प्रज्ञा से भरपूर भागवत उपस्थिति हमेशा मौजूद रहती है। वह वहां इसलिये है कि तुम उसके साथ तदात्म हो जाओ, कि वह तुम्हें एक ज्योतिर्मय तथा दीप्त चेतना में रूपांतरित कर दे।

हम तुम दोनों मिलकर तुम्हारी सत्ता की सतह के समस्त बाहरी शोर को शांत करने की कोशिश करेंगे ताकि नीरव निश्चलता तथा शांति में तुम इस आंतरिक भव्यता के साथ एक हो सको।

तब वह दिवस तुम्हारे नूतन जन्म का दिवस बन जायेगा।

१ अगस्त १९७०

कभी-कभी नीरव रहना जानना अमूल्य निधि होता है।

नीरवता सच्चे ज्ञान का दरवाजा खोल देती है।

२ अगस्त १९७०

मैंने तुम्हारी सत्ता के अंदर खड़ी तुम्हारी चैत्य सत्ता को देखा है जो तुम्हारे जीवन के उत्तरदायित्वों को लेने और तुम्हें परम प्रकाश और सत्य तक ले जाने के लिये प्रस्तुत थी। उसकी गरिमा महान् है, उसका संकल्प अचूक है।

वह जीत हासिल करेगी।

३/४ अगस्त १९७०

तुम्हारी चैत्य सत्ता मूर्ति की तरह अचल लेकिन सचेत और जागरूक, तुम्हें भगवान् की ओर ले जाने के लिये तुम्हारे जीवन की निगरानी कर रही है।

५ अगस्त १९७०

प्रकाश तथा शांति में तुम्हारी चैत्य सत्ता . . . दीप्त है।

६ अगस्त १९७०

तुम्हारा हृदय ज्योतिर्मय भलाई का घर है, वह तुम्हारी सारी सत्ता पर राज करे।

२९ अक्तूबर १९७०

शब्दों की अपेक्षा—चाहे वे कितने भी शक्तिशाली क्यों न हों—नीरवता में अधिक महान् शक्ति होती है। सबसे अधिक महान् रूपांतरों को एकाग्रता की नीरवता में ही प्राप्त किया गया है।

२ नवंबर १९७०

सभी परिस्थितियों में मुस्कुराना जानना भागवत प्रज्ञा की ओर जाने का सबसे शीघ्रगामी रास्ता है।

अहंकार नाराज और बेचैन हो उठता है और यही अहंकार तुम्हारी चेतना को धुंधला बनाता और तुम्हारी प्रगति में बाधा डालता है।

अहंकार इसलिये नहीं बदलता क्योंकि उसे इस निश्चिति का अनुभव होता है कि वह हमेशा ठीक होता है।

आशीर्वाद।

२४ नवंबर १९७०

—माताजी

कर्मयोग

अपने अंदर भगवान् के साथ, अपने चारों ओर के वैश्व और ऊपर परात्पर के साथ घनिष्ठ एकता और गहरे सायुज्य में काम करना, अपने काराग्रस्त तथा पृथक्कारी मानव मन में बंद न रहना, उसके अज्ञान-भरे आदेशों और संकीर्ण संकेतों का दास न रहना—यह है कर्मयोग।

दिव्य आज्ञा, शाश्वत इच्छा, परात्पर प्रेरणा से प्रवर्तित वैश्व प्रेरणा के अनुसार कर्म करना, अहंकार, आवश्यकता, आवेग और कामना के चाबुक तले न रहना, मानसिक, प्राणिक या भौतिक पसंदों की चुभन से प्रेरित होकर नहीं बल्कि भगवान् से, केवल उच्चतम सत्य से संचालित होना—यही कर्मयोग है।

मानव अज्ञान में न बने रहकर, उसमें क्रिया न करके, दिव्य ज्ञान में जो व्यक्तिगत प्रकृति और वैश्व शक्तियों के बारे में सचेतन और परात्पर शासन के अनुकूल हो उसमें जीना और कर्म करना—यही कर्मयोग है।

दिव्य, असीम, प्रकाशमान वैश्व चेतना में जीना, रहना और क्रिया करना, उसकी ओर खुलना जो वैश्व से बढ़-चढ़कर है, पुरानी संकीर्णता और अंधकार में टटोलते और ठोकरें खाते न रहना—यही कर्मयोग है।

जो भी उपस्थित तुच्छताओं से ऊब गया है, जो भी भावी महानताओं पर मोहित है, जिस किसी को अपने भीतर, अपने ऊपर या अपने चारों ओर परम पुरुष की झलक मिलती है वह पुकार सुने, वह पथ का अनुसरण करे। मार्ग कठिन है, परिश्रम दुरूह और लंबा है लेकिन उसका पुरस्कार है एक कल्पनातीत महिमा में, अथाह आनंद में, सुखद और अंतहीन विस्तार में आवास।

अपने अंदर छिपे या अपार्थिव शरीर में निवास करनेवाले पथप्रदर्शक को ढूंढ, उसकी आवाज पर कान दे और हमेशा वह जिस ओर इशारा करे उसी ओर चल। अंत में वह प्रकाश है जो कभी निराश नहीं करता, वह सत्य है जो कभी धोखा नहीं देता, वह शक्ति है जो न तो भटकती है न ठोकरें खाती है, विस्तृत स्वाधीनता और अनिर्वचनीय आनंद है।

उस पार के स्वर्ग महान् और अद्भुत हैं, लेकिन उनसे भी महान् और अद्भुत हैं वे स्वर्ग जो तुम्हारे अंदर हैं। ये नन्दन-कानन दिव्य कर्मी की प्रतीक्षा में हैं।

—श्रीअरविंद

'गैर्वाणी' :

को भाग्यशाली ?

आस्तां द्वे मित्रे। एकः ईश्वरपूजायां सर्वदैव निरतः अतिष्ठत्, अन्यः कदापि ईश्वरस्य नाम अपि स्वजिह्वायां नानयत्। आस्तिकनास्तिकयोः मैत्रीं दृष्ट्वा नगरवासिनः अपि कदाचित् आश्चर्यान्विताः अजायन्त। आशावादी आस्तिकः सर्वदैव मनसि अचिन्तयत् यत् कदाचित् ईश्वरः मम मित्रमपि स्वकृपावृष्ट्या स्नापयिष्यति, तदा सः ईश्वरभक्तिसागरे सुखेन आकण्ठं स्थास्यति। तत्र च मित्रस्य पूजा, अर्चना नास्तिकस्य उपहासस्य विषयः आसीत्, सः अनेकवारं तमकथयत्—अहो ! प्रस्तरं पूजयित्वा यस्मिन् दिने तव प्रभुः प्रसन्नं भूत्वा दर्शनं दास्यति तस्मात् दिनात् अहं तव शिष्यः भविष्यामि। बहुवारं सः मित्रम् अवदत्—यदि प्रस्तरे तव ईश्वरः निवसति त्वं च तस्य परम-उपासकः तदा कथय स्व-इष्टदेवम् आत्मानं दर्शयितुम् . . .

शान्तस्वभावः आस्तिकः स्वमित्रस्य आक्षेपान् इष्टदेवाय एतत् कथयित्वा न्यवेदयत्—प्रभो, प्रदेहि मे मित्राय सद्बुद्धिं येन सः भक्तिपथम् अनुसरेत्।

अपि न एतत् आश्चर्यकरं यत् विपरीतस्वभावौ द्वौ अभिन्नमित्रे आस्ताम् ?

प्रतिप्रभातं तौ भ्रमणाय सह गच्छतः स्म। गृहं प्रत्यागमनात् पूर्वम् आस्तिकः प्रतिदिनं मन्दिरम् अगच्छत्, मित्रम् अपि तेन सह मन्दिरपर्यन्तं गत्वा सर्वदा बहिरेव उपाविशत्। मुहुर्मुहुः मित्रेण कथितः अपि सकृदपि सः मन्दिरस्य प्राङ्गणं प्रवेष्टुम् अपि न सम्मतः। आस्तिकः अभ्यन्तरे यावत् पूजामकरोत् नास्तिकः तावत् निरुद्देश्यः इतस्ततः अभ्रमत्। ये जनाः मन्दिरं प्राविशन् तान् उपाहसत् च।

एषः एव क्रमः प्रचलति स्म।

एकदा मन्दिरं गच्छतः आस्तिकस्य पादे हठात् कण्टकः विद्धः। व्यथया सः क्षणाय विह्वलः किन्तु तत्कालमेव कण्टकः निष्कासितः तेन।

नास्तिकः उपाहसत्—भो मित्र ! पश्य तव दैनिकपूजायाः प्रसादः प्रभुना कः दत्तः ?

यथानित्यं पूजां कृत्वा आस्तिकः यदा बहिरागतः तदा अपश्यत् यत् तस्य मित्रं तु हर्षेण उच्छलति। समीपमागत्य किं पश्यति यत् मित्रस्य हस्ते स्वर्णमुद्रा चकास्ति। आनन्दं धारयितुम् अशक्तः नास्तिकः अभणत्—पश्य, कः भाग्यशाली त्वं यः अहर्निशं मूर्त्तिमेव आराधयसे, अथ वा अहं यः एतादृशान् अन्धविश्वासान् अवहेलयामि—त्वया मन्दिरगमनसमये प्रसादरूपेण कण्टकः प्राप्तः, मम भाग्यं मह्यं स्वर्णमुद्राम् उपाहरत्।

स्वमित्रस्य एतानि वचनानि निशम्य प्रथमं वारं आस्तिकस्य मनः खिन्नं जातम्, तेन आघातः प्राप्तः। सम्पूर्णे मार्गे सः एतदेव स्वं देवम् मनसि अपृच्छत्—मह्यम् त्वया कण्टकः दत्तः अस्मै च स्वर्णमुद्रा ! तस्य कर्णयोः पुनः पुनः नास्तिकस्य शब्दाः अगुञ्जन्—'कः भाग्यशाली अहं त्वं वा ?'

रात्रौ प्रभुः भक्तस्य सम्मुखे स्वप्ने प्राकटत्, मन्दं मन्दं तस्य ललाटं परामृश्य अवदत्—प्रिय भक्त ! ज्ञातुम् इच्छसि कः अधिकः भाग्यशाली त्वं तव मित्रं वा ? शृणु—वस्तुतः अद्य तव भाग्ये सर्पदंशेन मृत्युः आसीत्, तव मित्रस्य ललाटे अद्य न केवलम् एका मुद्रा अपि तु स्वर्णपूरिता मञ्जूषा लिखिता आसीत्...

अधुना स्वयमेव विचारय केन लब्धः मम प्रसादः!...

—वन्दना

भाग्यशाली कौन ?

दो मित्र थे आस्तिक और नास्तिक। आस्तिक का मन हमेशा भगवत्पूजा में रमा रहता उधर नास्तिक के जीभ पर कभी ईश्वर का नाम तक न आता।

दोनों दोस्त रोज सवेरे साथ-साथ घूमने जाते। घर लौटते समय आस्तिक मन्दिर होकर आता, नास्तिक मन्दिर के दरवाजे तक उसके साथ रहता, फिर जब तक दोस्त पूजा करके बाहर नहीं लौटता वह यूं ही निरुद्देश्य बाहर घूमता रहता।

एक दिन मन्दिर जाते समय भगवद्भक्त के पांव में कांटा चुभ गया, नास्तिक ने मजाक उड़ाते हुए कहा—देखा, रोज-रोज मन्दिर जाने का क्या प्रसाद मिला तुम्हें ?

मन्दिर से लौटकर आस्तिक ने देखा कि नास्तिक खुशी से झूम रहा है, उसके हाथ में एक सोने की मुहर चमक रही है। पता लगा कि वह मुहर उसे वहीं पड़ी मिली थी। नास्तिक ने फिर कहा—तुम्हारे भगवान् ने तुम्हें कांटा दिया, मेरे भाग्य ने मुझे यह मोहर उपहार में दी। देखो, भाग्यशाली कौन है, मैं या तुम ?

आस्तिक को उस दिन सचमुच धक्का लगा। हथौड़े की तरह नास्तिक के शब्द उसके सिर में बज रहे थे। रात को प्रभु ने उसे दर्शन दिये, प्यार से उसका माथा सहलाते हुए बोले—प्रिय वत्स, जानते हो, आज सचमुच सांप के काटने से तुम्हारी मृत्यु बदी थी और आज तुम्हारे मित्र के भाग्य में एक नहीं बल्कि स्वर्ण मोहरों की पिटारी लिखी थी।

अब स्वयं सोच लो—मेरा प्रसाद किसे मिला, तुम्हें या उसे ?

हमेशा भागवत उपस्थिति पर एकाग्र होओ तो सुरक्षा अधिक सहज होगी।

—श्रीमां

पुस्तक-परिचय

आर्य बुक डिपो, करोल बाग, नई दिल्ली—११०००५ के प्रकाशन

१. युग पुरुष विवेकानन्द : ले०—सुशील कुमार; मूल्य १० रु०।
२. परमहंस रामकृष्ण : ले०—व्यथित हृदय; मूल्य १० रु०।
३. महर्षि अरविंद : ले०—व्यथित हृदय; मूल्य ८ रु०।

पहली दो पुस्तकें बहुत अच्छी बन पड़ी हैं। परमहंस रामकृष्ण और स्वामी विवेकानन्द के जीवन का सुन्दर और संक्षिप्त परिचय दिया गया है इन पुस्तकों में, लेकिन खेद है श्रीअरविंद के बारे में पुस्तक कुछ बन नहीं पड़ी, उसमें कई चित्र दिये गये हैं जो कार्टून जैसे मालूम होते हैं। श्रीअरविंद के नाम में श्री सम्मान के लिये नहीं लगाया जाता, यह उनके नाम का हिस्सा है। उनका पूरा नाम है श्रीअरविंद। लेखक ने समुचित जानकारी के बिना ही उनकी जीवनी लिख दी है इसलिये कुछ बन नहीं पायी। हम आशा करते हैं कि नया संस्करण छपने से पहले पुस्तक की भूलों का मार्जन कर दिया जायेगा।

You have no right to dispense with morality unless you submit yourself to a law that is higher and much more rigorous than any moral law.

THE MOTHER

भगवान् को प्राप्त करने के अन्तरात्मा के अटूट संकल्प के आगे कोई चीज टिक नहीं सकती।

—श्रीअरविंद

एकमात्र वही जीवन जीने योग्य है जो भगवान् के साथ एकात्मता के लिये निवेदित हो।

—श्रीमां

खुश रहने की कोशिश करो—तुम तुरन्त दिव्य प्रकाश के निकट होगे।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.
THE MOTHER

लघु अहम्

जगन्माता ने इस पुत्तलिका अहम् का किया है निर्माण,
प्रकृति के कार्यों के लाभ का यह क्षुद्र अपहारक,
जीवन के अधिवास-काल में इसने उसका किया है विश्वास-भङ्ग;
यह करता दावे पर दावा, छल से टाल देता उसके सारे ऋण।

हमारे अहम् से ही भर जाता हमारे जीवन का हर संचलन;
हमारी सत्ता के बाने में हर तंतु के साथ सग्रंथित,
जब हम करते अपनी निस्स्वार्थता का सर्वाधिक विकत्थन,
यह हड़प लेता निकृष्टतम भाग; कोई कोना न रहता रिक्त।

एक मार्ग रह जाता मुक्त, तुम्हें करने के लिये अर्पण
अपनी आत्मा और हृदय, हर कोषाणु, शरीर और मन,
और रहने के लिये तुम्हारी विराट् अनन्तता में निमग्न।
तब प्रकाश में तन्मय हो, क्षीण हो जायेगा यह अधम आकर्षण।

प्रकृति बनेगी, अपने विद्रोह का कर संत्यजन,
आत्मा की विराट् प्रशान्ति का प्रश्वसन।

अनु० —अमृताभारती

—श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

जून

१. यह सच है कि 'हम' कठिन समय में से गुजर रहे हैं ('हम' का अर्थ है संसार) लेकिन जो स्थिर बने रहेंगे वे उसमें से पहले की अपेक्षा बहुत अधिक मजबूत होकर निकलेंगे।

२. निश्चय ही हम ऐसे काल में नहीं हैं जब मनुष्यों को अपने साधनों पर छोड़ दिया गया हो। भगवान् ने उन्हें प्रबुद्ध करने के लिये अपनी चेतना को नीचे भेजा है।
जो भी उससे लाभ उठा सकते हों उन्हें इससे लाभ उठाना चाहिये।

३. भूतकाल की लहरों को अपने पास से बहकर दूर चले जाने दो, वे समस्त आसक्तियों और समस्त दुर्बलताओं को भी बहा ले जायें।
भागवत चेतना का आलोकमय आनंद उनका स्थान लेने के लिये प्रतीक्षा कर रहा है।

४. जीवन में अनुपम क्षण होते हैं जो स्वप्न की तरह गुजर जाते हैं। तुम्हें उन्हें पंखों पर ही पकड़ लेना चाहिये क्योंकि वे कभी लौटते नहीं।

५. मैं प्रस्ताव करती हूं कि हम केवल वही करें जो ठीक और उचित हो, भविष्य के बारे में बहुत अधिक न सोचें, उसे भागवत कृपा की निगरानी में रहने दें।

६. जिस क्षण तुम संतुष्ट हो जाते हो और किसी चीज के लिये अभीप्सा नहीं करते, तुम मरना शुरू कर देते हो। जीवन गति है, जीवन प्रयास है, वह आगे कूच कर रहा है, भावी अंतःप्रकाशों और उपलब्धियों की ओर चढ़ रहा है। आराम करना चाहने से बढ़कर खतरनाक कुछ नहीं है।

७. सफलता में से गुजरना दुर्भाग्य में से गुजरने की अपेक्षा अधिक कठिन अग्निपरीक्षा है।
सफलता की घड़ी में मनुष्य को अपने-आपसे ऊपर उठने में अधिक जागरूक रहना चाहिये।

८. अचंचल रहना और एकाग्र होना, ऊपर से शक्ति को अपना काम करने देना, यह किसी भी बीमारी और हर एक बीमारी को ठीक करने का सबसे निश्चित तरीका है। अविचल श्रद्धा और मजबूत संकल्प के साथ अगर इसे समय पर और पर्याप्त समय के लिये किया जाये तो ऐसी कोई भी बीमारी नहीं जो इसका प्रतिरोध कर सके।

९. नींद में से बाहर निकलते हुए तुम्हें कुछ क्षणों के लिये चुपचाप रहना चाहिये और आनेवाले दिन का भगवान् के प्रति उत्सर्ग करना चाहिये। उन्हें हमेशा सभी परिस्थितियों में याद रखने के लिये प्रार्थना करनी चाहिये।
सोने से पहले तुम्हें कुछ क्षणों के लिये एकाग्र होना चाहिये। बीते हुए दिन पर नजर डालो, याद करो कि कब-कब और कहां तुम भगवान् को भूल गये थे और प्रार्थना करो कि इस तरह फिर न भूल पाओ।

१०. हमें सतत अभीप्सा की स्थिति में रहना चाहिये, लेकिन जब हम अभीप्सा न कर सकें तो हम एक बालक की सरलता के साथ प्रार्थना करें।

११. हम प्रार्थना करते हैं कि भगवान् हमें हमेशा अधिकाधिक सिखाएं, अधिकाधिक बोध दें, हमारे अज्ञान को छिन्न-भिन्न करें, हमारे मनों को प्रकाश दें।

१२. दया के स्वामी, मुझे अपनी कृपा के योग्य बना।

१३. "हे मां, तू मेरी बुद्धि का प्रकाश, मेरी अंतरात्मा की शुद्धि, मेरे प्राण का स्थिर शांत बल और मेरे शरीर की सहनशक्ति है। मैं केवल तेरे ऊपर निर्भर हूं, और पूरी तरह तेरा होना चाहता हूं। मार्ग की सभी कठिनाइयों से मुझे पार लगा।"

१४. प्रभु, हमें मिथ्यात्व से मुक्त कर, हम तेरे सत्य में तेरी विजय के योग्य और शुद्ध होकर उभरें।

१५. प्रभु, तेरा प्रेम इतना महान् है, इतना उदात्त और इतना पवित्र है कि वह हमारी समझ के परे है। वह अमित और अनंत है। हमें उसे घुटने टेककर ग्रहण करना चाहिये। फिर भी तूने उसे इतना मधुर बना दिया है कि हममें से सबसे निर्बल भी, एक बच्चा भी तेरे पास आ सकता है।

१६. ठीक होने का केवल एक ही रास्ता है लेकिन गलत होने के कई रास्ते हैं।

१७. अपने-आपको भूल जाने का सबसे सरल मार्ग कौन-सा है ? हमेशा ठीक चीज, ठीक ढंग से ठीक समय पर करो।

१८. हमारी चेतना एक छोटी-सी चिड़िया की तरह है, उसे अपने पंखों का उपयोग करना सीखना चाहिये।

१९. बहुत ऊंचे उड़ो और तब तुम गहराइयों को खोज लोगे।

२०. कोशिश छोटी-सी चीज है लेकिन वह भविष्य के लिये प्रतिज्ञा हो सकती है।

२१. हमें उस सबसे बचने की सावधानी हमेशा रखनी चाहिये जो हमारे अंदर दिखावे के भाव को प्रोत्साहित करता हो।

२२. प्रभु ही हर चीज को सत्ता की गहराइयों से गति देते हैं, उनकी इच्छा निदेशन करती है, उनकी शक्ति कार्य करती है।

२३. विश्व के आश्चर्यों का कहीं अंत नहीं है।
हम अपने छोटे-से अहंकार की सीमाओं से जितना अधिक मुक्त होते चलें, उतना ही अधिक ये आश्चर्य अपने-आपको हमारे आगे प्रकट करेंगे।

२४. हम सदा बदलते हुए ऊपरी दृश्यों को ही न देखा करें। हर चीज में और हर जगह केवल भगवान् की अपरिवर्तनशील एकता का ही मनन करें।
जो अपने हृदय के अंदर सुनना चाहता है उससे सारी सृष्टि भगवान् की बातें करती है।

२५. प्रकृति में ज्योति के लिये सहज प्यास होती है।

२६. हमें विरोधी शक्तियों को अपनी शरारत करने का अवसर कभी न देना चाहिये—वे जरा-सी निश्चेतना का भी लाभ उठाती हैं।

२७. ईर्ष्या, स्वार्थपूर्ण असंतोष और आहत दर्प तुम्हें भागवत रक्षण से बाहर खींचता है, चेतना के द्वार को विरोधी आक्रमणों के लिये खोल देता है।
इन भ्रांतिपूर्ण गतिविधियों को अपने अंदर होने देने से इंकार करके ही तुम विरोधी प्रभाव और उसके विपत्तिजनक परिणामों से छुटकारा पाने की आशा कर सकते हो।

२८. महान् अज्ञान व्यक्ति से अंधकार और विनाश की शक्तियों के सुझावों को उत्तर दिलवाता है। भगवान् की अपार दया के प्रति सच्ची कृतज्ञता के भाव के द्वारा आदमी ऐसे संकटों से बच सकता है।

२९. विरोधी शक्तियों को संसार में इसीलिये सहा जाता है क्योंकि वे मनुष्य की सचाई की परख करती हैं। जिस दिन मनुष्य पूरी तरह सच्चा हो जायेगा वे चली जायेंगी क्योंकि तब उनके अस्तित्व का कोई कारण न रह जायेगा।

३०. जो लोग योग-साधना करते हैं उनके लिये जन्मपत्रियों का कोई मूल्य नहीं होता, क्योंकि योग के द्वारा जो प्रभाव काम करता है वह ग्रहों के प्रभाव से कहीं अधिक शक्तिशाली होता है।

(श्रीमातृवाणी खंड १५ से)

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित :

दो विभिन्न तरीके

यह तो हम कह ही चुके हैं कि भारत की आध्यात्मिक प्रवृत्ति केवल किसी निराकार प्रच्छन्न या अमूर्त में ही नहीं उछल पड़ती बल्कि वह अपनी ऊष्मा की किरणों को नीचे धरती पर भी फैलाती है ताकि जीवन के दर्शन और समृद्धि को भी अपने प्रेम भरे आलिंगन में ले ले। अतः आध्यात्मिकता के महान् युग के बाद भारत की महानता का दूसरा लंबा दौर आया बौद्धिकता, नैतिकता, कर्म की ऊर्जस्विता का जिसमें व्यक्ति आध्यात्मिक सत्य की आभा में अपने जीवन को प्रकाशित कर सका तथा गढ़ सका। आत्मा के युग के बाद आया धर्म का युग; वेद तथा उपनिषदों के बाद आयीं क्रिया तथा सामाजिक संगठन और प्ररूपी संरचना तथा विचार और दर्शन की उदात्त शताब्दियां, जब भारतीय जीवन तथा संस्कृति के बाह्य रूपों के विशाल खाके खींचे गये, यहांतक कि बाद के विकासों के बीज भी इस समय बोये गये। संस्कृत साहित्य तथा संस्कृति का महान् प्रतिष्ठित युग इसी बौद्धिकता का प्रस्फुटन था, उस समय विज्ञान, कला, साहित्य, राजनीति, सामाजिक तथा सांसारिक—हर क्षेत्र को ब्यौरे में देखा गया। हमने यह भी देखा कि इस काल में प्रधान स्वर न केवल सौंदर्यपरक था बल्कि संवेगात्मक, ऐंद्रिय, यहांतक कि प्राणिक और विषयासक्त अनुभवों का भी था, लेकिन वह पुरा आध्यात्मिकता फिर भी इस सारे मानसिक तथा प्राणिक क्रिया-कलाप के पीछे राज कर रही थी, और इसके अंतिम काल में हमने देखा कि समस्त निम्न जीवन को ऊपर उठाया गया और उसपर आत्मा के मूल्यों को आरोपित किया गया। पौराणिक तथा तांत्रिक पद्धतियों और भक्ति-मार्गों का यही अर्थ तथा भाव था। बाद में वैष्णव धर्म, जो भारतीय भावना का अंतिम सुंदर फूल था, उसने सौंदर्यात्मक, भावप्रवण तथा ऐंद्रिय सत्ता को आध्यात्मिकता की सेवा में प्रस्तुत किया। इस तरह एक युगचक्र पूरा हुआ।

इसके साथ-ही-साथ आया अवनति का काल जिसमें मुख्य रूप से तीन क्रियाओं ने योगदान दिया। पहली थी, उस अति-प्रचुर प्राणिक ऊर्जा का ह्रास तथा जीवन के हर्ष और सर्जन के उल्लास में कमी। यह बात और है कि इस अवनति में भी यह ऊर्जा एक भव्य तथा अद्वितीय वस्तु है और केवल बहुत ही कम समय के लिये पूरी तरह से जड़ता तथा तमस् में जा गिरी थी, अन्यथा वह अंदर ही अंदर सुगबुगाती रही, लेकिन भारत की प्राचीन महानता से तुलना करने पर हम देख सकते हैं कि उसका पतन काफी स्पष्ट तथा उत्तरोत्तर था। अधोगति की दूसरी क्रिया थी पुरानी मुक्त बौद्धिक क्रिया का द्रुत अवसान, वैज्ञानिक तथा समीक्षात्मक मन तथा साथ ही सर्जक अंतःप्रेरणा का अर्धनिद्रा में जा गिरना; और जो कुछ बच रहा वह भी पुराने ज्ञान के बुरी तरह से समझे गये कुछ टुकड़ों की पुनरावृत्ति ही था। महान् बौद्धिक भूतकाल ने जिस चीज का सृजन किया था अब मन और प्राण ने उन रूपों के अवशेषों को पकड़कर पत्थर की लकीर की तरह बना दिया। पुराने विधि-विधान तथा शासन कठोर रूप से निरंकुश बन गये और जैसा कि हमेशा होता है, अपना सच्चा अर्थ और भाव खो बैठे। अंततः, आध्यात्मिकता तो रही लेकिन वह पुरा काल की ज्ञान की वह स्पष्ट, सदा धधकनेवाली लौ न रह गयी बल्कि कभी यहां जल उठी तो कभी वहां बुझ गयी, उसकी क्रिया इतनी छितरा गयी कि पुराने भव्य सत्यों को अपने समग्र रूप में पकड़कर समन्वय कर पाना बहुत मुश्किल हो गया और अगर कभी किसी सत्य पर जोर दिया भी गया तो अन्यों की अवहेलना हो गयी। भारतीय संस्कृति के लिये यह ह्रास ही उस महान् उद्यम के लिये एक तरह की असफलता ले आया जो भारतीय संस्कृति का समग्र सत्य है अर्थात् मन और जीवन पूर्ण आध्यात्मिकता के पथ का अंत तक अनुसरण नहीं कर पाये। आध्यात्मिकता के इस पथ की ओर विभिन्न दिशाओं से आरंभ अत्युत्कृष्ट थे,

प्रगति महान् थी लेकिन एक ऐसे बिंदु पर पहुंचकर, जहां और अधिक प्रगति, रूपांतर तथा किसी नयी वस्तु में प्रस्फुटन को आना चाहिये था वहां पुरा संस्कृति साथ-साथ नहीं चली, उसने सहायता देने से अपना हाथ खींच लिया और कुछ वह दिग्भ्रांत भी हो गयी। निःसंदेह जाति के हृदय में उस संस्कृति का सारतत्त्व बना रहा और आज तक बना है लेकिन न केवल जाति के अभ्यासों तथा प्रकृति में बल्कि उसकी क्रियाओं में भी उस तत्त्व पर इतना अधिक कोहरा छा गया कि सच्ची चीज तो कहीं अंदर दुबकी पड़ी रही और अस्तव्यस्तता ने अपना डेरा डाल लिया। इस अव्यवस्था के आंतरिक और बाह्य कारणों का विश्लेषण करने की यहां आवश्यकता नहीं, लेकिन यह तथ्य तो बना ही रहेगा। वह ऐसा समय था जब भारतीय मानस नयी तथा अभूतपूर्व समस्याओं से घिरा असहाय-सा हो गया था।

अवनति के इसी काल में यूरोपीय लहर ने भारत को निगल लिया। इस नयी तथा अपनी प्रकृति के एकदम विपरीत संस्कृति के प्रवेश का भारत पर पहला दुष्प्रभाव तो यह पड़ा कि उसमें जो चीज जीवित रहने की कोशिश कर रही थी वह भी बुरी तरह से नष्ट हो गयी, उसकी बची-खुची ऊर्जा के स्रोतों पर काई जम गयी। भारत के अंदर एक नया क्रिया-कलाप शुरू हुआ लेकिन अपने प्रारंभिक रूप में यह था विदेशी संस्कृति की अनगढ़ तथा अस्तव्यस्त नकल। भारत के लिये यह संकटकालीन समय तथा खतरनाक कठिनाई की अग्निपरीक्षा थी, कोई कम उत्साही जाति अपने लक्ष्यों को खो बैठने और विदेशी विचार और आदतों को अपनाने के लिये बाधित होने की इस दोहरी मार से नष्ट-भ्रष्ट होकर चूर-चूर हो जाती। इतिहास इस बात की गवाही देता है कि ऐसी अवस्थाएं राष्ट्रों तथा संस्कृतियों के लिये कितनी घातक हो सकती हैं लेकिन सौभाग्यवश, भारत में जीवन-ऊर्जा कुछ समय के लिये सोयी पड़ी थी, दफन नहीं हो गयी थी और जब भारत फिर से जग उठा तो अपनी उसी ऊर्जा से उसने अपने भीतर बैठे अशुभ को खदेड़ डाला। यूरोपीय जीवन तथा संस्कृति की जो अस्थायी सड़ांध तथा विनाश भारत में आया उसने भारत को ये तीन आवश्यक आवेग प्रदान किये—उसने सोये पड़े बौद्धिक तथा विवेचनात्मक आवेग को पुनर्जीवित किया, उसने जीवन को पुनः प्रतिष्ठित कर नये सर्जन की कामना को जगाया तथा पुनर्जीवन प्राप्त करती हुई भारत की भावना को नयी अवस्थाओं तथा आदर्शों के सामने न केवल ला खड़ा किया बल्कि उन्हें समझने, आत्मसात् करने तथा उनपर विजय प्राप्त करने की अनिवार्य आवश्यकता को भी जोड़ दिया। राष्ट्रीय मन ने अतीत की अपनी संस्कृति पर नयी दृष्टि डाली, वह उसके भाव और महत्त्व के प्रति न केवल पुनः जाग्रत् हुआ बल्कि उसे आधुनिक ज्ञान तथा विचारों के संबंध में भी देखा। जाग्रत् होते हुए इस दर्शन तथा प्रेरणा से भारत में पुनर्जागरण का आरंभ हो रहा है और इसे ही उसकी भावी प्रवृत्ति का निर्धारण करना होगा। भारत के लिये अभी पहला तथा सबसे जरूरी कार्य है प्राचीन आध्यात्मिक ज्ञान तथा अनुभूति को अपने समस्त वैभव, गहराई तथा समग्रता में पुनः प्राप्त करना; दर्शन, साहित्य, कला, विज्ञान तथा ज्ञान के नये रूपों में इस आध्यात्मिकता को प्रवाहित करना उसका दूसरा कार्य है; और अध्यात्मभावापन्न समाज के महानतर समन्वय के लिये आधुनिक समस्याओं के साथ भारतीय भावना तथा उद्यम के साथ अद्वितीय रूप से व्यवहार करना—यह है तीसरा तथा सबसे कठिन कार्य। इन तीन दिशाओं में प्राप्त सफलता के द्वारा ही भारत मानवता के भविष्य की सहायता कर सकता है।

'आत्मा' सत्यों का उच्चतर अनंत है; जीवन संभावनाओं का निम्नतर अनंत है। ये दोनों विकसित होकर इन सत्यों के प्रकाश में अपना सत्य तथा अपनी परिपूर्ति पाने की चेष्टा करते हैं, अर्थात् आत्मा और जीवन दोनों एक-दूसरे के अभिन्न पूरक हैं। हमारी बुद्धि, हमारी इच्छा-शक्ति, हमारी नैतिक तथा सौंदर्यबोधक सत्ता परावर्तक तथा मध्यस्थ हैं। पश्चिम का तरीका है जीवन को बहुत अधिक महत्त्व देकर जितना अधिक—या यूं कहें जितना कम—हो सके उतना उच्चतर शक्तियों को प्रेरित करके जीवन को सजाना-संवारना—इसमें मुख्य विषय होता है जीवन। लेकिन भारत का तरीका इससे उल्टा है—अंदर की आत्मा

को तथा उच्चतर शक्तियों की गुप्त तीव्रताओं को खोजकर जीवन पर आत्मा को अभिभूत कर देना ताकि जीवन आत्मा की अभिव्यक्ति बन सके और इस भांति जीवन में आत्मा का संचार हो उठे। बुद्धि, संकल्प-शक्ति, सौंदर्यपरक तथा भावनामय सत्ता की ओर उसका यह झुकाव होता है कि वे मानसिक स्तर पर अपनी पराकाष्ठा तक पहुंचकर फिर उसके परे महानतर प्रकाश तथा शक्ति की ओर खुलें। भारत में पुनर्जागरण का कार्य होगा इस आत्मा को, जीवन के प्रति उच्चतर दृष्टिकोण को, संभाव्यता के इस गहनतर भाव को एक बार फिर संसार में सर्जनात्मक प्रमुख शक्ति बना दे, लेकिन इस सत्य के प्रति भारत अभी धुंधले रूप से सचेतन है; भारत की जनता के अधिकतर क्रिया-कलाप अब तक यूरोपीय उद्देश्य तथा प्रक्रिया के प्रभाव तले गुजर रहे हैं और चूंकि भारतीय मानस उस अंतस्थ आत्मा के प्रति पूरी तरह सचेतन नहीं है अतः उसकी क्रिया संकल्प-शक्ति में दुर्बल, आकार में अस्पष्ट तथा परिणामों में निष्प्रभाव है, क्योंकि हमारी क्रियाएं हमारी सत्ता की जड़ से नहीं आ रही हैं। केवल कुछ एक दिशाओं में आत्म-ज्ञान का थोड़ा-सा स्पष्ट प्रकाश है। केवल तभी जब महानतर प्रकाश पूरी तरह अभिभूत होकर भारतीय मानस पर व्यापक रूप से फैल जायेगा, हम भारत में पुनर्जागरण को संभावना के रूप में नहीं बल्कि तथ्य के रूप में जान सकेंगे।

—वन्दना

'सांध्य वार्ताएं' :

१५ अगस्त १९२६ को श्रीअरविंद के साथ बातचीत

शिष्य—इस बार आप हमारे प्रयास की सफलता के बारे में क्या कहेंगे ? पिछली बार आपने कहा था कि आप उसके बारे में निश्चित थे।

श्रीअरविंद—मैंने यह नहीं कहा कि मैं निश्चित हूं। चलो 'क' से इस बारे में पूछें।

एक और शिष्य—(पहले से) तुम इस तरह क्यों पूछ रहे हो ? पिछली बार की बात उठाये बिना ही अपनी बात पूछ लो न।

शिष्य—इस समय की सामान्य परिस्थिति को देखते हुए क्या आप कह सकते हैं कि आपको विश्वास है या नहीं ?

श्रीअरविंद—हमें विश्वास है भी और नहीं भी।

शिष्य—यह कैसे ?

श्रीअरविंद—मैं कह सकता हूं कि मैं नैतिक रूप से निश्चित हूं परंतु व्यावहारिक रूप से नहीं। मैं व्यावहारिक रूप से निश्चित नहीं हूं क्योंकि भौतिक जगत् को कोई पश्चात्ताप नहीं है। सबसे बड़ी बाधा जो शायद अलंघ्य हो, जड़ भौतिक जगत् का रोड़ा है।

शिष्य—पश्चात्ताप नहीं है, से आपका क्या मतलब है ?

श्रीअरविंद—पश्चात्ताप नहीं है का मतलब है जड़ जगत् भगवान् या भागवत जीवन के लिये तनिक भी परवाह नहीं करता।

शिष्य—जड़ भौतिक जगत् के प्रतिरोध से आपका क्या मतलब है ?

श्रीअरविंद—उसकी किसी उच्चतर चीज की ओर खुलने की असंभावना और वह जिसके लिये अभ्यस्त है उससे जरा भी भिन्न सोचने की अक्षमता। मेरा मतलब मनुष्य की मूढ़ता और उसके अंधेपन से है। जब

मैं जड़ भौतिक के प्रतिरोध की बात करता हूं तो मेरा मतलब बाहरी जड़ भौतिक से नहीं बल्कि सूक्ष्म जड़ से होता है। सूक्ष्म और बाह्य जड़ से। और जब मैं कहता हूं कि जड़ भौतिक अभेद्य है तो मेरा मतलब यही होता है। सूक्ष्म जड़ ने सत्य को स्वीकारा नहीं है, जड़ भौतिक मन ने उच्चतर सत्य को नहीं स्वीकार किया है। भौतिक शक्ति के कोषाणुओं में एक अपनी चेतना होती है और उस चेतना को अपने-आपको सत्य की ओर खोलना चाहिये। लेकिन जड़ भौतिक मन रूपांतर की दिव्य संभावना पर विश्वास नहीं करता और जैसा कि मैंने कहा हमारे लिये जबतक सब कुछ न हो जाये तबतक कुछ नहीं हुआ।

शिष्य—और आप नैतिक दृष्टि से निश्चित कैसे हैं?

श्रीअरविंद—क्योंकि मैं अधिकाधिक शक्ति को भौतिक में उतरते हुए देखता हूं और भौतिक सत्ता जागरण के लक्षण दिखा रही है।

शिष्य—लेकिन हम जानते हैं कि एक बार मन सत्य को स्वीकार कर ले तो वह उसका दबाव प्राणिक सत्ता पर डालता है और उसे उच्चतर सत्य के लिये खोलता है और जब प्राण खुल जाये तो वह भौतिक सत्ता पर दबाव डालता है। तो अब जब कि आप कह रहे हैं कि शक्ति भौतिक स्तर पर उतर रही है तो इसका मतलब यह हुआ कि वह अपने समय में इस प्रतिरोध को जीत लेगी और बाकी स्वाभाविक रूप से होता चलेगा।

श्रीअरविंद—जरूरी नहीं है कि वह चले ही।

शिष्य—मान लीजिये कि जड़ सत्ता नहीं बदलती?

श्रीअरविंद—अगर वह न बदले तो वह एक अलंघ्य बाधा बन जायेगी।

शिष्य—क्या जड़तत्त्व के विरोध के सिवा कोई और बाधा नहीं है?

श्रीअरविंद—नहीं, नहीं के बराबर।

शिष्य—क्या इसका यह मतलब हुआ कि आसुरी शक्तियों की ओर से कोई बाधा नहीं आयेगी। मेरा मतलब आसुरिक प्राणलोक से नहीं है बल्कि असुर की सहायता से आनेवाली भौतिक बाधाओं से है।

श्रीअरविंद—हां, जड़तत्त्व के इस सारे प्रतिरोध के पीछे आसुरी सहायता होती है लेकिन अगर स्वयं जड़तत्त्व ही झुक जाये तो उन शक्तियों का कोई मूल्य न रहेगा। मेरा मतलब यह नहीं है कि उनकी ओर से कोई कठिनाई नहीं आयेगी, मेरा मतलब यह है कि वह गौण रह जायेगी।

शिष्य—प्रतिरोध पर विजय पाने के लिये क्या शर्तें हैं, क्या उन्हें पूरा करने के लिये हमारा भी कुछ दायित्व है?

श्रीअरविंद—शर्तें! यह कहना तो बहुत कठिन है (कुछ ठहर कर) और अगर मैं कहूं भी तो तुम समझ न पाओगे।

शिष्य—कहिये न। हम समझने की कोशिश करेंगे।

श्रीअरविंद—शर्त यह है कि मनुष्य सीधा देवलोक के साथ नाता जोड़ सके। यह तभी संभव होगा।

शिष्य—मैं तो कुछ भी न समझ पाया। आपको एक-एक शब्द समझाना होगा।

श्रीअरविंद—मैंने यही तो कहा था।

शिष्य—आपका मतलब निचले या उच्चतर देवों से है?

श्रीअरविंद—मेरा मतलब देवों से है, प्राणिक या मानसिक देवों से नहीं।

शिष्य—लेकिन अगर सूक्ष्म भौतिक उच्चतर सत्य को स्वीकार कर ले?

श्रीअरविंद—मेरे दृष्टांत में तो उसने स्वीकार कर लिया होगा लेकिन इससे कुछ भी प्रमाणित नहीं होता। इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह वैश्व सूक्ष्म भौतिक में प्रतिष्ठित हो गया है या आधारभूत मौलिक रूप से बदल गया है।

शिष्य--क्या पूरा भौतिक उसके आगे न झुकेगा ?

श्रीअरविंद--तर्क की दृष्टि से तो यह निश्चित है पर व्यावहारिक दृष्टि से नहीं।

शिष्य--तो क्या उसकी वृत्ति में परिवर्तन के कोई चिह्न नहीं हैं ?

श्रीअरविंद--नहीं; अभीतक परिवर्तन के कोई निर्णायक चिह्न नहीं हैं लेकिन चूंकि भौतिक में अधिकाधिक शक्ति का अवतरण हो रहा है इसलिये मैं कह सकता हूं कि नैतिक दृष्टि से मुझे भरोसा है कि जड़तत्त्व भी बदलेगा।

शिष्य--लेकिन अगर जड़तत्त्व के नियम बदल जायें तो क्या यह नहीं कहा जा सकता कि जड़ जड़ न रहेगा।

श्रीअरविंद--क्यों ?

शिष्य--क्योंकि जड़तत्त्व अमुक नियमों से बना है।

श्रीअरविंद--नियमों से तुम्हारा क्या मतलब है ? जिन्हें तुम नियम कहते हो वे केवल आदतें हैं, अगर तुम अपनी आदतें बदल डालो तब भी तुम तुम ही रहोगे।

शिष्य--क्या कुछ लोग अपनी साधना द्वारा जड़ जगत् के नियमों को नहीं बदल सकते ?

श्रीअरविंद--हम बाहरी जड़ सत्ता को नहीं बदलना चाहते। केवल अमुक लोगों में जहां मनुष्य उच्चतर शक्ति के प्रति खुला हुआ है, यह परिवर्तन होगा, हर एक में नहीं।

शिष्य--क्या समस्त मानव जाति की वृत्ति इस बारे में सफलता या असफलता का कारण हो सकती है ?

श्रीअरविंद--निश्चय ही उसका कुछ मूल्य तो है ही लेकिन इसका इस मामले में बहुत बड़ा असर नहीं होता।

शिष्य--भौतिक मन और जड़ मन में क्या फर्क है ?

श्रीअरविंद--जड़ भौतिक मन का एक हिस्सा है।

शिष्य--और भौतिक क्या है ?

श्रीअरविंद--चूंकि मेरे अंदर इस विषय की प्रेरणा नहीं है इसलिये मैं 'क' से समझाने के लिये कहूंगा (कुछ ठहर कर) मैंने भौतिक में चार चीजों के बारे में कहा था--१. भौतिक मन, २. भौतिक प्राण, ३. स्वयं जड़ द्रव्य और ४. भौतिक में अतिमानस।

हम कह सकते हैं कि भौतिक मन मन का वह छोर है जो भौतिक जगत् के संपर्क में आता है। वह जड़तत्त्व द्वारा सीमित मन है जो विचारों की सहायता के बिना काम करता है, वह जगत् के केवल भौतिक पहलू को देखता है और चीजों को जैसी वे हैं, वैसी ही मान लेता है, वह उस दृष्टि के परे नहीं जाता। वह बाहरी जगत् के ज्ञान या भौतिक जगत् के ज्ञान या लक्ष्य पर निर्भर रहता है। वह इन्द्रियों की साक्षी पर निर्भर रहता है।

भौतिक प्राण है भौतिक शरीर से सीमित प्राण। यह स्नायु संस्थान में गति करता हुआ प्राण है। यह भौतिक शरीर के बिना नहीं रह सकता। यह शुद्ध प्राणिक सत्ता से और उसकी सापेक्ष स्वाधीनता से एकदम अलग है, यह जड़ भौतिक नियमों के अधीन प्राण है परंतु यह जीवनी शक्ति नहीं है। जीवनी शक्ति जड़तत्त्व से एकदम भिन्न वस्तु है। यह जड़ द्रव्य के विषयों के अधीन जीवन है। जड़ द्रव्य में भी महान् शक्ति है लेकिन यह जीवनी-शक्ति नहीं है। जीवनी-शक्ति जड़ भौतिक जगत् से एकदम अलग है। वह स्वयं अपने लिये अपने-आपसे अस्तित्व रखती है और अपने-आपको जड़ परिस्थितियों में बांधकर नहीं रखती। प्राण के लिये कोई भी चीज, चाहे वह कितनी भी काल्पनिक या मूर्खतापूर्ण क्यों न हो, असंभव नहीं मालूम होती। वह प्राण की भव्य महानता ही थी जिसके कारण नेपोलियन ने कहा था, "कोई चीज

असंभव नहीं है, 'असंभव' शब्द को शब्दकोश से निकाल देना चाहिये।'' नेपोलियन के द्वारा प्राणमय पुरुष बोल रहा था। यह सच है कि प्राणलोक किसी चीज को असंभव नहीं मानता। वह भौतिक जगत् की तरह उच्चतर संभावनाओं को अस्वीकार नहीं करता।

अब आता है शुद्ध जड़ जगत्। इसे यूरोपीय लोग निश्चेतना कहते हैं लेकिन वे जिस जड़ पदार्थ को निश्चेतना कहते हैं उसमें जबर्दस्त शक्ति होती है। वस्तुतः हमारे प्रयास में वही निर्णायक शक्ति होगी। अगर यह इस बार न किया जा सके तो इसे किसी और दिन करना होगा, —किसी और समय।

शिष्य—यह तो स्पष्ट है कि जड़ पदार्थ में बहुत ऊर्जा होती है।

एक और शिष्य—जड़ पदार्थ और ऊर्जा एक ही हैं ?

श्रीअरविंद—यह केवल एक पहलू है जिसे वैज्ञानिक जानते हैं।

शिष्य—अगर परमाणु को तोड़ा जाये तो उसमें से इतनी शक्ति निकलेगी जो कुछ वैज्ञानिकों के मतानुसार सारे जगत् को समाप्त कर देगी। किसी पदार्थ में परमाणुओं का स्थान बदल देने से ही पदार्थ के गुण एकदम बदल जायेंगे। क्या आप जिस ऊर्जा की बात कर रहे हैं वह उसी ऊर्जा का एक रूप है जिसकी बात वैज्ञानिक करते हैं ?

श्रीअरविंद—हां, लेकिन वह जो जानते हैं वह उसका एक पहलू भर है क्योंकि उसमें केवल शक्ति ही नहीं होती, उसकी अपनी चेतना भी होती है, वह चीज को स्वीकार और अस्वीकार कर सकती है।

जड़ पदार्थ मन्द, निश्चेतन होता है। वह बदलना नहीं चाहता। वह कोई चीज प्रतिष्ठित नहीं करना चाहता। वह सभी भौतिक अवस्थाओं में एक-सा रहता है और जड़ पदार्थ के नियमों का अनुसरण करता है। अभीतक जड़ पदार्थ में जो थोड़ा-सा परिवर्तन आया है उसे लाने में ही प्रकृति को हजारों वर्ष लग गये हैं और उसमें किसी ऊपर से आनेवाली मन या प्राण की शक्ति का असर है, स्वयं जड़ भौतिक में निहित शक्ति, सामर्थ्य या स्वीकृति का नहीं।

जब प्राण ने जड़ भौतिक पर दबाव डालना शुरू किया तो वह अपने संभव असंभव के विचार को वहांतक नहीं ले जा सका, उसने जड़ पदार्थ के साथ एक तरह का समझौता कर लिया और उसे भौतिक के जीवन की सीमाओं को स्वीकार करना पड़ा।

शिष्य—आपने कहा कि जड़ भौतिक के प्रतिरोध पर विजय पाना संभव हो सकता है यदि हम सीधा देवलोक के साथ संबंध बना सकें। क्या इसकी कोई प्रक्रिया है, क्या वह अपने-आप आता है या उसे कोई उच्चतर शक्ति ले आती है ?

श्रीअरविंद—उसके लिये तुम्हें पहले अपने अंदर की यूरोपीय मानसिकता से पिंड छुड़ाना होगा। तुम सभी अपने मन में आधे यूरोपीय हो। मन के परे जाने और वस्तुओं पर मानव दृष्टि से देखने की आदत छोड़ने के लिये एक निश्चित फैसले की जरूरत होती है। तुम्हें दो परस्पर विरोधी भूलों से, प्राणिक शक्तियों को सच्चे देवता मानने और जड़वादी मनोवृत्ति को स्वीकार करने से बचना चाहिये।

शिष्य—लेकिन आपने कहा था कि सभी निर्णय यहां जगत् में चरितार्थ होने से बहुत पहले ऊपर ही लिये जाते हैं।

श्रीअरविंद—हां, उनके यहां होने से बहुत पहले।

शिष्य—तब तो इस बारे में निश्चय पहले ही हो चुका होगा कि सत्य भौतिक स्तर पर सफल होगा या नहीं।

श्रीअरविंद—हो सकता है लेकिन हो सकता है कि वह तुम्हें बतलाया न जाये। तुम्हें अज्ञान के क्षेत्र में ही काम करना होगा। कौन कह सकता है ? हमें पता नहीं।

शिष्य—अगर हमें निर्णय का पहले से पता हो तो सारा रस जाता रहेगा।

श्रीअरविंद—अज्ञान आशीर्वाद है।

शिष्य—उत्तम पुरुष बहुवचन को भले पता न हो, मैं उत्तम पुरुष एकवचन के बारे में पूछ रहा हूं।

दूसरा शिष्य—अगर निश्चय हो चुका है तो यह भी ठीक हो चुका होगा कि इस बार सफलता मिलेगी या नहीं।

श्रीअरविंद—निश्चय, कहां?

शिष्य—वहां (ऊपर)।

श्रीअरविंद—मैं कह सकता हूं क्योंकि मैं वहां के निश्चय को जानता हूं और इस बात में तनिक संदेह की छाया तक नहीं है कि एक दिन सफलता अवश्य मिलेगी। प्रश्न इतना ही है कि क्या सफलता हमारे द्वारा, हमारे प्रयासों से मिलेगी।

शिष्य—अगर इस बार सफलता न मिले तो क्या ज्योति लौट जायेगी?

श्रीअरविंद—वह लौट भी सकती है और प्रतीक्षा भी कर सकती है। प्रश्न यह है कि क्या भौतिक जगत् ज्योति को स्वीकार करने के लिये तैयार है? आजतक जब कभी सत्य आया है तो भौतिक ने उसे स्वीकार नहीं किया।

शिष्य—जब आप कहते हैं कि यूरोपीय मन जड़वादी होता है तो इसका क्या मतलब होता है?

श्रीअरविंद—यूरोपीय जड़वाद से हमारा मतलब है वह मनोवृत्ति जो जड़ भौतिक को विकास का आधार मानकर चलती है और वह जिस चीज की अभ्यस्त नहीं है उसे मानने से इंकार करती है।

मैं यूरोपीय मन की निंदा नहीं कर रहा, वह अपने तरीके से बहुत अच्छा है, लेकिन हम भौतिक सत्ता में एक निर्णायक परिवर्तन लाने की कोशिश कर रहे हैं। यूरोपियन इसमें उल्टी भूल भी करते हैं, ऐसे यूरोपीय जो ऐसे जड़वादी सूत्र को मानने से इंकार करते हैं जो मन को भौतिक से बांधे रखना चाहता है, उसके बदले वे प्राणिक शक्तियों को सच्चे देवों के रूप में मानते हैं। उदाहरण के लिये ऐसे लोग जो अतीन्द्रिय शोध, स्वतः-लेखन, अतीन्द्रिय संचार माध्यमों द्वारा परीक्षण करते हैं।

शिष्य—क्या आपका कहना है कि भौतिक नियम भी बदल जायेंगे?

श्रीअरविंद—नियम से तुम्हारा क्या मतलब है? जो नियम कहलाते हैं वे बहुधा भौतिक के अभ्यास होते हैं। मैं पहले ही बता चुका हूं।

शिष्य—क्या मानव शरीर बदलने के लिये बाधित होगा?

श्रीअरविंद—यह जरूरी नहीं है कि उसे बदलना पड़े। इसमें भौतिक क्रियाओं की संभावनाओं और क्षमताओं में फर्क आ सकता है। इसका मतलब वैश्व भौतिक में परिवर्तन से नहीं है। यह केवल उन्हीं लोगों में होगा जो उच्चतर शक्ति की ओर खुले हुए हैं। अगर अभेद्यों का भेदन हो जाये तो यह एक चमत्कार होगा।

शिष्य—आज विज्ञान की खोजें कम चमत्कारपूर्ण नहीं हैं।

श्रीअरविंद—जड़ भौतिक मन को चमत्कारों की जरूरत होती है। वह भूतकाल के चमत्कारों पर विश्वास करता है, भविष्य के चमत्कारों पर नहीं। वह संतुष्ट तब होता है जब चमत्कार अभ्यासगत हो जाते हैं।

(पुराणीकृत श्रीअरविंद की 'ईवनिंग-टॉक्स' से)

— —* — —

मनुष्यों में भगवान् की एक शक्ति बनकर रहो।

—श्रीमां

कुछ माताजी के बारे में :

कला तथा योग

क्या योगी कलाकार हो सकता है अथवा क्या कोई कलाकार योगी हो सकता है ? कला का योग से क्या संबंध है ?

ये दो वस्तुएं आपस में उतनी विरोधी नहीं जितना तुम समझते हो। ऐसी कोई चीज नहीं है जो योगी को कलाकार होने से अथवा कलाकार को योगी होने से रोके। परंतु योग में प्रवेश करने पर वस्तुओं के मूल्य में एक गभीर परिवर्तन हो जाता है। यह परिवर्तन जैसा कि और चीजों के संबंध में होता है वैसा ही कला के संबंध में भी होता है। तुम कला को बिलकुल दूसरे ही दृष्टि-बिन्दु से देखने लगते हो। अब कला तुम्हारे लिये एकमात्र परम वस्तु नहीं रह जाती कि तुम उसीमें पूर्ण रूप से तन्मय हो जाओ जो तुम्हारे जीवन का लक्ष्य हो। कला एक साधन है, साध्य नहीं; यह भाव-व्यंजना का एक साधन है। और तब कलाकार यह समझना छोड़ देता है कि सारा संसार ही उसकी कलाकृति को मुग्ध होकर देख रहा है अथवा यह कि उसकी रचना ही संसार की अबतक की रचनाओं में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। अब उसके व्यक्तित्व का कोई मूल्य नहीं रहता; वह तो एक प्रतिनिधि होता है, एक माध्यम होता है, और उसकी कला भगवान् के साथ उसके संबंध को व्यक्त करने का एक साधन। और इस प्रयोजन के लिये वह अपनी कला का ठीक उसी तरह उपयोग करता है, जैसे अपनी प्रकृति के किसी अन्य साधन का।

परंतु योग-साधना आरंभ करने के बाद भी क्या कलाकार की किसी रचना को करने की प्रवृत्ति होती है ?

उसमें यह प्रवृत्ति क्यों नहीं होनी चाहिये ? वह भगवान् के साथ अपने संबंध को अपनी कला के द्वारा ठीक उसी तरह व्यक्त कर सकता है जैसे किसी अन्य साधन के द्वारा। यदि तुम चाहते हो कि कला सच्ची और उत्कृष्टतम हो तो उसे इस जड़ प्राकृतिक जगत् में उतारी गयी किसी दिव्य जगत् की अभिव्यक्ति होना चाहिये। सभी सच्चे कलाकारों को इस तरह का कुछ अनुभव होता है, कुछ ऐसा भान होता है कि वे किसी उच्चतर जगत् और इस भौतिक जगत् के बीच एक माध्यम हैं। यदि तुम इस दृष्टि से देखो तो कला योग से बहुत भिन्न नहीं है। परंतु बहुधा कलाकारों को एक अस्पष्ट-सा अनुभवमात्र होता है, उन्हें ज्ञान नहीं होता। तब भी, मैं कुछ कलाकारों को जानती थी जिन्हें यह ज्ञान था, वे ज्ञान के साथ अपनी कला-रचना करते थे, उन्होंने रचनाओं में अपने व्यक्तित्व को सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व के रूप में आगे नहीं रखा; उन्होंने अपने कार्य को भगवान् की भेंट के रूप में लिया और उसके द्वारा भगवान् के साथ अपने संबंध को व्यक्त करने की कोशिश की।

मध्यकालीन युग में कला का माना हुआ उद्देश्य यही था। आदिकालीन चित्रकारों में, मध्यकालीन यूरोप के गिरजाघरों के निर्माताओं में कला के संबंध में और कोई ख्याल न था। भारतवर्ष की स्थापत्य-कला, मूर्तिकला और चित्रकारी, सब कुछ इसी मूल भाव से उत्पन्न हुई हैं और इन सबकी प्रेरणा इसी आदर्श से हुई थी। मीराबाई के भजनों का, त्यागराज के संगीत का, भारत के भक्तों, संतों और ऋषियों के काव्य-साहित्य का स्थान संसार की सर्वोत्कृष्ट कला-संपत्ति में है।

परंतु कोई कलाकार यदि योग-साधना करता है तो क्या इससे उसकी कलाकृति में कोई उन्नति होती है ?

कला की साधना के मूल में भी वही सिद्धांत है जो योग-साधना में। दोनों का उद्देश्य अधिकाधिक सचेतन होना है; दोनों में तुम्हें साधारण दृष्टि और अनुभव से परे की वस्तु को देखना और अनुभव करना होता है, अंतर में जाकर गभीरतर वस्तुओं को बाहर लाना सीखना पड़ता है। चित्रकारों को अपने नेत्रों की चेतना की वृद्धि के लिये एक साधना का अनुसरण करना पड़ता है, यह साधना प्रायः योग ही होती है। यदि वे सच्चे कलाकार हैं और बाह्य दृष्टि से परे की वस्तुओं को देखने का प्रयास करते हैं और अपनी कला का उपयोग आंतर जगत् की व्यंजना के लिये करते हैं तो उनकी चेतना इस एकाग्रता द्वारा वृद्धि को प्राप्त होती है और यह चेतना योग के द्वारा मिलनेवाली चेतना से भिन्न नहीं होती। तो फिर कला यौगिक चेतना-संबंधी रचना में सहायक क्यों न हो ? मैं कुछ ऐसे लोगों को जानती हूं जिन्हें बहुत कम प्रशिक्षण मिला था और जो बहुत कुशल नहीं थे, फिर भी उन्होंने योग द्वारा लेखन-कला और चित्रकारी की अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली थी। मैं तुम्हें दो उदाहरण दे सकती हूं। इसमें एक लड़की थी जिसे किसी तरह की शिक्षा नहीं मिली थी; वह नर्तकी थी और साधारणतया अच्छा नाच लेती थी। योग आरंभ करने पर वह केवल अपने मित्रों के आगे ही नाचती थी, किंतु अब उसके नृत्य की भाव-व्यंजना और सुंदरता में एक ऐसी गहराई आ गयी जो पहले नहीं थी; और यद्यपि वह शिक्षिता नहीं थी फिर भी आश्चर्यजनक लेख लिखने लगी; क्योंकि उसे सूक्ष्म जगतों के दृश्यों का दर्शन होता था और वह उनका वर्णन अत्यंत सुंदर भाषा में करती थी। परंतु उसके योग में उतार-चढ़ाव आता था, और जब वह अच्छी अवस्था में होती तब तो सुंदर ढंग से लिखती, अन्यथा सर्वथा मंद, मूर्ख और रचना शक्तिविहीन हो जाती थी। दूसरा उदाहरण एक लड़के का है जिसने कला का अध्ययन किया था, किंतु बिलकुल थोड़ा-सा। वह किसी कूटनीतिज्ञ का लड़का था, उसे कूटनीतिक जीवन की शिक्षा दी गयी थी पर वह भोग-विलास में रहता था और अधिक शिक्षा न पा सका। फिर भी, ज्यों ही उसने योग करना आरंभ किया त्यों ही वह अंतःप्रेरित चित्र बनाने लगा जिनमें किसी आंतरिक ज्ञान की अभिव्यक्ति झलकती थी और जो प्रतीकात्मक होते थे; अंत में वह एक महान् कलाकार हुआ।

कलाकार प्रायः अनियमित आचरणवाले और चरित्र-भ्रष्ट क्यों होते हैं ?

जब वे ऐसे होते हैं तो इसका कारण यह होता है कि वे साधारणतया प्राणमय भूमिका में रहते हैं और उनका प्राण-भाग उस जगत् की शक्तियों के प्रति अत्यंत संवेदनशील होता है और उस जगत् के साथ नाना प्रकार के प्रभावों और आवेगों को ग्रहण करता रहता है जिन्हें वश में रखने की शक्ति उनमें नहीं होती। और बहुधा उनके विचार बहुत स्वतंत्र होते हैं और साधारण मनुष्य का जीवन जिन तुच्छ सामाजिक रूढ़ियों और नैतिक प्रथाओं द्वारा नियंत्रित होता है उनमें वे विश्वास नहीं करते। चाल-चलन-संबंधी प्रचलित नियमों से तो वे अपने को बंधा हुआ महसूस नहीं करते और उन्हें वह आंतरिक नियम प्राप्त नहीं होता जो इनका स्थान ले सके। चूंकि उनके अंदर वासना-पुरुष की गतियों को रोकने के लिये कोई चीज नहीं होती इसलिये उनका जीवन आसानी से स्वच्छन्द या असंयमित हो जाता है। परंतु सभी की यह हालत नहीं होती। मैं दस वर्ष तक कलाकारों के बीच रही हूं और अनेकों को सोलह आने सद्गृहस्थ पाया; वे विवाहित थे और व्यवस्थित जीवन बिताते थे, अच्छे पिता थे, अच्छे पति थे तथा क्या करना चाहिये और क्या नहीं, इस विषय के जो नैतिक सिद्धांत हैं उनका अपने जीवन में अत्यंत कठोरतापूर्वक पालन करते थे।

एक कारण है जिससे योग कलाकार की सर्जनात्मक प्रेरणा को बंद कर सकता है। यदि उसकी कला का मूल प्राणमय जगत् में हो तो ज्यों ही वह योगी बनेगा उसकी प्रेरणा चली जायेगी, अथवा यूं कहो कि जिस मूल से उसे प्रेरणा मिलती थी वह उसे प्रेरित नहीं करेगा क्योंकि तब प्राणमय जगत् अपने सच्चे स्वरूप में उसकी आंखों के सामने आ जाता है, वह अपने सच्चे मूल्य को धारण कर लेता है, और यह मूल्य बहुत ही सापेक्ष होता है। अपने को कलाकार कहनेवाले अधिकतर व्यक्ति केवल प्राणमय जगत् से ही प्रेरणा प्राप्त करते हैं और इस प्रेरणा में कोई उच्च या महान् अर्थ नहीं होता। परंतु जब कोई सच्चा कलाकार, ऐसा कलाकार, जो यह चाहता है कि उसकी रचना का मूल किसी उच्चतर जगत् में हो, योग की ओर मुड़ेगा तो वह देखेगा कि उसकी प्रेरणा अधिक सीधी और शक्तिशाली हो गयी है तथा उसकी भाव-व्यंजना अधिक स्पष्ट और अधिक गभीर। जिनके पास सच्चा कला-धन है उनका यह धन योग की शक्ति से बढ़ जायेगा, किंतु जिसमें कला का मिथ्या दिखावा होगा, उनका वह दिखावा भी गायब हो जायेगा या उसका आकर्षण जाता रहेगा। जिसे योग की सच्ची लगन हो उसे सूक्ष्म दृष्टि के खुलते ही सबसे पहली चीज यह दिखायी देगी कि वह जो कुछ करता है वह विश्वव्यापी अभिव्यक्ति, विश्वव्यापी गति की तुलना में अत्यंत सापेक्षिक होता है। परंतु कलाकार बहुधा मिथ्याभिमानी होता है और अपने-आपको अत्यंत महत्त्वपूर्ण व्यक्ति, मानव जगत् में एक प्रकार का अर्धदेवता समझता है। बहुत-से कलाकार कहते हैं कि यदि वे यह न मानें कि वे जो कुछ कर रहे हैं वह परम महत्त्वपूर्ण है तो वे कुछ कर ही न सकेंगे। परंतु मेरा कुछ ऐसे कलाकारों से परिचय रहा है जिन्हें किसी उच्चतर जगत् से प्रेरणा मिलती थी फिर भी उनकी यह धारणा नहीं थी कि वे जो कुछ करते हैं वह बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह भाव कला के सच्चे भाव के अधिक समीप है। यदि कोई मनुष्य कला के अंदर अपने-आपको अभिव्यक्त करने के लिये वास्तव में प्रेरित हुआ है तो उसका अर्थ है कि भगवान् उसके अंदर इस तरह प्रकट होना चाहते हैं, और तब योग से उसकी कला को लाभ ही होगा, हानि नहीं। परंतु सारा सवाल यही है : क्या कलाकार को भगवान् ने नियुक्त किया है अथवा वह अपने-आप ही नियुक्त हो गया है ?

परंतु कोई यदि योग-साधना करता है तो क्या वह शेक्सपियर या शेली जैसा उच्च कोटि का कलाकार हो सकता है ? ऐसा कोई उदाहरण तो नहीं मिलता।

क्यों नहीं, महाभारत और रामायण शेक्सपियर या अन्य किसी भी कवि की काव्य-रचना से नीचे हर्गिज नहीं हैं और इनके बारे में कहा जाता है कि ये उन मनुष्यों की कृति हैं जो ऋषि थे तथा जिन्होंने यौगिक तपस्या की थी। गीता, जिसका स्थान उपनिषदों की ही तरह एक श्रेष्ठतम साहित्यिक और श्रेष्ठतम आध्यात्मिक पुस्तकों में है, किसी ऐसे व्यक्ति द्वारा नहीं लिखी गयी जिसे योग का अनुभव न हो। और भारतवर्ष या फारस या अन्य स्थानों के संतों, सूफियों या भक्तों की रची हुई विख्यात कविताओं में तुम्हारे मिल्टन और शेली की रचनाओं से क्या कोई न्यूनता है ? और फिर क्या तुम समस्त योगियों को और उनकी कृतियों को जानते हो ? क्या तुम कह सकते हो कि कौन-सा कवि और रचयिता भगवान् के सचेतन संपर्क में था और कौन-सा नहीं ? कुछ लोग ऐसे हैं जो योगी नहीं कहाते, वे गुरु नहीं हैं, न उनके कोई चेले-चांटे हैं, संसार नहीं जानता वे क्या करते हैं, वे ख्याति के लिये लालायित नहीं हैं और अपनी ओर मनुष्यों का ध्यान आकर्षित नहीं करते; परंतु उनमें उच्चतर चेतना है, वे किसी भागवत शक्ति के संस्पर्श में हैं, और जब वे कोई रचना करते हैं तो वहीं से करते हैं। भारतवर्ष की सर्वोत्कृष्ट चित्रकारियों, सर्वोत्तम मूर्तियों और इमारतों के अधिकांश भाग को बौद्ध भिक्षुओं ने बनाया था जिनका जीवन आध्यात्मिक मनन और साधना में ही बीता। उन्होंने उत्कृष्टतम कला-रचनाएं कीं, किंतु भावी संतति के लिये अपना नाम छोड़ जाने की परवाह

नहीं की। योगी अपनी कला द्वारा साधारणतया विख्यात क्यों नहीं हैं, इसका प्रधान कारण यह है कि वे कला-व्यंजना को अपने जीवन का प्रमुखतम भाग नहीं मानते और इसमें एक निरे कलाकार के जितना समय और शक्ति खर्च नहीं करते और वे जो कुछ रचते हैं वह सदा जन-साधारण तक पहुंचता भी नहीं। कितने ही ऐसे हैं जिन्होंने महान् कला-रचनाएं कीं किंतु उन्हें संसार में प्रकाशित नहीं किया !

क्या योगियों ने शेक्सपियर से बढ़िया नाटक लिखे हैं ?

एक लेखक ने मुझसे एक दिन कहा कि नाटक की कला अन्य कलाओं से ऊंचे दर्जे की है और स्वयं कला तो जीवन से भी अधिक महान् है। परंतु यह बात ठीक ऐसी ही नहीं है। कलाकार का यह समझना, यह विश्वास करना भूल है कि कला-संबंधी रचना कोई ऐसी चीज है जो स्वयं अपने-आप में स्थित है, अपने-आपके लिये है और संसार के अन्य विभागों से स्वतंत्र है। इन कलाकारों ने कला को ऐसा समझा है मानों जीवन के विशाल क्षेत्र पर यह एक क्षणजीवी पदार्थ की तरह है; कोई ऐसी चीज है जो नैमित्तिक और बाह्य है; कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसके साथ जीवन की घनिष्ठता हो। इनके अनुसार कला गभीर और स्थायी वस्तु-सत्ताओं तक नहीं पहुंचती, उनका स्पर्श नहीं करती, कला जीवन का कोई यथार्थ और अविभाज्य अंग नहीं बनती। सच्ची कला से अभिप्रेत है उस परम सुंदर की अभिव्यंजना, लेकिन यह व्यंजना होगी विश्व गति के साथ अंतरंग घनिष्ठता रखते हुए। संसार के बड़े-से-बड़े राष्ट्रों ने और संसार की सर्वोच्च संस्कृत जातियों ने कला को सदा ही जीवन का एक भाग माना है और उन्होंने इसको जीवन की सेवा करने के उपयोगी बनाया है। जापान में कला का जो सर्वोत्कृष्ट काल था उसमें कला ऐसी ही थी; कला के इतिहास के जो सर्वोत्कृष्ट काल हैं उन सबमें कला का यही स्वरूप था। परंतु अधिकतर कलाकार जीवन के प्रांत भाग पर परिपुष्ट होनेवाले परोपजीवी जंतुओं की तरह होते हैं। वे शायद यह नहीं जानते कि कला तो जीवन में और जीवन के द्वारा भगवान् की अभिव्यक्ति-स्वरूप ही होनी चाहिये। प्रत्येक वस्तु में, सर्वत्र, प्रत्येक संबंध में सत्य को ही उसके सर्वग्राही छंद में प्रकाशित करना चाहिये तथा जीवन की प्रत्येक गति सौंदर्य और सामंजस्य की एक अभिव्यक्ति-स्वरूप होनी चाहिये। कौशल कला नहीं है, प्रवीणता कला नहीं है। कला तो जीता-जागता सामंजस्य और सौंदर्य है जिसे जीवन की समस्त गतियों में अभिव्यक्त करना चाहिये। सौंदर्य और सामंजस्य की वह अभिव्यक्ति पृथ्वी पर भगवान् के साक्षात्कार का एक अंग है, शायद उसका महत्तम अंग है।

कारण, विज्ञानमय दृष्टिकोण से सौंदर्य और सामंजस्य उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं जितनी कि भगवान् की अन्य कोई भी अभिव्यक्ति। परंतु इनको अलग करके नहीं देखना चाहिये, समग्रता में से बाहर नहीं निकाल लेना चाहिये; जीवन की जो समग्र रूप अभिव्यक्ति है उसके साथ इनको एक करके रखना चाहिये। लोगों को यह कहने की आदत है : 'अरे, यह तो कलाकार है।' मानों कलाकार अन्य मनुष्यों के बीच एक मनुष्य नहीं है, बल्कि वह किसी दूसरे ही समाज से संबंध रखनेवाला कोई असाधारण व्यक्ति है, तथा उसकी कला भी कोई असाधारण और निराली चीज है जिसे संसार की साधारण वस्तुओं के जैसा नहीं समझा जाना चाहिये। 'कला कला के लिये' वाली कहावत भी इसी भूल को सत्य के नाम से सुझाने और समझाने की चेष्टा करती है। यह भूल वैसी ही है जैसी कि लोग उस समय करते हैं जब वे किसी मढ़ी हुई तसवीर को अपने बैठकखाने के बीचों-बीच —कमरे के अन्य सरोसामान और दरोदीवार के साथ उसका कुछ भी मेल न होते हुए—रख देते हैं, यह तसवीर वहां केवल इसलिये रखी जाती है क्योंकि वह एक कला-रचना है।

आत्मान्वेषण

मां, यहां जो प्रश्न किया गया है, मैं उसे नहीं समझ पाया : "अगर हमारी इच्छा केवल विश्व 'इच्छा' की अभिव्यक्ति या प्रतिध्वनिमात्र है तो व्यक्तिगत उपक्रम का स्थान ही कहां है ? क्या व्यक्ति वैश्व गतियों का अभिलेखी यंत्र-भर है ? क्या उसमें सर्जन या प्रारंभ करने की कोई शक्ति नहीं है ?"

आह ! और मैं भी नहीं समझ पायी। जब ये प्रश्न मुझसे पूछे गये थे तो इनका उत्तर देने में मुझे बहुत अधिक कठिनाई हुई थी क्योंकि ये वस्तुओं की मेरी समझ के एकदम बाहर थे। अभी जब मैंने यह प्रश्न पढ़ा तो मेरी कहने की इच्छा हुई : "मुझे खेद है, जिसने यह प्रश्न किया था उसकी चेतना और उसके विचार, दोनों बहुत उलझे हुए थे। वह सब चीजों में घपला कर रही थी।" क्योंकि यहां तीन चीजें मिला दी गयी हैं।

सबसे पहले, न मालूम उससे यह किसने कहा कि हमारी इच्छा विश्व 'इच्छा' की अभिव्यक्ति या प्रतिध्वनिमात्र है . . . । शायद मैंने पहले कहीं कहा था कि केवल **एक** ही 'इच्छा' है और वह व्यक्तिगत चेतना में अनूदित या विकृत होती है और आदमी इसी 'इच्छा' को अपनी इच्छा मान लेता है। मैंने शायद कुछ ऐसा कहा होगा कि हमारी इच्छा सचमुच इस तथ्य से हमारी बनती है कि वह अपने-आपको प्रारंभिक वैश्व 'इच्छा' से अलग कर लेती है, वह इतनी विकृत हो जाती है कि वह भागवत इच्छा से जरा भी मेल नहीं खाती। यह बात उसके सिर में घूमती रही होगी और उसने पूछ लिया कि क्या हमारी इच्छा वैश्व 'इच्छा' की अभिव्यक्ति या प्रतिध्वनिमात्र है।

तब वैयक्तिक उपक्रम का स्थान ही कहां रहता है . . . यानी, व्यक्ति क्या कर सकता है ? क्या वह कह सकता है : "इसका फैसला मैंने किया है, यह मैंने, मैंने फैसला किया है ?" तब दूसरा प्रश्न; किंतु इसे मैं बिलकुल नहीं समझ पाती : "क्या व्यक्ति केवल वैश्व गतियों का अभिलेखी यंत्र मात्र है ?" इसका मतलब क्या है ? मैं ठीक तरह नहीं समझ पायी कि वह क्या कहना चाहता है। एक अभिलेखी यंत्र ? शायद ग्रामोफोन, हां, विश्व गतियों का अभिलेखन करने के लिये . . . । पहली बात तो यह है कि ऐसे लोग बहुत ही कम हैं जो वैश्व गतियों का अभिलेखन कर सकते हैं। साधारणतः, वे अपने छोटे-से परिवेश की गतियों का अभिलेखन कर सकते हैं, सिर्फ अपनी और अपने चारों ओर की गतियों का। और फिर, एक तीसरा विचार भी जोड़ दिया गया है : "क्या उसमें सृजन की कोई शक्ति नहीं है ?" यह एक और ही चीज है। लेकिन मैंने उत्तर दे दिया (शायद तब मैं उसके कहने का मतलब आज की अपेक्षा ज्यादा अच्छी तरह समझ पायी थी !), मैंने उत्तर दिया, क्योंकि मैं आगे चलकर तीन चीजों की बात कहती हूं। मैंने कहा कि व्यक्ति केवल तभी सर्जक बन सकता है जब वह अपनी चेतना में उच्चतम 'चेतना' तक पहुंचता है जो सभी चीजों का मूल है। यानी, अगर वह सर्जनशील चेतना के साथ एक हो जाये जो वह स्वभावतः है, वह सर्जनशील 'चेतना' बन जाता है। अगर वह तादात्म्य स्थापित करता है तो तादात्म्य हो जाता है।[१]

तो, इस प्रश्न में कौन-सी बात तुम्हें परेशान कर रही थी ? तुम क्या नहीं समझे थे ?

सारा प्रश्न ही।

[१] "अगर कोई व्यक्ति इस तरीके से एक विचार या एक संवेदन या एक क्रिया या एक किसी भी चीज की सृष्टि कर सके तो वह सारी सृष्टि का स्रष्टा बन जायेगा . . . । वह सचेतन 'शक्ति' के साथ तादात्म्य करके ही, जो सभी गतियों का अंतिम उद्गम है, किसी गति का आरंभ कर सकता है।"

प्रश्न और उत्तर १९२९ (२६ मई)

सारा प्रश्न ? और अब समझ गये ? . . . पूरी तरह नहीं ? मैंने कहा था कि तुम इसलिये नहीं समझे क्योंकि यह खिचड़ी है; एक ही प्रश्न में तीन अलग-अलग विचार घुसा दिये गये हैं और इससे स्वभावतः गड़बड़ पैदा हो गयी। लेकिन इन्हें अलग-अलग लिया जाये तो ये वही हैं जो मैंने अभी बतलाये हैं, अधिक संभव यही है। यानी, व्यक्ति के अंदर यह बिलकुल अज्ञानमय और विपरीत चेतना होती है और उसे विश्वास होता है कि वह स्वयं अपना कारण और कार्य, मूल और परिणाम है, दूसरों से अलग है। वह अलग है और उसमें दूसरों पर क्रिया करने की सीमित शक्ति है और दूसरों की गति से चालित होने की, दूसरे के प्रभाव पर प्रतिक्रिया करने की जरा अधिक क्षमता है। साधारणतः लोग ऐसा ही सोचते हैं, कुछ-कुछ इसी तरह, है न ? तुम्हें कैसा लगता है, तुम ? तुम्हारा अपने ऊपर क्या प्रभाव होता है ? और तुम ? और तुम ? . . .

तुमने इस विषय में कभी नहीं सोचा ? तुमने कभी अपने अंदर यह देखने के लिये नजर नहीं डाली कि तुम्हारा अपने ऊपर क्या प्रभाव होता है ? कभी सोचा नहीं इस बारे में ? नहीं ? तुम्हें कैसा लगता है ? . . . कोई नहीं बतलायेगा ? चलो, तुम बताओ। कभी जानने की कोशिश नहीं की कि कैसा लगता है ? हां ? नहीं ? क्या अजीब है ! उदाहरण के लिये, तुमने कभी यह जानने की कोशिश ही नहीं की कि तुम्हारे अंदर फैसले किस तरह किये जाते हैं ? वह कौन-सी चीज है जो तुमसे एक की जगह दूसरा फैसला करवाती है ? और तुम्हारे फैसले और तुम्हारी क्रिया में क्या संबंध है ? और एक या दूसरी चीज के बीच चुनाव करने की तुम्हें कितनी आजादी है ? और तुम्हें किस हद तक यह लगता है कि तुम यह या वह करने के लिये या कुछ न करने के लिये आजाद हो ? . . . तुमने इस पर विचार किया है ? हां ? क्या विद्यार्थियों में कोई ऐसा है जिसने इस बारे में सोचा हो ? नहीं ? किसी ने भी अपने-आपसे यह प्रश्न नहीं पूछा ? तुम ? तुम ? . . .

अगर कोई सोचता भी है तो संभवतः वह उत्तर नहीं दे सकता।

समझा नहीं सकता ?

नहीं।

यह समझाना कठिन है ? यह सरल-सी बात अपनी चेतना में देखो, कौन-सी इच्छा-शक्तियां बाहर से आती हैं और तुम्हारी इच्छा-शक्ति से मिलती हैं (जिसे तुम अपनी इच्छा कह सको, जो अंदर से आती हो), किस जगह दोनों मिलती हैं और किस हद तक बाहर से आनेवाली भीतरी पर क्रिया करती है और भीतरी बाहरी पर क्रिया करती है ? तुमने कभी पता लगाने की कोशिश नहीं की ? तुम्हें यह बात कभी असह्य नहीं लगी कि कोई इच्छा बाहर से आये और तुम्हारी इच्छा पर क्रिया करे ? नहीं ?

मुझे पता नहीं।

ओह ! मैं बड़ी कठिन समस्याएं रख रही हूं। लेकिन, मेरे बच्चो, मैं इन बातों में तब से लगी थी जब मैं पांच वर्ष की बच्ची थी ! . . . मैंने सोचा था कि तुम भी काफी समय से इन बातों में लगे होगे।

हमारे अंदर ही परस्पर-विरोधी इच्छाएं होती हैं।

हां, बहुत-सी। यह सबसे पहली खोजों में से एक है। एक भाग चीजों को इस तरह चाहता है; और फिर अगले क्षण किसी और तरह, और तीसरी बार किसी और ही तरह। इसके अलावा, यह भी होता है : एक चीज कुछ चाहती है और दूसरी ना करती है। तो ? लेकिन ठीक यही चीज है जिसका तुम्हें पता लगाना चाहिये अगर तुम अपने-आपको संगठित करने की जरा भी इच्छा रखते हो। सिनेमा की तरह अपने-आपको परदे पर प्रक्षिप्त कर लो और फिर अपने-आपको उस पर चलते देखो, कैसा मजेदार है यह !

यह पहला कदम है।

तुम अपने-आपको परदे पर प्रक्षिप्त करो और फिर जो कुछ गतिशील है उसे देखो, वह कैसे गति करता है और क्या होता है। तुम एक छोटा-सा नक्शा बना लो, यह बहुत मजेदार हो जाता है। और तब, कुछ देर बाद, जब तुम देखने के बिलुकल अभ्यस्त हो जाओ, तुम और एक कदम बढ़ सकते हो और एक निश्चय कर सकते हो। या इससे भी बड़ा कदम : तुम व्यवस्थित कर सकते हो—सजा सकते हो, हर चीज को लेकर, हर चीज को उसके स्थान पर रखो, इस तरह व्यवस्थित करो कि सीधी, सार्थक गति हो सके। तब तुम अपनी दिशा के बारे में सचेतन होकर कह सकते हो : "बहुत अच्छा, ऐसा होगा; मेरा जीवन इस तरह विकसित होगा, क्योंकि यही मेरी सत्ता का तर्क है। अब, मैंने इस सबको अपने अंदर व्यवस्थित कर लिया है। हर चीज अपने स्थान पर रख दी गयी है, इसलिये स्वभावतः एक केंद्रीय स्थितिविन्यास हो रहा है। मैं इस स्थितिविन्यास के अनुसार चल रहा हूं। एक कदम और, और मुझे पता होगा कि मुझे क्या होगा क्योंकि मैं ही उसका निश्चय कर रहा हूं . . .।" मैं नहीं जानती, मैं तुम्हें यह सब सुना रही हूं; मुझे यह सब बहुत ही ज्यादा मनोरंजक लगता था, संसार में सबसे ज्यादा मनोरंजक। ऐसी कोई चीज न थी, कुछ भी न था, जो मेरे लिये इससे ज्यादा मजेदार हो।

यह मेरे साथ तब हुआ . . . मैं पांच या छः या सात वर्ष की थी (सात की अवस्था में यह चीज बहुत गंभीर हो गयी थी)। मेरे पिताजी को सरकस बहुत पसंद था। उन्होंने आकर मुझसे कहा : "मेरे साथ चलो, मैं रविवार को सरकस देखने जा रहा हूं।" मैंने कहा : "नहीं, मैं सरकस देखने की अपेक्षा बहुत ज्यादा मजेदार काम कर रही हूं।" या फिर, मेरे छोटे मित्र किसी जगह मिलने के लिये बुलाते जहां सब मिलकर खेलने और मौज करनेवाले थे और मैं कहती : "नहीं, मुझे यहां बहुत मजा आता है . . .।" और बात बहुत सच्ची थी। मैं बन न रही थी : मेरे लिये चीज ऐसी ही थी, यह बिलकुल सच था। सारी दुनिया में इससे बढ़कर सुखद कुछ न था।

और मुझे विश्वास है कि जो भी उसी उत्साह और सचाई के साथ यह करेगा उसे आनंददायक परिणाम मिलेंगे . . .। इस सबको अपने सामने परदे पर रखना और जो कुछ हो रहा है उसका अवलोकन करना। और पहला कदम है, जो कुछ हो रहा है उसे जानना और तब तुम्हें यह कोशिश करनी चाहिये कि अगर कोई चीज तुम्हें अप्रिय लगती है तो उसके आगे आंखें बंद न कर लो ! तुम्हें आंखें पूरी तरह खुली रखनी चाहिये और इस तरह, हर चीज को इसी तरह सामने परदे पर रखना चाहिये। तब तुम एक मजेदार खोज करते हो। और तब अगला कदम है यह कहना : "चूंकि यह सब मेरे अंदर हो रहा है तो मैं इस चीज को इस तरह और उस चीज को उस तरह और फिर इस चीज को यूं क्यों न रखूं ? क्या इस तरह मैं कुछ अधिक तर्कसंगत, सार्थक चीज न करूंगा ? मैं उस चीज को हटा क्यों न दूं जो रास्ता रोक रही है, ये परस्पर-विरोधी इच्छाएं ? क्यों ? और सत्ता में इसका क्या अर्थ है ? यह यहां क्यों है ? अगर इसे वहां रखा जाये, क्या यह मुझे नुकसान पहुंचाने की जगह फ़ायदा न पहुंचायेगी ?" और इसी तरह।

और थोड़ा-थोड़ा करके, थोड़ा-थोड़ा करके, तुम ज्यादा स्पष्ट देखते हो और तब तुम देखते हो कि तुम्हें इस तरह क्यों बनाया गया है, वह कौन-सी चीज है जो तुम्हें करनी है—जिसके लिये **तुमने जन्म लिया है**। और तब, बिलकुल स्वाभाविक रूप से, चूंकि सब कुछ इस चीज के आने के लिये व्यवस्थित किया गया

है, रास्ता सीधा हो जाता है और तुम पहले से कह सकते हो : "यह इस तरह होगा।" और जब चीजें आकर इस सबको अस्तव्यस्त करना चाहती हैं तो तुम कह सकते हो : "नहीं, मैं इसे स्वीकार करता हूं, इससे सहायता मिलती है; मैं उसे अस्वीकार करता हूं, वह नुकसान पहुंचाती है।" और फिर, कुछ बरसों के बाद तुम अपने-आपको उसी तरह वश में कर सकते हो जैसे कोई घोड़े को वश में करता है : तुम जो चाहते हो करते हो और जैसे चाहो वैसे करते हो और जहां चाहते हो वहां जाते हो।

मुझे लगता है कि यह कष्ट उठाने लायक है। मेरा ख्याल है कि यह सबसे ज्यादा मनोरंजक है।

मां, यह छोटा पर्दा क्या है ?

यह परदा ? चैत्य चेतना।

और यह लीला ?[१]

लीला ? यह केंद्रीय चेतना का खेल है। ठीक यही वह चेतना है जो चैत्य पुरुष के मूल में है। और तब तुम्हें यह जानने के लिये कि यह चैत्य चेतना उस परम 'चेतना' को किस तरह प्रतिबिंबित और अनूदित करे, तुम्हें एक छोटा-सा कदम और लेना पड़ता है। और मामला यहीं समाप्त हो जाता है। यह अंतिम चरण बहुत सरल हो जाता है।

लेकिन इस रहस्य की खोज अंत में होती है। और जब वह मिल जाये तो फिर और संघर्ष नहीं रहता, क्योंकि युद्ध पहले ही लड़ा जा चुका है और सब कुछ व्यवस्थित किया जा चुका है। इसलिये अब चीजें एक गति में, सरल रीति से, जितना संभव है उतने सीधे और स्वाभाविक तरीके से होती हैं और कोई प्रतिक्रिया नहीं होती।

मेरा ख्याल है कि जब पुराने जमाने के मनीषी कहा करते थे : "अपने-आपको जानो", तो उनका यही मतलब होता था। और कुछ नहीं। लेकिन फिर, वहां मानों आंखों पर पट्टी बांधकर, अपनी नाक या अपना सिर किसी कठोर चीज के साथ टकराकर यह जानने की जगह कि वह कठोर है या एक दीवार या बंद दरवाजा या कोई बाधा या कोई दुर्भावना है; इस सबके बजाय, इसमें बरसों परीक्षण करने, सब प्रकार की मुसीबतों और न्यूनाधिक अप्रिय परिस्थितियों में से गुजरने की जरूरत नहीं है, अपने-आपको जानना सीखने के लिये : तुम चुपचाप काम करो, जैसा कि मैंने बतलाया है।

जब मैंने यह किया था, तब सिनेमा नहीं था, इसलिये मैं जो कर रही थी उसकी तुलना सिनेमा से न की जा सकती थी—तबतक सिनेमा आया नहीं था, लेकिन यह है एकदम अंदर की चीज को सिनेमा के परदे पर प्रक्षिप्त करने की तरह, उसे प्रकट करना है। और परदा भी एकदम सफेद और चिकना है जो किसी चीज को विकृत नहीं करता। अगर परदा चिकना और एकदम सफेद न हो तो तुम्हारा चित्र बिलकुल धुंधला होगा, तुम कुछ भी न देख पाओगे। यही चीज है। परदा बहुत सफेद, बिलकुल चिकना, बिलकुल साफ और बिलकुल शुद्ध होना चाहिये। तब तुम चीजों को उस रूप में देख सकते हो जैसी वे हैं।

[१] "विश्व लीला में कुछ लोग, अधिकतर, ज्ञानरहित यंत्र हैं, वे ऐसे अभिनेता हैं जिन्हें कठपुतलियों की तरह नचाया जाता है, जो अपने-आप कुछ नहीं जानते। दूसरे ऐसे हैं जो सचेतन हैं और वे यह जानते हुए कि यह एक नाटक है अपनी भूमिका निभाते हैं। और कुछ ऐसे हैं जिन्हें वैश्व गति का पूरा ज्ञान है, वे उसके साथ और एकमेव भागवत चेतना के साथ एक हो चुके हैं, फिर भी इस तरह खेलना स्वीकार करते हैं मानों वे कोई अलग चीज हैं, समग्र का एक भाग। अज्ञान और इस पूर्ण ज्ञान के बीच बहुत-सी मध्यवर्ती अवस्थाएं हैं, लीला में भाग लेने के बहुत-से तरीके हैं।"

प्रश्न और उत्तर १९२९ (२६ मई)

तुम्हारे अंदर बहुत-सी सचाई, थोड़ा साहस और अध्यवसाय, एक प्रकार की मानसिक उत्सुकता होनी चाहिये, समझे; तुम्हें उत्सुक, जानने की कोशिश करनेवाला, रस लेनेवाला और सीखने के लिये इच्छुक होना चाहिये। तुम्हारी प्रकृति में सीखने के लिये प्रेम होना चाहिये। बिलकुल अंधेरी, अस्पष्ट चीज के सामने खड़े होना तुम्हें सहन न करना चाहिये जिसमें कुछ भी स्पष्ट नहीं दिखायी देता है, जो तुम्हें बिलकुल अप्रिय संवेदन देती है, क्योंकि तुम्हें पता नहीं लगता कि तुम कहां से शुरू होते हो और कहां खतम, तुम्हारा क्या है और क्या तुम्हारा नहीं है, क्या निर्धारित हो चुका है और क्या निर्धारित नहीं हुआ—यह लुगदी जैसी चीज क्या है जिसे तुम अपना आपा कहते हो, जिसमें चीजें घुल-मिल जाती हैं और तुम्हारे जाने बिना एक-दूसरे पर क्रिया करती हैं ? तुम अपने-आपसे पूछते हो : "लेकिन मैंने यह क्यों किया ?" तुम्हें उसके बारे में कुछ भी नहीं मालूम। "और मुझे ऐसा क्यों लगा ?" तुम्हें यह भी नहीं मालूम। और तब, तुम बाहर की दुनिया में फेंक दिये जाते हो जो केवल कुहासा है और तुम एक आंतरिक जगत् में फेंक दिये जाते हो, वह भी तुम्हारे लिये एक और तरह का कुहासा है, उसमें घुसना और भी अधिक कठिन है, उसमें तुम ऐसे रहते हो जैसे पानी में फेंका हुआ काग, लहरें उसे बहा ले जाती हैं या हवा में उछाल देती हैं, वह गिरता है और फिर लुढ़कता फिरता है। यह बहुत ही अप्रिय स्थिति है। मैं नहीं जानती, पर मुझे तो यह बहुत ही अप्रिय लगती है।

स्पष्ट देखना, अपना रास्ता देखना, तुम कहां जा रहे हो, वहां क्यों जा रहे हो, वहां कैसे जाया जाये, वहां जाकर क्या करना होगा और वहां औरों के साथ कैसा संबंध होगा . . . । लेकिन यह इतने अद्भुत रूप से मनोरंजक समस्या है—यह मनोरंजक है—और तुम हर क्षण नयी-नयी खोज कर सकते हो ! तुम्हारा काम कभी खतम नहीं हो सकता।

एक ऐसा समय होता है, चेतना की एक प्रकार की स्थिति में तुम्हें लगता है कि उस स्थिति में सारी दुनिया का भार तुम्हारे ऊपर लदा है, तुम आंखों पर अंधेरी डाले जा रहे हो, तुम्हें पता नहीं तुम कहां जा रहे हो, लेकिन कोई चीज है जो तुम्हें धकेल रही है। और वह सचमुच बहुत ही अप्रिय स्थिति है। एक और क्षण ऐसा होता है जब तुम अपने-आपको ऊपर खींच सकते हो, ऊपर जो कुछ है तुम उसे देख सकते हो और वह बन सकते हो। तब तुम जगत् को मानों बहुत ऊंचे पहाड़ पर से देखते हो और नीचे जो कुछ हो रहा है उस सबको देख सकते हो। तब तुम अपना मार्ग चुन सकते और उसपर चल सकते हो। यह ज्यादा सुखद स्थिति है। तो यही सच्ची स्थिति है। निश्चय ही तुम धरती पर **इसीके लिये** हो। सभी व्यक्तिगत सत्ताएं और चेतना के छोटे-छोटे केंद्र इसी काम के लिये बनाये गये थे। जीवन का यही एक हेतु है : व्यक्तिगत सत्ता के प्रतीक रूप स्पंदनों के अमुक योग के बारे में पूरी तरह सचेतन होना, वहां एक व्यवस्था लाना, अपना मार्ग खोजना और उसका अनुसरण करना।

तो, चूंकि लोग इसे नहीं जानते और ऐसा नहीं करते, इसलिये जीवन आकर उनपर यहां आघात करता है : "अरे रे ! चोट लगती है", और एक आघात वहां : "हाय ! चोट लगती है मुझे।" और चीज यूं चलती चली जाती है, सारे समय ऐसा ही होता है। सारे समय लोगों को कहीं-न-कहीं दर्द होता है। वे कष्ट सहते हैं, वे चिल्लाते हैं, वे कराहते हैं। लेकिन इसका बस वही कारण है, कोई और नहीं : उन्होंने वह थोड़ा-सा काम नहीं किया। जब वे बहुत छोटे थे, तब यदि कोई ऐसा होता जो उन्हें यह काम करना सिखाता और वे समय खोये बिना उसे करते तो वे शान से जीवन-यापन करते और कष्ट सहन करने की जगह वे अपनी नियति के सर्वशक्तिमान् स्वामी होते।

इसका यह मतलब नहीं है कि निश्चित रूप से सभी चीजें प्रीतिकर हो जायेंगी। ऐसी बात बिलकुल नहीं है। लेकिन चीजों की ओर तुम्हारी प्रतिक्रिया सच्ची प्रतिक्रिया बन जाती है। कष्ट सहन करने की जगह, तुम कुछ सीखते हो; दुःखी होने की जगह, तुम आगे बढ़ते हो और प्रगति करते हो।

आखिर, मेरा ख्याल है कि तुम यहां पर इसीलिये हो—ताकि कोई तुमसे कह सके : "हां तो, यह कर देखो। यह प्रयास करने योग्य है।" वास्तव में, यह बात तब की जानी चाहिये जब बच्चे बहुत छोटे होते हैं क्योंकि यह चीज उनकी चेतना में न जगायी जाये तो वे न समझ पायेंगे। फिर भी यह बहुत ही छोटे मस्तिष्क के साथ की जा सकती है, पांच वर्ष की अवस्था में तुम्हारा मस्तिष्क बहुत बड़ा नहीं होता। तुम्हें लगता है कि अंतराल हैं, कि बहुत-सी चीजें जानने योग्य हैं पर अजानी हैं। मस्तिष्क अभी बना नहीं है। उसमें एक चेतना है, पूरी तरह सचेतन, ज्योतिर्मय, स्पष्टदर्शी, सब कुछ है; लेकिन उसमें अंतराल हैं और जब तुम उसमें से कुछ निकालना चाहते हो तो वह निकल नहीं पाती। जब तुम बहुत छोटे होते हो तो यही होता है। लेकिन अगर तुम थोड़ा-थोड़ा करके जारी रखो, थोड़ा-थोड़ा, तो जैसे-जैसे विचार आते हैं, वे व्यवस्थित होते जाते हैं और एक ऐसा जमघट बनने की जगह जिसे बाद में व्यवस्थित करना पड़ेगा, वे पहले से ही व्यवस्थित रूप ले लेते हैं। यह एक बड़ा लाभ है।

बहरहाल, तुम अभी बहुत छोटे हो। तुम प्रयास कर सकते हो। हर रोज पांच मिनट के लिये प्रयास करो, अधिक नहीं। अपने-आपको देखो, देखो वहां, अंदर क्या हो रहा है। यह कितना मनोरंजक है।

श्रीमातृवाणी खण्ड ५ से

श्रीअरविंद की शिक्षा तथा साधना-पद्धति

(उनके पत्रों से संकलित)

अवचेतना और मनोविश्लेषण

जब ये मनोविश्लेषक आध्यात्मिक अनुभूतियों को अपनी मशालों की टिमटिमाती रोशनी से जानने की कोशिश करते हैं तो मुझे उन्हें गंभीरता से लेना कठिन लगता है—पर शायद उन्हें लेना चाहिये क्योंकि अर्धज्ञान एक सशक्त वस्तु है और वह सच्चे सत्य के आगे आने में बड़ी बाधा हो सकता है। यह नया मनोविश्लेषण मुझे ऐसा लगता है मानों बच्चों का संक्षिप्त-सा और अपर्याप्त ककहरा हो जो अपने अवचेतन के क ख ग और रहस्यमय भूमिगत अति-अहं को एक साथ रखकर यह कल्पना करते हैं कि उनकी 'क' से कुत्ता, और 'ग' से गधा की अस्पष्ट-सी पहली प्रारंभिक पुस्तक सच्चे ज्ञान का हृदय है। वे नीचे से ऊपर की ओर देखते हैं। वे निचले धुंधलकों से उच्चतर प्रकाश की व्याख्या करते हैं; परंतु इन चीजों की नींव ऊपर है, नीचे नहीं, '*उपरि बुध्न एषाम्*'। वस्तुओं की सच्ची नींव अवचेतन में नहीं अतिचेतन में है। कमल का रहस्य उस कीचड़ के विश्लेषण से नहीं जाना जा सकता जिसमें वह उगता है, वह जाना जा सकता है कमल के उस स्वर्गिक आद्य रूप से जो सर्वदा ऊपर के प्रकाश में खिलता है। इन मानस-विश्लेषकों का अपना चुना हुआ क्षेत्र दरिद्र, अंधकारमय और सीमित होता है। तुम्हें अंश को जानने से पहले सर्व को और निम्नतर को सचमुच समझने से पहले उच्चतम को समझना चाहिये। यह उस महान् मानस-शास्त्र की प्रतिश्रुति है जो अपने समय की प्रतीक्षा कर रहा है, जिसके आगे यह सब टटोलना समाप्त होकर शून्यवत् हो जायेगा।

*

मनोविश्लेषण का तुम्हारा अभ्यास गलत था। उसने कम-से-कम अभी के लिये शुद्धि के काम को सरल नहीं जटिलतर बना दिया है। फ्रायड का मानस-विश्लेषण ऐसी चीज है जिसका योग के साथ मेल बैठ ही नहीं सकता। वह एक ऐसे अंश को ले लेता है जो अधिक-से-अधिक अंधेरा, अधिक-से-अधिक संकटापन्न और अधिक-से-अधिक अस्वास्थ्यकर अंश होता है, वह है निम्नतर प्राणिक अवचेतन स्तर जो अपने कुछ सबसे अधिक दूषित तथ्यों को अलग कर देता और उसके तथा उनके साथ एक ऐसी क्रिया जोड़ देता है जो प्रकृति में उसकी सच्ची भूमिका के अनुपात से बहुत बढ़-चढ़कर होती है। आधुनिक मनोविज्ञान एक बचकाना विज्ञान है जो एक ही साथ उतावला, टटोलनेवाला और अनगढ़ होता है। जैसा कि सभी बचकाने विज्ञानों में होता है, मानव मन की वैश्व आदत है कि वह आंशिक या एक स्थानीय सत्य को लेता और उसे अनावश्यक रूप से व्यापक बनाकर प्रकृति के व्यापक क्षेत्र को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर अपने संकीर्ण शब्दों में समझाने की कोशिश करता है—यह आदत यहां बड़ी गड़बड़ कर देती है। और इसके अतिरिक्त दमन की हुई काम-वासनाओं के महत्त्व को बढ़ा-चढ़ाकर रखना एक संकटपूर्ण मिथ्यात्व है जिसका बहुत गंदा प्रभाव हो सकता है जो मन और प्राण को पहले से कम नहीं मूलतः अधिक अशुद्ध बना देता है।

यह सच है कि मनुष्य में उसका अंतस्तलीय उसकी प्रकृति का सबसे बड़ा भाग है और उसके अंदर अदृश्य गतिशीलता के रहस्य छिपे रहते हैं जो उसकी ऊपरी सतह की क्रियाओं की व्याख्या करते हैं। लेकिन निम्नतर प्राणिक अवचेतना—और यही वह सब कुछ है जिसे फ्रायड का मनोविश्लेषण समझ सकता प्रतीत होता है, और उसमें भी वह थोड़े-से अर्ध-अंधेरे कोनों को ही जानता है—वह समग्र अंतस्तल के सीमित और बहुत घटिया भाग से बढ़कर कुछ नहीं है। अंतस्तलीय स्व समस्त सतही मनुष्य के पीछे है और उसे सहारा देता है। एक बृहत्तर और अधिक प्रबल सक्षम मन उपरितलीय मन और उपरितलीय प्राण के पीछे होता है, एक अधिक सूक्ष्म और स्वतंत्र भौतिक चेतना उपरितलीय शारीरिक सत्ता के पीछे रहती है। और उनके ऊपर वह स्व उच्चतर अतिचेतन की ओर और साथ ही नीचे की ओर निम्नतर अवचेतन क्षेत्रों की ओर खुलता है। अगर तुम अपनी प्रकृति को शुद्ध करना और रूपांतरित करना चाहते हो तो तुम्हें इन उच्चतर क्षेत्रों की शक्तियों की ओर खुलना होगा और अंतस्तलीय और उपरितलीय सत्ता दोनों को इनतक उठाना और इनके द्वारा बदलना होगा। यह भी सावधानी के साथ करना चाहिये, समय से पहले या जल्दबाजी में नहीं, एक उच्चतर पथप्रदर्शन का अनुसरण करते हुए, सदा उचित वृत्ति रखते हुए करना चाहिये अन्यथा जो शक्ति नीचे खींची जायेगी वह प्रकृति के अंधेरे और दुर्बल चौखटे के लिये बहुत ज्यादा मजबूत हो सकती है। लेकिन निचले अवचेतन को खोलने और उस सबको जो उसमें गंदा और अंधेरा हो, ऊपर उठाने का खतरा मोल लेना अपने रास्ते से बाहर जाकर तकलीफ को निमंत्रण देना है। पहले तुम्हें उच्चतर मन और प्राण को ऊपर से मजबूत, दृढ़, प्रकाश और शांति से भरा हुआ बनाना चाहिये, उसके बाद तुम खुल सकते हो या अधिक सुरक्षा और सफल तथा द्रुत परिवर्तन के कुछ अवसर के साथ अवचेतना में डुबकी तक लगा सकते हो।

अनुभव द्वारा वस्तुओं से पिंड छुड़ाने की पद्धति भी संकटपूर्ण हो सकती है; क्योंकि इस मार्ग में आदमी स्वतंत्र होने की जगह आसानी से फंस सकता है। इस पद्धति के पीछे दो जाने-माने मनोवैज्ञानिक हेतु होते हैं, पहला है, सोद्देश्य समाप्ति का हेतु—यह कुछ ही मामलों में मान्य हो सकता है, खास तौर पर तब जब किसी स्वाभाविक वृत्ति की पकड़ बहुत मजबूत हो या विकार से छुटकारा पाने के लिये बहुत अधिक प्रयास हो या यह हो सकता है त्याग के तरीके से और उसके स्थान पर सच्ची गति को ला बिठाने की प्रक्रिया से। जब यह अधिक हो जाये तो कभी-कभी साधक को सामान्य जीवन के सामान्य कर्मों की ओर लौटना पड़ता है, एक नये मन और नयी इच्छा-शक्ति को पीछे रखकर उसका नया अनुभव प्राप्त करना होता है

और वहां से बाधाओं को हटाकर या हटाने के लिये तैयार होकर सच्चे आध्यात्मिक जीवन की ओर लौटना पड़ता है। लेकिन सोद्देश्य भोग का यह तरीका हमेशा खतरनाक होता है, यद्यपि कभी-कभी यह अनिवार्य भी हो जाता है। यह सफल तभी होता है जब सत्ता में उपलब्धि के लिये प्रबल इच्छा-शक्ति हो। क्योंकि तब भोग प्रबल असंतोष और प्रतिक्रिया यानी वैराग्य ले आता है और पूर्णता के लिये इच्छा-शक्ति को प्रकृति के उदंड भाग में नीचे उतारा जा सकता है।

अनुभव के लिये दूसरा हेतु अधिक उपयोगी हो सकता है। किसी चीज को सत्ता में से निकालने के लिये तुम्हें पहले उसके बारे में सचेतन होना चाहिये, उसकी क्रिया का स्पष्ट आंतरिक अनुभव होना चाहिये और प्रकृति की क्रियावली में उसके वास्तविक स्थान को खोजना चाहिये। उसके बाद यदि वह एकदम गलत गतिविधि है तो तुम उसे निकाल बाहर करने के लिये उसपर क्रिया कर सकते हो या अगर वह उच्चतर या सत्य गति का निम्नीकरण है तो उसका रूपांतर कर सकते हो। मनोविश्लेषण की पद्धति में इसी या ऐसे ही अपरिपक्व और अनुचित प्रारंभिक और अपर्याप्त ज्ञान के साथ प्रयास किया जाता है। निम्नतर गतिविधियों को चेतना के पूर्ण प्रकाश में ऊपर उठाने की प्रक्रिया अनिवार्य है; ताकि उन्हें जाना और उनके साथ ठीक तरह व्यवहार किया जा सके; क्योंकि उसके बिना पूर्ण परिवर्तन संभव नहीं है। लेकिन वह सचमुच तभी सफल हो सकता है जब जल्दी हो या देर में, उच्चतर प्रकाश और शक्ति जीतने के लिये पर्याप्त रूप में काम में लगी हों, उस वृत्ति की शक्ति जो परिवर्तन के लिये रुकी है। कई लोग अनुभव के बहाने न केवल विरोधी गतिविधि को ऊपर उठाते हैं बल्कि उसे त्याग देने की जगह अपनी सहमति से उसे सहारा देते हैं; उसे जारी रखने या दोहराने के लिये औचित्य ढूंढ़ते हैं और इस तरह उसके साथ खेलते जाते हैं, उसके लौटने में मजा लेते हैं, उसे अमर बनाते चलते हैं और फिर बाद में जब वे उससे पिंड छुड़ाना चाहते हैं, उनपर उसकी पकड़ इतनी मजबूत होती है कि वे अपने-आपको उसके पंजे में असहाय पाते हैं और तब कोई भयंकर संघर्ष या भागवत कृपा ही उन्हें मुक्त कर सकती है। कुछ लोग ऐसा प्राणिक तोड़-मरोड़ या विकार के कारण करते हैं, कुछ और लोग शुद्ध रूप से अज्ञान द्वारा; लेकिन जीवन की तरह योग में भी प्रकृति अज्ञान को औचित्य सिद्ध करनेवाला बहाना नहीं मानती। प्रकृति के सभी अज्ञानमय भागों के अनुचित व्यवहारों में यह खतरा रहता ही है, लेकिन निम्नतर प्राणिक अवचेतना और उसकी गतिविधियों से बढ़कर अज्ञानी, संकटमय, अविचारशील तथा हठी और कोई नहीं है। अनुभव करने के लिये उसे समय से पहले या अनुचित रूप से ऊपर उठाना,सचेतन भागों को भी उसके अंधेरे और गंदे भागों के साथ मिला देना और समस्त प्राण और मानसिक प्रकृति को विषाक्त कर देना है। अतः मनुष्य को नकारात्मक नहीं, हमेशा सकारात्मक अनुभव से आरंभ करना चाहिये और इसके लिये दिव्य प्रकृति के कुछ अंश को, अचंचलता, प्रकाश, समचित्तता, शुद्धि, दिव्य शक्ति को सचेतन सत्ता के उन भागों में उतारना होगा जिन्हें बदलना है। केवल तभी जब यह काफी हद तक हो जाये, एक दृढ़ रचनात्मक आधार तैयार होता है। उसके बाद ही छिपे हुए अवचेतन विरोधी तत्त्वों को दिव्य अचंचलता, प्रकाश, बल और ज्ञान की शक्ति द्वारा निकाल बाहर करने और नष्ट करने के लिये ऊपर उठाना सुरक्षित होता है।

*

अगर तुम अपनी प्रकृति के निचले भागों या क्षेत्रों में जाओ तो तुम्हें हमेशा सावधान रहना चाहिये कि चेतना के उच्चतर और पुनरुज्जीवित स्तरों के साथ संपर्क में रहो और उनके द्वारा इन अभीतक अपुनरुज्जीवित निम्नतर क्षेत्रों में ज्योति और शुद्धि को उतार लाओ। अगर यह सावधानी न हो तो तुम निम्नतर स्तरों की अपुनरुज्जीवित गति में सोख लिये जाते हो और वहां अंधकार और कठिनाई होती है।

सबसे सुरक्षित मार्ग तो यह है कि चेतना के उच्चतर भाग में रहा जाये और वहां से निचले भाग पर परिवर्तन के लिये दबाव डाला जाये। यह इस तरह किया जा सकता है, बस तुम्हें कौशल और अभ्यास प्राप्त होना चाहिये। अगर तुम्हारे अंदर यह करने की शक्ति आ जाये तो उससे प्रगति बहुत ज्यादा आसान हो जाती है, अधिक निर्विघ्न और कम कष्टदायक हो जाती है।

निश्चेतना की आधारशिला

बदलने की व्यापक असमर्थता का एक और कारण है जो आजकल साधक को पीड़ा देता है। इसका कारण यह है कि पिछले कुछ समय से, बल्कि पिछले काफी समय से सामान्य तथ्य के रूप में साधना निश्चेतना में उतर आयी है; दबाव या बदलने की पुकार प्रकृति के उस भाग पर है जो सीधा निश्चेतना पर निर्भर है, निश्चित आदतें, यांत्रिक गतिविधियां, आदतों की यांत्रिक आवृत्तियां, जीवन के प्रति अनैच्छिक प्रतिक्रियाएं—ये सब चीजें मनुष्य के निश्चित चरित्र की मालूम होती हैं। यदि संपूर्ण आध्यात्मिक परिवर्तन की संभावना हो तो यह करना जरूरी है। शक्ति—व्यष्टिगत रूप में नहीं व्यापक रूप में—इस चीज को संभव बनाने के लिये कार्य कर रही है, उसका दबाव इसीलिये काम कर रहा है—क्योंकि अन्य स्तरों पर परिवर्तन पहले ही संभव बनाया जा चुका है, (लेकिन यह ख्याल रखो, हर एक के लिये नहीं)। लेकिन निश्चेतना को प्रकाश के प्रति खोलना एक भगीरथ कार्य है। अन्य स्तरों पर परिवर्तन बहुत अधिक आसान है। अभी तो यह काम शुरू ही हुआ है और इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि वस्तुओं या व्यक्तियों में कोई परिवर्तन नहीं दिखायी दे रहा। वह अपने समय पर आयेगा पर जल्दी में नहीं।

*

तुम्हारी कठिनाइयों की तीव्रता इस कारण है कि योग निश्चेतना की आधारशिला पर उतर आया है, जो आत्मा की विजय में तथा उस विजय की प्राप्ति करानेवाले भागवत कार्य में आनेवाले समस्त व्यक्तिगत तथा विश्वगत प्रतिरोधों का मौलिक आधार है। स्वयं कठिनाइयां आश्रम में और सारे जगत् में व्यापक हैं। संदेह, अनुत्साह, श्रद्धा का ह्रास या उसमें कमी, आदर्श के लिये प्राणिक उत्साह का कम होना, भविष्य के लिये आशा में उलझन या चकराहट इस कठिनाई के सामान्य लक्षण हैं। बाहरी जगत् में इससे कहीं अधिक खराब लक्षण हैं जैसे दोषदर्शिता की सामान्य वृद्धि, किसी भी चीज में विश्वास करने से इंकार, ईमानदारी की कमी, बहुत अधिक भ्रष्टाचार, उच्चतर चीजों का बहिष्कार तथा खान-पान, धन-दौलत, सुख-सुविधाओं में व्यस्तता और संसार में बुरी-से-बुरी अवस्थाओं के होने की व्यापक आशंका। यह सब, भले कितना ही प्रबल क्यों न हो, अस्थायी घटना है, जो लोग वैश्व ऊर्जा की क्रियाओं तथा आत्मा की क्रियाओं के बारे में कुछ भी जानते हैं वे इसके लिये तैयार हैं। मैंने स्वयं इसे पहले से देख लिया था कि यह बुरी-से-बुरी अवस्था आयेगी, उषा से पहले निशा का अंधकार छा जायेगा; अतः मैं निरुत्साहित नहीं हूं। मैं जानता हूं कि अंधकार के पीछे किस चीज की तैयारी चल रही है और मैं उसके आगमन के पहले चिह्नों को देख तथा अनुभव कर सकता हूं। जो लोग भगवान् को पाना चाहते हैं उन्हें अपनी खोज में अटल और अडिग रूप से डटे रहना चाहिये। कुछ समय बाद अंधेरा मद्धिम होकर दूर होने लगेगा और दिव्य प्रकाश उद्भासित हो उठेगा।

—श्रीअरविंद

दुःख झेलना जानो

यदि किसी समय कोई गभीर दुःख, दारुण संशय या तीव्र कष्ट तुम पर छा गया हो और तुम्हें हताश कर रहा हो तो शांति और स्थिरता पुनः प्राप्त करने का एक अचूक साधन है।

हमारी सत्ता की गहराइयों में एक ज्योति चमक रही है जो जितनी चमकदार है उतनी ही पवित्र भी। वह ज्योति विश्वव्यापी देवत्व का सजीव और सचेतन अंश है, जो जड़तत्त्व को जीवन देती है, उसे पोषित और प्रकाशित करती है। वह उन लोगों के लिये सशक्त और अचूक पथप्रदर्शक है जो भगवान् का विधान जानने की इच्छा रखते हैं। जो उन्हें देखने की, उनकी आवाज सुनने की और उनके आदेश का पालन करने की अभीप्सा करते हैं, यह उनकी आश्वासनभरी और प्रेम से पूर्ण सहायिका है। उनके प्रति की गयी कोई भी सच्ची और स्थायी अभीप्सा व्यर्थ नहीं जा सकती; उनपर किया गया कोई भी दृढ़ और आदरपूर्ण विश्वास निराश नहीं हो सकता; कोई भी प्रत्याशा कभी धोखा नहीं खाती।

मेरे हृदय ने भी दुःख झेला है और कातर पुकार की है, दुःख के भारी बोझ से टूटने-टूटने को होकर, अत्यधिक यंत्रणा से दलित होकर . . . पर, हे सांत्वनादाता, हे भगवन्, मैंने तुझे पुकारा, उत्कंठा से तेरी प्रार्थना की और तेरी दीप्तिमान ज्योति की प्रभा प्रकट हुई और उसने मुझे नवजीवन प्रदान किया।

जब तेरी महिमा की किरणों ने मेरी संपूर्ण सत्ता के अंदर प्रवेश कर उसे प्रकाशित कर दिया तो मैंने स्पष्ट देखा कि मुझे किस पथ पर चलना है और दुःख की क्या उपयोगिता हो सकती है; और मैंने यह समझा कि जिस दुःख ने मुझे अपने चंगुल में जकड़ डाला था वह इस पृथ्वी के दुःख, अतल वेदना और यातना की कितनी हल्की-सी परछाई मात्र है।

जो स्वयं दुःख भोग चुके हैं केवल वे ही दूसरों का दुःख समझ सकते हैं, उसे समझ सकते हैं, उसमें हिस्सा बंटा सकते हैं और उसे हल्का कर सकते हैं। और मैं यह भी समझ गयी हूं, हे भगवन्, हे परम आत्म-त्यागी, कि हमारे सब कष्टों के बीच हमें सहारा देने के लिये, हमारे सारे दुःख और दर्द शांत करने के लिये तूने पृथ्वी तथा मनुष्य के सकल दुःखों को, बिना किसी अपवाद के, जाना तथा अनुभव किया होगा।

पर फिर यह कैसी बात है कि जो तेरे पुजारी होने का दावा करते हैं, उनमें से कुछ ऐसे भी हैं जो तुझे क्रूर अत्याचारी समझते हैं, तुझे ऐसा कठोर न्यायाधीश मानते हैं जो उन यंत्रणाओं को देखता है जिनकी तूने अनुमति दी है या जो तेरी अपनी इच्छा द्वारा रची गयी हैं।

नहीं, मैं अब समझ रही हूं कि ये सब कष्ट जड़ पदार्थ की अपूर्णता से आते हैं जो अपनी अव्यवस्था और अपरिष्कृतता के कारण तुझे अभिव्यक्त करने के अयोग्य है, और उससे सर्वप्रथम कष्ट भी तू ही पाता है, अपनी तीव्र उत्कंठा में तू ही सबसे पहले अव्यवस्था को व्यवस्था, दुःख को सुख में तथा असामंजस्य को समस्वरता में बदलने के लिये प्रयत्न और परिश्रम करता है।

कष्ट अनिवार्य नहीं है, वांछनीय भी नहीं। पर जब वह आता है तो हमारे लिये कितना उपयोगी हो सकता है !

प्रत्येक बार जब दुःख के बोझ से हृदय टूटता प्रतीत होता है, तब अंतर की गहराई में एक द्वार खुलता है और अधिकाधिक समृद्ध गुप्त रत्नराशि लिये नये-नये क्षितिज प्रकट होते हैं और उनकी स्वर्णिम आभा विनाश के कगार पर खड़े जीवन को एक नवीन और अधिक प्रखर जीवन प्रदान करती हुई आती है।

और जब, उत्तरोत्तर अवतरणों से होते हुए हम उस यवनिका तक पहुंचते हैं जिसके उठते ही साक्षात् तू प्रकट होता है, तब, हे प्रभु, कौन वर्णन कर सकता है 'जीवन' की उस प्रखरता का जो समस्त सत्ता के अंदर पैठ जाती है, 'ज्योति' की उस शोभा का जो उसे परिप्लावित कर देती है, 'प्रेम' की उस महिमा का जो चिरकाल के लिये उसका रूपांतर कर देती है।

१९१०

—माताजी

संयोग

"संयोग" शब्द से हम क्या समझते हैं ? संयोग व्यवस्था और सामंजस्य का उल्टा हो सकता है। सच्चा सामंजस्य केवल एक ही है और वह है अतिमानसिक सामंजस्य—सत्य का राज्य, भागवत विधान की अभिव्यक्ति। इसलिये अतिमानस में संयोग का कोई स्थान नहीं होता। लेकिन निचली प्रकृति में परम सत्य धुंधला जाता है और इस कारण उद्देश्य और कर्म की दिव्य एकता का अभाव हो जाता है और इन्हीं से तो सुव्यवस्था बनती है। प्रकृति के ऊपर उसका राज्य है जिसे हम संयोग कह सकते हैं—अर्थात्, वह एक ऐसा क्षेत्र है जहां एक सुनिश्चित लक्ष्य न रखनेवाली शक्तियां आपस में टकराती हुई मिलती हैं। इस प्रकार साथ-साथ दौड़-भाग करती हुई शक्तियों से पैदा हुआ अस्तव्यस्तता, बेसुरेपन और मिथ्यात्व का परिणाम ही संयोग की उपज होता है। संयोग किसी चीज के कारण न जाननेवाले अज्ञान को ढकने के लिये एक धारणामात्र नहीं है। वह निम्न प्रकृति के अनिश्चित-से झमेले का नाम है जिसमें भागवत सत्य की शांत एकाग्रता नहीं होती। जगत् अपने भागवत स्रोत को भूल गया है और अहंकार की शक्ति की रणस्थली बन गया है; लेकिन अब भी उसके लिये यह संभव है कि 'सत्य' की ओर खुले, अपनी अभीप्सा के द्वारा उसे नीचे उतार लाये और संयोग के भंवर में परिवर्तन ला सके। अपने मानसिक संयोजन, अनुभव और सामान्य अनुमान करने के तरीके के कारण लोग जिसे घटनाओं का यांत्रिक परिणाम मानते हैं वह सचमुच विभिन्न सूक्ष्म शक्तियों द्वारा लाया जाता है जिनमें से हर एक अपनी इच्छा पूरी करना चाहती है। जगत् इन अदिव्य शक्तियों के इतने आधीन हो गया है कि युद्ध किये बिना 'सत्य' की विजय नहीं हो सकती। उसका विजय पर अधिकार नहीं है: उसे मिथ्यात्व और विकारों से नाता तोड़ना होगा। इस विकृति का एक सामान्य अंग यह धारणा है कि चूंकि अंततोगत्वा सभी चीजों का मूलस्रोत भगवान् हैं इसलिये सभी सामयिक क्रियाएं भी सीधी भगवान् से ही आयी हैं। तथ्य यह है कि यहां, निम्न प्रकृति में, भगवान् एक वैश्व अविद्या के परदे से ढके हुए हैं और यहां जो कुछ होता है वह सीधा भागवत ज्ञान से नहीं आता। यह कहना कि हर चीज समान रूप से भगवान् की इच्छा से है बहुत आसान है और यह उन विरोधी प्रभावों का सुझाव है जो चाहते हैं कि सृष्टि उसी कुरूपता और अव्यवस्था के साथ जोर से चिपकी रहे जिसमें उसे पहुंचा दिया गया है। तुम पूछोगे कि फिर क्या किया जाये ? सुनो, ऊपर से प्रकाश को नीचे बुलाओ और अपने-आपको रूपांतर की शक्ति के प्रति खोलो। अनगिनत बार तुम्हें दिव्य शांति दी जा चुकी है और अनगिनत बार ही तुम उसे खो चुके हो—क्योंकि तुम्हारे अंदर कोई चीज अपने अहंकारमय तुच्छ नित्यक्रम को समर्पित करने से इंकार करती है। अगर तुम सदा जागरूक न रहो तो ऊपर से आनेवाले 'सत्य' से भर जाने के बाद भी तुम्हारी प्रकृति अपनी पुरानी पुनरुद्धार-वंचित आदतों की ओर वापिस चली जायेगी। प्राचीन और नवीन का संघर्ष ही योग की मुख्य पहेली है; लेकिन अगर तुम अपने अंदर प्रकट किये जानेवाले परम 'विधान' और 'व्यवस्था' के प्रति निष्ठा रखने के लिये कटिबद्ध हो तो धीरे-धीरे तुम्हारे वे भाग, जो संयोग के क्षेत्र से संबंध रखते हैं, परिवर्तित होते जायेंगे और दिव्य बन जायेंगे।

—श्रीमां

——*——

सत्य है परम समस्वरता और परम आनंद।

—श्रीमां

बिडाल्यः

श्रीमात्रा उक्तं कदाचित् —

"...सविश्वासं वक्तुं शक्नोमि युष्मान् यत् पशुषु विद्यमानाः अतिसरलाः, आडम्बरहीनाश्च केचित् सद्‌गुणाः मया मनुष्येषु विरलतया एव लब्धाः। यथा बिडालीनां गुणाः। उदाहरणार्थम्, बिडाल्यः बहुशः निरीक्षताः मया। अद्भुतप्राणिनः ताः—यदि घनिष्ठपरिचयः भवेत् तासाम्। दृष्टाः ताः बिडाल्यः मया याः शावकानामर्थे आत्मानं पूर्णतया उत्सृष्टवत्यः...। मया ईदृशी एका बिडाली दृष्टा या खाद्यं तावत् नैव अस्पृशत् यावत् शावकैः यथेच्छं न भुक्तम्। अन्या काचित् मार्जारी दृष्टा या अष्टदिनानि अहर्निशं नवजातशिशूनां समीपे एव अतिष्ठत्, न सा उत्थिता ततः नित्यकर्मणामर्थे अपि यतो हि शिशून् निस्सहायान् त्यक्तुं न ऐच्छत्। अपरा काचित् स्वशावं भित्त्याः वातायने लम्फनशिक्षणाय स्वयं पञ्चाशत्-वारेभ्यः अधिकम् अलम्फत्—तच्च तथा सावधानं, चातुर्येण दक्षतया च कृतं यत् सामान्याः अशिक्षिताः मानवस्त्रियः कर्तुम् असमर्थाः।

अस्मात् अङ्कात् आरभ्य दीयन्ते आगामि-कतिपय-अङ्केषु श्रीमात्रा श्राविताः काश्चित् कथाः।

प्रशिक्षणम्

एषा कथा कस्यापि बिडाल्याः या शिशूनाम् अद्भुता माता आसीत्।

आशैशवात् सा निजशावान् अतिस्नेहेन अपालयत्। यथैव शावकैः इतस्ततः गमनं खेलनं चारब्धं तथैव सा तान् खाद्यान्वेषणं, लोममार्जनं, सङ्कीर्णभित्तिषु अस्खलितं गमनं च अशिक्षयत्।

ततः परं सा तान् भित्तेः भित्तौ लम्फनं शिक्षयितुम् ऐच्छत्। अनयत् सा शिशून् कामपि भित्तिम्। प्रथमं सा स्वयम् अनतिदूरस्थां भित्तिम् अलम्फत्, परमनुकरणार्थं शिशून् आह्वयत्। शावकाः द्वयोः भित्त्योः अन्तरालम-पश्यन्। भयभीताः ते नैव झम्पेयुः।

ते पुनरपि तया आहूताः "एत, एत, लम्फत !" शावकास्तु निश्चलाः, माता पुनरपि अलम्फत्।

"पश्यत, पश्यत वत्साः ! नैतत् कठिनम्। चेष्ट्यतां, क्रियताम्।"

बिडालशावास्तु नैव अकूर्दन्त।

"अहो ! भीताः यूयम् ? पश्यत, पुनरपि दर्शयामि। नास्ति भयस्य किमपि कारणम्। पश्यत कथं करोम्यहम्।" कूर्दनाय उद्यता सा शरीरं धनुर्वत् आकुञ्चयत्।

"दृश्यतां, कथं करोम्यहम्। निरीक्षध्वं मम पादौ कटिं च", इति कथयन्ती इव सा शिशून् स्निग्धम् अवालोक्यत्। अथ सा ऊर्ध्वम् उत्प्लुत्य निर्विघ्नं अन्यां भित्तिं प्राप्य निभृतं तत्र अवस्थिता। सा अभीवत्, "एत, एत इदानीम्। यतध्वम् एवम्।"

शिशवः भित्तिप्रान्तम् आगत्य नीचैः अन्तरालं दृष्ट्वा झटिति पृष्ठे अपासरन्। माता तेषां पार्श्वे पुनरागता।

"नीचैः मा पश्यत। तत्र न कूर्दनीयं युष्माभिः। तां भित्तिं पश्यत, सा एवं युष्माकं लक्ष्यम्।" तत्परं सा तेषु एकां शिशुबिडालीं प्रबलं प्रहृत्य तां प्राणुदत्। सा शिशुः अलम्फत्, अन्यां भित्तिं च प्राप्ता।

किन्तु अन्यस्याः शिशोः साहसं नासीत् अधुनापि।

माताबिडाली होराप्रायम् अचेष्टत। अन्ततः शिशुबिडाली अकूर्दत, अन्यां भित्तिं प्राप्ता च। ततः परं तु सा पुनः पुनरपि अकूर्दत।

बिल्लियां

एक बार माताजी ने कहा :

. . . मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि मैंने मनुष्यों में ऐसे विरले ही देखे हैं जिनमें वे गुण पाये जाते हों जो मैंने पशुओं में देखे हैं, बहुत ही सरल, विनीत गुण। उदाहरण के लिये बिल्लियों में। मैंने बिल्लियों का बहुत अध्ययन किया है। अगर तुम उन्हें भली-भांति जान लो तो वे अद्भुत प्राणी हैं, मैंने ऐसी मां-बिल्लियों को देखा हैं जिन्होंने अपने बच्चों के लिये अपने-आपकी पूरी तरह बलि दे दी . . . । मैंने एक मां-बिल्ली को देखा है जो अपने बच्चों के पेट भर खा लेने से पहले खाने को छूती तक न थी। मैंने एक और बिल्ली को देखा है जो आठ दिनों तक अपनी कोई आवश्यकता पूरा किये बिना अपने बच्चों के साथ लगी रही क्योंकि उसे उन्हें अकेले छोड़ते हुए डर लगता था। एक बिल्ली थी जिसने अपने बच्चे को दीवार से खिड़की तक कूदने का प्रशिक्षण देते समय एक ही क्रिया को पचास से अधिक बार दोहराया और मैं यह भी जोड़ दूं कि यह क्रिया इतनी बुद्धिमत्ता और ऐसे कौशल के साथ सिखायी जो साधारण अशिक्षित औरतों में नहीं होता।

यहां हम पुरोधा के अगले कुछ अंकों में उनसे सुनी कुछ कहानियां दे रहे हैं।

प्रशिक्षण

यह एक ऐसी बिल्ली की कहानी है जो अपने बच्चों की अद्भुत जननी थी।

जब उसके बच्चे नन्हें बिलौटे होते तो वह बड़े प्रेम के साथ उनकी देख-भाल करती थी। जैसे ही वे जरा चलना-फिरना और घूमना तथा खेलना शुरू करते तो वह उन्हें खाना जुटाना, अपने बालों को साफ करना और संकरी दीवारों पर इस तरह चलना सिखाती थी कि वे कहीं गिर न जायें।

उसके बाद वह उन्हें एक दीवार से दूसरी दीवार तक कूदना सिखाना चाहती थी।

वह उन्हें एक दीवार पर ले गयी। वह पहले जरा-सी दूरी पर कूदी और फिर उसने अपनी बच्चियों को उसी तरह कूदने के लिये पुकारा। छोटी बच्चियों ने दो दीवारों के बीच का अंतराल देखा तो वे डर गयीं। वे न कूदीं।

उसने उन्हें फिर से बुलाया, "आओ, आओ—कूदो।" लेकिन वे न हिलीं। वह फिर से कूदी।

"ओह, देखो मेरे नन्हें मुन्नो, यह कठिन नहीं है। चलो कोशिश करो।"

लेकिन बिल्लियां फिर भी न कूदीं।

"ओह ! तुम डर गयीं ? आओ मैं फिर से दिखाती हूं। यहां डर की कोई बात ही नहीं है। देखो, मैं कैसे कूदती हूं।" उसने कूदने की तैयारी में शरीर को कमान का रूप दिया।

"देखो, मैं कैसे करती हूं। मेरे पैरों को देखो, मेरी कमर देखो," लगता था कि वह ये सब बातें कह रही है और अपने बिलौटों को बड़े प्यार से देख रही थी। फिर वह हवा में कूदी और धीरे से दूसरी ओर को फिसल गयी और कोमलता के साथ दीवार पर जा पहुंची। वह धीरे से घुरघुराई और बोली, "आओ, चलो, अब तुम कोशिश करो।" बच्चियां दीवार के किनारे के पास आयीं, दीवार के नीचे झांका और एकदम वापिस चली गयीं।

मां-बिल्ली उनके पास लौट आयी और बोली :

"नीचे मत देखो। तुम वहां नीचे नहीं कूदोगी। इस दीवार की ओर देखो। वह अंतराल नहीं, दीवार तुम्हारा लक्ष्य है।" फिर उसने एक बिलौटी को करारी धौल जमाई और एक धक्का दिया। बिलौटी कूदकर दूसरी दीवार पर जा पहुंची, लेकिन दूसरी बिलौटी ने फिर भी हिम्मत न की।

मां-बिल्ली ने लगभग एक घंटा कोशिश की। आखिर बिलौटी ने हिम्मत की और दूसरी दीवार पर जा पहुंची और फिर वह बार-बार कूदने लगी।

—वन्दना

हमें, हममें से हर एक को एक भूमिका निभानी है, एक कार्य करना है, हमारी एक जगह है जिसे हम ही भर सकते हैं।

श्रीमां

खुश रहने की कोशिश करो—तुम तुरन्त दिव्य प्रकाश के निकट होगे।

—श्रीमां

बस एक ही चीज महत्त्वपूर्ण है, वह है भगवान् को खोजना और पा लेना। बाकी सब शून्य है।
—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.
THE MOTHER

मानव प्रहेलिका

मानव की आत्मा है एक प्रहेलिका गहन।
अचित् के शासन का आज्ञाकारी उसका चेतन जीवन,
दुःख की पाठशाला में सीखता वह सुख का प्रयोजन;
उसका हृदय है एक आदिगर्त्त, एक ऊंचा गगन।

उसके अज्ञान की विचक्षणता ज्ञान के अन्वेषण का करती आहरण,
उसका मानस है अनंत का तीक्ष्ण और संरुद्ध उपकरण।
वह दलदल में चलता है उस 'अद्‌भुत' तक पहुंचने के निमित्त,
और करता है जो भौतिक के लिये करणीय और चैतन्य के लिये संभावित।

सारी शक्तियां उसके जीवन की मिट्टी में करती हैं जड़-ग्रहण
और मांगती उससे स्वस्थान और संघर्षरत रहने का अधिकार :
प्रकाश की ओर प्रसर्पणशील उसका अज्ञ जीव मन
प्रकृति का विदूषक है और ईशत्व का उम्मीदवार,
है वह अर्धदेव, दानव और पशु एक,
अपने भाग्य का विधाता वह और सेवक एक।

अनु० —अमृता भारती

—श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

जुलाई

१. प्र०—मधुर मां, माना यह जाता है कि धरती पर आध्यात्मिक जीवन प्रतिष्ठित करने के लिये भारत संसार का गुरु है। लेकिन मां, इस उच्च पद को पाने के लिये उसे राजनीतिक, नैतिक और भौतिक दृष्टि से इसके योग्य होना चाहिये, है न?
उ०—निस्संदेह, और अभी इसके लिये बहुत कुछ करना बाकी है।

२. प्र०—मधुर मां, हमारी वर्तमान सरकार में इतनी अस्त-व्यस्तता क्यों है? क्या यह ज्यादा अच्छे परिवर्तन के लिये संकेत है, सत्य के राज्य की ओर?
उ०—सारी पृथ्वी पर यह सत्य की शक्ति का दबाव है जो हर जगह अव्यवस्था, अस्त-व्यस्तता और मिथ्यात्व को रूपांतरित होने से इंकार करने के कारण उछाल रहा है।
सत्य की विजय निश्चित है, लेकिन यह कहना कठिन है कि वह कब और कैसे आयेगी।

३. प्र०—मधुर मां, हम मानसिक प्रमाद और जड़ता से कैसे पिंड छुड़ा सकते हैं?
उ०—निरंतर आग्रह और दृढ़ता के साथ ऐसा करने की इच्छा करने से, हर रोज अध्ययन, व्यवस्था और विकास का मानसिक अभ्यास करने से।

४. यह सच है कि जो लोग गंभीरता से योग करते हैं उनकी संख्या अधिक नहीं है...
लेकिन भागवत कृपा अनंत है।

५. हर एक अपनी अंतरात्मा के बारे में सचेतन नहीं होता और ऐसे तो बहुत ही कम हैं जो अंतरात्मा के पथ-प्रदर्शन में चलते हों।

६. हम वैश्व जीवन के एक विशेष सौभाग्यशाली मुहूर्त में हैं जब धरती की हर चीज को नयी सृष्टि के लिये, बल्कि यूं कहें, शाश्वत सृजन के अंदर एक नयी अभिव्यक्ति के लिये तैयार किया जा रहा है।

७. हर एक के लिये सबसे अच्छी बात यह है कि वह जितनी अधिक सचाई से हो सके, प्रगति करे।
भौतिक कष्ट रूपांतर के कार्य का भाग है और उन्हें शांति के साथ स्वीकार कर लेना चाहिये।

८. चरित्र बदल सकता है और बदलना चाहिये, लेकिन यह एक लंबा और बारीक काम है जिसमें स्थायी प्रयास और बहुत सचाई की जरूरत है।

९. हमें अपनी सत्ता की गहराइयों में छिपी पूर्णता, शक्ति, सुंदरता, तथा सत्य को सर्वांगीण रूप से जीना चाहिये। तभी समस्त जीवन उदात्त, शाश्वत, भागवत परम हर्ष की अभिव्यक्ति बनेगा।
पूर्ण निष्कपटता से हमारा मतलब है कि हमारे विचारों, भावों, संवेदनाओं तथा क्रियाओं को केवल हमारी सत्ता के केंद्रीय सत्य को ही अभिव्यक्त करना चाहिये।

१०. चैत्य सत्ता का अन्वेषण भी एक महान् अन्वेषण है जिसमें उतने ही धैर्य और सहनशीलता की आवश्यकता होती है जितने नये महाद्वीपों के अन्वेषण में।
ऐसा कोई काम नहीं है जो किया न जा सके यदि मनुष्य सचमुच उसे करना चाहता हो।

११. अध्यवसाय धैर्य है जो प्रस्तुत और तत्पर है और कभी चुपचाप नहीं बैठता।
प्रत्येक मनुष्य जैसा वह स्वयं है उसके अनुसार स्वयं अपने परिवेश की रचना करता है।

१२. तुम जो कुछ करो उसमें मजा लो, लेकिन मजे के लिये कोई काम न करो।
परम सत्य को क्षण भर के लिये भी जीना उसे पाने के तरीकों या प्रक्रियाओं के बारे में सैंकड़ों किताबें लिखने या पढ़ने से कहीं अधिक मूल्यवान् है।

१३. जो ज्ञान तुम्हारे पास बाहर से आता प्रतीत होता है वह तुम्हारे अंदर स्थित ज्ञान को लाने का केवल एक अवसर होता है।
ऐसा हो कि जीवन की सभी परिस्थितियां, सभी घटनाएं हमेशा अधिक-से-अधिक सीखने के ऐसे अवसर बनें जो सतत रूप से नवीकृत होते रहें।

१४. जो सतत रूप से आध्यात्मिक चेतना में निवास करता है उसके साथ होनेवाली सभी घटनाएं अपना विशेष मूल्य रखती हैं और सभी घटनाएं उसके उत्तरोत्तर विकास की ओर प्रवृत्त होती हैं।

१५. हमने जो भूलें कीं, हम पर जो दुर्भाग्य टूटे, उन्हें आना ही था क्योंकि उनकी कुछ आवश्यकता थी, हमारे जीवन के लिये उनकी कुछ उपयोगिता थी।

१६. सारे संसार की निंदा पाना उसके लिये कोई अर्थ नहीं रखता जिसे मालूम है कि उसे भगवान् की स्वीकृति और उनका सहारा प्राप्त है।

१७. यह बात भले विरोधाभासी प्रतीत होती हो कि भगवान् जो पूरी तरह से पूर्ण हैं, वे पूरी तरह से नम्र भी हैं—इतने नम्र कि कभी कोई उतना नम्र नहीं हो सकता।
भगवान् के साथ तादात्म्य तथा सायुज्य के लिये समचित्तता अनिवार्य शर्त है।

१८. दिव्य प्रेम के दबाव को सह सकने से पहले व्यक्ति को स्वयं दिव्य बनना होगा।
प्रेम वह परम शक्ति है जिसे शाश्वत परम चेतना ने अपने अंदर से एक धुंधले तथा अंधेरे जगत् में इसलिये भेजा कि वह उस जगत् तथा उसकी सत्ताओं को भगवान् तक वापस ला सके।

१९. अंधकार के बिना कोई रात नहीं होती : जब अंधकार गहरे-से-गहरा होता है तब उषा प्रस्तुत होती है।
रूपांतर होकर रहेगा : कोई चीज उसे नहीं रोक सकती; कोई चीज सर्वशक्तिमान् के निर्णय को निष्फल नहीं कर सकती।

२०. भागवत कृपा हमेशा उपस्थित है लेकिन केवल सच्चे तथा निष्कपट व्यक्ति के सामने ही उसकी उपस्थिति प्रकट होती है।
भगवान् के अंदर कोई चीज "गंभीर" नहीं होती : चीजें गंभीर केवल तभी होती हैं जब तुम भगवान् से दूर होते हो।

२१. तुम्हें पुराने सामान्य जीवन, उसके नियमों तथा रूढ़ियों तथा भागवत चेतना की ओर ले जानेवाले नये जीवन के बीच चुनाव करना होगा।
चुनाव करके निश्चय करो।

२२. आध्यात्मिक जीवन सभी में एक ही सारतत्त्व को प्रकट करता है, लेकिन साथ-ही-साथ उसकी अनंत विभिन्नता को भी प्रकट करता है, वह एकता में विभिन्नता के लिये तथा उस विभिन्नता में पूर्णता के लिये कार्य करता है।

२३. जिसका आरंभ हो-हल्ले से होता है उसका अंत असफलता में होता है।
हमेशा शिकायत करना केवल समय और ऊर्जा की बरबादी है।

२४. ऐसा हो कि आत्मा जड़-भौतिक पर विजय पाये और अंतरात्मा शरीर की स्वामिनी हो।
जीवन में अचंचल आत्म-विश्वास के साथ बढ़ते चलो और तुम्हारी नियति चरितार्थ होगी।

२५. अभीप्सा में सच्चे तथा निष्कपट, क्रिया में निष्ठावान्, उद्यम में दृढ़ाग्रही बनो और तुम अपना लक्ष्य पा लोगे।

२६. युवा रहो, कभी पूर्णता की दिशा में प्रयास करना बंद न करो।

२७. मन जितना शांत होगा, दृष्टि उतनी ही अच्छी होगी।

२८. आखिर श्रद्धा ही रोगमुक्त करती है।

२९. सत्य के आगमन को नमस्कार।
३०. अगर तुम धरती पर शांति चाहते हो तो पहले अपने हृदय में शांति स्थापित करो।
३१. अगर तुम संसार में एकता चाहते हो तो पहले अपनी सत्ता के विभिन्न भागों में एकता लाओ।

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित :

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण

जो प्रक्रिया भारत को निश्चित पुनर्जागरण की ओर लायी है उसका अब ऐतिहासिक तथा तर्कसंगत दोनों रूपों से विश्लेषण किया जा सकता है—पुनर्जागरण की इस प्रक्रिया में तीन महान् पग उठाये गये और संक्रमण का काल पूरा हुआ। ये थे—भारत की संस्कृति इत्यादि का पतन, फिर उसका नये रूपों में पुनर्गठन और इसका अंतिम चरण है—हालांकि वह अभीतक पूरी तरह चरितार्थ नहीं हुआ है, इधर-उधर उसके पहले आधार भले स्थापित होने शुरू हो गये हों—पुरानी रूपांतरित संस्कृति का नया युग। यह पुरानी और विगत संस्कृति का संवर्धन नहीं बल्कि सच्चा पुनर्जन्म, पुनर्जागरण है। पहला पग तब लिया गया जब भारत ने यूरोप के संपर्क को स्वीकारा। उस समय भारत ने कई प्रमुख तत्त्वों पर सोचा तथा फिर यूरोप की रौ में बहकर अपनी पुरानी संस्कृति के कई सिद्धांतों को क्रांतिकारी रूप में अस्वीकार कर दिया। इस बहाव में वह काफी दूर तक बह निकला। उसके बाद भारतीय मानस पर पड़े यूरोपीय प्रभाव ने बहुत सारी प्रतिक्रियाओं को जन्म दिया, पहले जहां वह बिना ननुनच किये यूरोप के रंग में रंगने को बाध्य हो रहा था अब उसने बहुत बार उसके सुझावों को अस्वीकार करना और अपने राष्ट्रीय भूतकाल की तात्त्विकता पर जोर डालने का प्रयास करना शुरू किया, लेकिन यूरोप का रंग उसपर से छूटा नहीं और इस कारण वह उसकी गतियों को अनायास आत्मसात् करता गया। लेकिन अब जो तीसरी गति शुरू हो रही है वह है नये सर्जन की प्रक्रिया जिसमें भारतीय मानस की आध्यात्मिक शक्ति शीर्ष स्थान पर है, उसने अपने सत्यों को पुनः प्राप्त कर लिया है, आधुनिक भाव तथा रूप की जो वस्तु उसे स्वस्थ, सत्य तथा उपयोगी जान पड़ती है उसे वह शक्ति परिवर्तित कर भारतीयता में ढाल रही है, उसे इस तरह आत्मसात् कर रूपांतरित कर रही है कि उसकी विदेशी छाप विलीन हो जाये और वह पुरा-देवी अर्थात् भारत में कार्यरत महाशक्ति की क्रिया में एक सामंजस्यपूर्ण तत्त्व बन जाये, वही शक्ति उस आधुनिक प्रभाव को—जो एक समय भारत पर हावी था तथा उसके इशारों पर ही भारत चल रहा था—अपने नियंत्रण तथा वश में कर रही है।

प्रकृति की विभिन्न प्रक्रियाओं में—चाहे वह मनुष्य पर क्रिया कर रही हो अथवा चीजों पर—कोई भी घटना संयोग से अथवा यूं ही बाहरी कारणों की दया से नहीं घटती। सचमुच चीजें अंदर से जैसी होती हैं उनका वही सारतत्त्व उनके छोटे-से लेकर बड़े सभी परिवर्तनों के मार्ग का निश्चय करता है; और अगर कोई यह कहे कि भारत की आत्मा अनंत, असीम है फिर उसे पतन तथा संक्रमण के इस काल से क्यों गुजरना पड़ा। इस प्रश्न का केवल यही उत्तर है कि यह लंबा संक्रमण उसके लिये पूर्वनियत तथा अपरिहार्य था। यह असंभव था कि चूंकि पश्चिम ने उसकी सभ्यता पर चढ़ाई कर दी तो वह पाश्चात्य हेतुओं, रूपों तथा आकारों की छाप को तेजी के साथ अपने ऊपर लगा लेता और अपनी पुरानी आध्यात्मिक शासक प्रेरणाओं को बाहर से आये प्रभावों के यथासंभव अनुकूल बनाकर एक नयी तरह का भारत बन जाता। इस तरह का द्रुत रूपांतर—जो नये आधुनिक जापान को अस्तित्व में लाया और भले जापान की भांति भारत को भी उतनी ही अनुकूल परिस्थितियां क्यों न प्राप्त होतीं फिर भी भारत के अंदर इस भांति के बाहरी प्रभाव के

तले अपने-आपको पूरी तरह से बदलकर कुछ और बन जाने का प्रश्न ही नहीं उठ सकता, क्योंकि जापान केंद्रीय रूप से अपनी ही प्रकृति तथा अपने सौंदर्यबोधक ज्ञान में जीता है अतः हमेशा ही वह तेजी से आत्मसात् कर लेता है, साथ-साथ उसके स्वभाव में एक सबलता है जो उसकी राष्ट्रीय छाप को कभी मिटने नहीं देती और साथ ही उसके सौंदर्यबोधक अंतर्दर्शन में उसकी अंतरात्मा को जीवित जाग्रत् रखने की पर्याप्त शक्ति है। लेकिन भारत केंद्रीय रूप से अपनी आत्मा में निवास करता है, उसके अंदर जापान के जितनी उत्फुल्लता या जीवंतता नहीं है, अतः वह किसी नूतन सर्जन के प्रति इतनी जल्दी अपने-आपको नहीं झोंक देता, वह काम को आनन-फानन करके तुरंत परिणाम पाने का न अभ्यस्त है न इच्छुक। वह चीज को अधिक महान्, अधिक गहरी तथा अधिक विशाल दृष्टि से देखने का अभ्यस्त है; इसी कारण बाहरी दृष्टि से लगता है कि जहां जापान तुरत-फुरत उठकर, रूपांतरित हो आधुनिकता के रंग में रंग गया वहां भारत धीमे-धीमे अपनी नींद से जाग रहा है, अनिश्चित कालों में से गुजर रहा है। वस्तुतः भारत का पुनर्जागरण बाह्य रूप से इतना धीमा इस वजह से दीख रहा है क्योंकि वह अपने तरीके से काम में लगा है, उसे प्रत्येक वस्तु की ऊपरी सुनहरी चमक को नहीं निखारना है बल्कि उसमें आमूल परिवर्तन कर खरा कुंदन निकालना है, अतः उसे चीजों को उनकी गहनतम गहराइयों से लेकर वहां रूपांतर साधित करना है ताकि वह आंतरिक आभा निकलकर जीवन के बाहरी क्षेत्रों के अंधकारों को उजालों में बदल दे। और जबतक यह भीतरी क्रिया संपन्न नहीं हो जाती तबतक भारत आगे की ओर कदम नहीं उठा सकता और इसी कारण नासमझी में हम कह उठते हैं कि न जाने भारत अपनी लंबी तंद्रालुता से कब जगेगा, वस्तुतः कोई नहीं जानता कि उसके अंदर की पुटपाक की क्रिया कबतक चलती रहेगी, और यह क्रिया इतनी जटिल तथा बृहत् है कि ऊपरी सतह पर भारत को बहुत सारी मुश्किलों का सामना करना पड़ रहा है और ऊपर से देखकर लगता है कि वह कभी तो विवादों के घेरे में खड़ा है और कभी वह अपने आधारवाक्यों तथा अपनी सहजात आध्यात्मिक प्रवृत्ति से सरक कर किसी दूसरी ही क्रिया में उलझ रहा है और सीधी लकीर में सुखद रूप से उत्तरोत्तर विकास करता हुआ तो दूर वह परिस्थितियों के अस्तव्यस्त दबाव तले अथवा आवेगों की निरंतर बदलती हुई लहरों में डूबता-उतराता दीखता है, और यही कारण है कि भारत अपनी भावी दिशा की कोई स्पष्ट रेखा खींचता प्रतीत नहीं होता; लेकिन सूक्ष्म रूप से देखनेवाली आंखें इस उतार-चढ़ाव के पीछे यह निश्चिति पाती हैं कि एक बार भारत की आंतरिक दिशा अपना मार्ग पा लेगी और उसकी आंतरिक वृद्धि बाहर सतह पर उभर आयेगी तो उसका परिणाम पाश्चात्य आधुनिकता का मात्र पूर्वीय संशोधन नहीं होगा बल्कि कोई महान्, सर्वथा नूतन तथा भौतिक वस्तु होगी जो मानव संस्कृति और सभ्यता के लिये सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होगी।

—वंदना

जिस किसी ने भगवान् के लिये प्रेम की अनुभूति पा ली है वह भगवान् के सिवाय और किसी वस्तु से फिर प्रेम नहीं कर सकता, और जिनके प्रति वह अनुराग का अनुभव करता है उन सब में वह भगवान् से ही प्रेम करता है; इसके अंतिरिक्त प्रेम करने का यह उत्तम तरीका है क्योंकि इस तरीके से मनुष्य दूसरों के लिये एक प्रभावशाली सहायता हो सकता है ताकि वे उन भगवान् के प्रति सचेतन हो जायें जो उनके अंदर अभिव्यक्त होते हैं।

—माताजी

२७ मार्च १९७०

'कुछ माताजी के बारे में':

कला और कलाकार

सच्ची कला अखंड है और समग्रता से संबंध रखती है; वह एक है और जीवन के साथ गुंथी हुई है। प्राचीन यूनान और प्राचीन मिस्र में इस प्रकार की घनिष्ठ अखंडता का कुछ नमूना हमें मिलता है; उनके चित्र और मूर्तियां तथा कला-संबंधी अन्यान्य सभी कुछ किसी भवन-विशेष की स्थापत्य-कलाविषयक योजना के अंगभूत ही बनाया और सजाया जाता था। वहां का प्रत्येक ब्योरा इस अखंडता का ही एक भाग होता था। जापान में कला का यही स्वरूप है, अथवा कम-से-कम थोड़े दिन पहले तक, जबतक कि उसपर उपयोगितावादी और व्यावहारिक आधुनिकतावाद का आक्रमण नहीं हुआ था, तबतक यही था। जापानी मकान कला की इस अखंडता का सुंदर नमूना होता है; उसमें सदा उचित वस्तु उचित स्थान पर होती है, ऐसी कोई चीज नहीं मिलती जो गलत तौर पर सजायी या रखी गयी हो, न कोई चीज बहुत अधिक होती है और न कोई बहुत कम। हर चीज ठीक उतनी होती है जितनी कि आवश्यक हो और स्वयं वह मकान भी इर्द-गिर्द की प्रकृति के साथ अद्भुत रूप से घुला-मिला हुआ होता है। यही बात भारतवर्ष की है, यहां भी चित्रकारी, मूर्तिनिर्माण-कला और स्थापत्य-कला एक सर्वांगपूर्ण सौंदर्य में गुंथी हुई थीं, भगवान् की भक्ति की ओर इनका भी संगतिपूर्ण प्रवाह था।

इसके बाद संसार के अंदर कला की इस दिशा में बड़ी भारी अधोगति हुई। कला की यह गिरती दशा विक्टोरिया-युग और फ्रांस में उसके द्वितीय साम्राज्य के युग में आरंभ हुई। तबसे कमरों में ऐसे चित्रों को लटकाने की आदत पड़ गयी है जिनका आस-पास की चीजों के लिये कोई अर्थ नहीं होता; अब तो कोई भी चित्र, कलासंबंधी कोई भी चीज किसी भी जगह रख दी जा सकती है और इससे उस कमरे की समग्रता में कोई विशेष अंतर आया हो ऐसा नहीं समझा जाता। कला का आजकल अर्थ हो गया है कौशल, चातुरी और प्रवीणता का प्रदर्शन करना, न कि एक घर के अंदर सामंजस्य और सौंदर्य की किसी सर्वांगपूर्ण व्यंजना को मूर्तिमान् करना।

परंतु मध्यवर्ग की रुचि में अधोगति की इस अवस्था के विरुद्ध हाल में बगावत शुरू हो चुकी है। यह प्रतिक्रिया इतनी वेगवती हुई है कि ऐसा दीखने लगा मानों लोग कला को उल्टे मार्ग की ओर बहा ले जा रहे हैं और वह किसी निरर्थकता के दलदल में धंसी जा रही है। परंतु धीरे-धीरे इस विशृंखला की गहराई में से कोई चीज फूट निकली, जो अधिक युक्तिसंगत, तर्कपूर्ण और संहत है और जिसे एक बार फिर से कला का नाम दिया जा सकता है, जिसे कला का जीर्णोद्धारित अथवा, हम ऐसी आशा करें कि, पुनरुज्जीवित रूप कहा जा सकता है।

कला को उसके तात्त्विक सत्य में देखें तो यह भागवत अभिव्यक्ति का, सौंदर्य का अंग है, उससे किसी तरह कम नहीं। इस दृष्टि से देखने पर सच्चे कलाकार संभवतः बहुत थोड़े-से मिलेंगे; किंतु फिर भी, कुछ लोग हैं और इनको योगी कहा जा सकता है। योगी की तरह ही कलाकार को भी अपनी प्रेरणा की प्रतीक्षा करने और उसको पाने के लिये हृदय की गहराई में उतरकर चिंतन करना होता है। किसी वास्तविक सुंदर वस्तु की रचना करने के लिये, पहले उसे उस वस्तु को अपने अंदर देखना पड़ता है, उस वस्तु को अपनी आंतरिक चेतना में एक अखंड वस्तु के रूप में सिद्ध करना पड़ता है; इस प्रकार उसे जब किसी वस्तु की प्राप्ति, उसका दर्शन हो जाता है, वह वस्तु उसके हृदय में अंकित हो जाती है केवल तभी वह उस वस्तु को बाहर प्रकट कर सकता है; वह अपनी रचना इस महत्तर आंतरिक दर्शन के अनुसार ही करता है। यह भी एक तरह की योग-साधना ही है, कारण इसके द्वारा उसका आंतरिक जगतों के साथ घनिष्ठ समागम होने

लगता है। लियोनार्ड-द-विंची जैसे मनुष्य योगी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं थे। और यदि उनको सबसे बड़ा चित्रकार न भी कहें तो भी वे बड़े-से-बड़े चित्रकारों में से एक तो थे ही,—हालांकि उनकी कला केवल चित्रकारी में ही समाप्त नहीं हुई।

संगीत भी सार रूप से आध्यात्मिक कला ही है और सदा ही इसका धार्मिक भाव और आंतरिक जीवन से साहचर्य रहा है। परंतु यहां भी, हमने इसको भी किसी स्वच्छंद और स्वनिर्भर कला में, एक क्षणजीवी कला में परिणत कर दिया है—नाटक का संगीत इसी तरह का है। हमारे देखने और सुनने में आनेवाली अधिकांश कला-रचनाएं इसी कोटि की हैं और अधिक-से-अधिक हम उनमें उनके पारिभाषिक दृष्टिकोण से ही रस ले सकते हैं। मैं यह नहीं कह रही हूं कि नाटक के संगीत को भी उच्चतर कला-व्यंजना का माध्यम नहीं बनाया जा सकता है; आकार चाहे जो भी हो, लेकिन वह गभीरतर हेतु के लिये उपयोग में लाया जा सकता है। सब कुछ स्वयं उस वस्तु पर, किस प्रकार उसका उपयोग किया जाता है इसपर और उसके पीछे क्या भाव है इसपर निर्भर है। कोई भी चीज ऐसी नहीं है जो भगवान् के हेतु को सिद्ध करने के उपयोग में न लायी जा सके—ठीक उसी तरह जैसे कोई भी चीज यह बहाना कर सकती है कि वह भगवान् के यहां से आयी है, फिर चाहे वह क्षणजीवी कोटि की ही हो।

आधुनिक काल के महान् संगीतज्ञों में ऐसे बहुतेरे हुए हैं जिनकी चेतना जब वे कोई कला-रचना करने बैठते थे तब किसी उच्चतर चेतना के संस्पर्श में आ जाती थी। सीजर फ्रैंक (बेलजियम के एक प्रख्यात संगीतज्ञ) एक प्रेरित व्यक्ति की तरह ऑरगन बजाते थे; वे अंतरात्मा के जीवन के प्रति खुले हुए थे और उनको इस बात का सचेतन ज्ञान था तथा वे बहुत अंश तक इस जीवन को अपने वादन द्वारा अभिव्यक्त करते थे। बिथोवेन ने जब ९वीं सिंफनी की रचना की थी तब उनको किसी ऊर्ध्व लोक की ओर उद्घाटित हो जाने तथा इस पार्थिव लोक में उस लोक के उतर आने का दर्शन हुआ था। वाग्नर (प्रख्यात जर्मन संगीतज्ञ) को सूक्ष्म लोकों से बलवान् और शक्तिशाली सूचनाएं मिलती थीं। उनको सूक्ष्म गुह्य विद्या का सहज ज्ञान था और सूक्ष्म जगत् का उन्हें भान होता था तथा इसके द्वारा ही उनको उनकी महत्तम प्रेरणाएं प्राप्त हुई थीं। परंतु उनकी रचनाएं ज्यादातर प्राणमय भूमिका पर से ही होती थीं और उनका मन उनकी प्रेरणाओं में लगातार हस्तक्षेप करता रहता था तथा उनको यांत्रिक कर डालता था। उनकी रचना का अधिकांश शक्तिशाली होते हुए भी बहुत अधिक मिलावटी, बहुधा अस्पष्ट और क्लिष्ट हुआ है। परंतु जब कभी वे प्राणमय और मनोमय भूमिका का अतिक्रमण कर किसी उच्चतर लोक में पहुंच सके थे, तब उनको जो थोड़ी-सी झांकियां हुई थीं उनमें असाधारण सौंदर्य था। यह उनके 'पार्सिफाल' नाटक के संगीत में, उनकी 'ट्रीस्टन' और 'इस्युस्ट' नामक प्रेम-कथाओं के संगीत के कुछ अंश में तथा 'लास्ट ग्रेट ऐक्ट' के संगीत के अधिकांश में अभिव्यक्त हुआ है।

नृत्य-कला की आधुनिक संसार ने क्या दशा कर दी है उसे भी जरा देखो; एक समय नृत्य-कला की जो अवस्था थी उससे इसकी तुलना करो। एक ऐसा काल था जब कि नृत्य आंतरिक जीवन की सर्वोच्च व्यंजनाओं में से एक था, इसका धर्म से संबंध था, यह धार्मिक पूजाओं को करने, उत्सवों को मनाने और भगवान् की भक्ति करने का एक मुख्य अंग था। कुछ देशों में यह सौंदर्य के बहुत ऊंचे स्थान पर पहुंचा और असाधारण पूर्णता को प्राप्त हुआ। जापान में लोगों ने नृत्य की परंपरा को धार्मिक जीवन का अंग बनाकर रखा और, चूंकि सौंदर्य और कला की ठीक-ठीक समझ जापानियों की नैसर्गिक संपत्ति है, इसलिये उन्होंने इस कला का किसी निम्नतर अर्थ में और मामूली उद्देश्य के लिये उपयोग करके इसकी अधोगति नहीं होने दी। भारतवर्ष में भी ऐसा ही हुआ। यह सच है कि हम लोगों के इस काल में प्राचीन यूनानी और अन्य नृत्यों को पुनरुज्जीवित करने का प्रयत्न किया गया है; परंतु इन समस्त पुनरुज्जीवनों में धार्मिक भाव का अभाव है और ये नृत्य की अपेक्षा छंदोबद्ध व्यायाम जैसे ही अधिक दिखायी देते हैं।

आजकल रूस के नृत्य प्रसिद्ध हैं, किंतु ये प्राणमय जगत् की व्यंजना हैं, ये भंयकर रूप से प्राणमय हैं। प्राणमय जगत् से आनेवाली सभी चीजों की तरह ये नृत्य भी बहुत ही आकर्षक या बहुत ही घृणास्पद हो सकते हैं, किंतु सदा ही ये अपने लिये ही होते हैं न कि किसी उच्चतर जीवन की अभिव्यक्ति के लिये। रूसवालों का तो रहस्यवाद भी प्राणमय प्रकार का है। नृत्य-कला के विशेषज्ञ की हैसियत से ये लोग अद्भुत होते हैं; किंतु विशेषता तो केवल यंत्र है। यदि तुम्हारा यंत्र बढ़िया है तो यह अच्छी ही बात है, किंतु जबतक इसको भगवान् के अर्पण नहीं कर दिया जाता तबतक यह चाहे कितना ही सुंदर क्यों न हो, पर रहता है उच्चतम से शून्य ही, और किसी दिव्य उद्देश्य के लिये यह उपयोगी नहीं हो सकता। कठिनाई यह है कि जो लोग कलाकार होते हैं उनमें से अधिकतर व्यक्तियों का यह विश्वास होता है कि वे अपने ही पैरों पर खड़े हैं और उन्हें भगवान् की ओर अभिमुख होने की कोई आवश्यकता नहीं। यह बड़े दुःख की बात है, कारण, भागवत अभिव्यक्ति में कौशल उतना ही उपयोगी तत्त्व है जितनी कि और कोई भी वस्तु। कौशल भागवत रचना का एक भाग ही है, पर उसे यह सीख लेना चाहिये कि महत्तर वस्तुओं के आगे वह अपने को कैसे झुकाये रहे।

मन के बहुत ऊपर एक लोक है जिसे हम सामंजस्य का लोक कह सकते हैं और यदि तुम वहां पहुंच सको तो आज तक जितना भी सामंजस्य किसी भी रूप में पृथ्वी पर प्रकट हुआ है उसका मूल तुमको वहां मिलेगा। उदाहरण के लिये बाख़ की गतों और बिथोवेन की गतों को ले लो, ये दो संगीतज्ञ इस जगत् में आगे-पीछे आये और इन्होंने जो कुछ रचनाएं कीं उसके पीछे संगीत की एक ही धारा, जिसमें कि कतिपय सर्वोत्तम स्वरों का प्रयोग हुआ है, पायी जाती है। इन दोनों गुणियों की स्वरलिपि एक नहीं है, और इनकी गतें बाहरी कानों को भी अलग-अलग सुन पड़ती हैं, किंतु सार रूप से ये हैं एक ही। चेतना के बिल्कुल एक ही प्रकार के कंपन ने, अर्थपूर्ण सामंजस्य की एक ही लहर ने इन दोनों कलाकारों को स्पर्श किया था। इस कंपन और लहर को बिथोवेन बाख़ की अपेक्षा कुछ अधिक पकड़ सके थे, किंतु उनके अंदर ये उनके अपने मन की कल्पनाओं और क्षेपकों द्वारा अधिक मिश्रित हुए; बाख़ कुछ कम पकड़ सके, किंतु जो कुछ भी उनकी पकड़ में आया उसको उन्होंने अधिक शुद्ध रखा। जिस कंपन को इन लोगों ने ग्रहण किया वह चेतना के विजयात्मक निष्क्रमण का कंपन था, चेतना अचेतना के गर्भ को फाड़कर विजयात्मक रूप से ऊपर उठ रही थी, जन्म ले रही थी।

योग के द्वारा यदि तुम इस लोक में, जहां से सभी कलाएं जन्म लेती हैं, पहुंच सको तो तुम इच्छा करने पर सभी कलाओं के स्वामी बन सकते हो। पहले जो लोग वहां गये होंगे उन्होंने वहां जो कुछ दिव्य सौंदर्य और दिव्य आनंद है उसको वहीं रहकर भोगना संभवतः अधिक सुखकर, अधिक प्रिय अथवा एक आनंदमय चैन से भरा हुआ पाया हो और उन्होंने वहां की वस्तु यहां प्रकट करने, इस पार्थिव भूमिका पर मूर्तिमान् करने की परवाह न की हो। परंतु यह उदासीनता ही समस्त सत्य नहीं है, न यह योग का ही वास्तविक सत्य है; यह तो संन्यास के अधिक नकारात्मक भाव से पैदा हुई योग की गतिशील स्वतंत्रता की विकृति है, उसका ह्रास है। भगवान् के संकल्प को प्रकट होना है, उसे सर्वथा अक्रियता और पूर्ण निश्चल-नीरवता में एकांतवास नहीं करना है; यदि भागवत चेतना वास्तव में कोई चीज होती जो अप्रकट रहनेवाले आनंद की अक्रियता ही हो, तब तो किसी प्रकार की कोई सृष्टि ही न हुई होती।

आशा-किरण

[आजकल सारी पृथ्वी पर—देश हो या विदेश—विभीषिका का जो तांडव अपना संहार-नृत्य दिखा रहा है उससे हर एक त्राहि-त्राहि कर उठा है—हर एक चिंतनशील मनुष्य की आंखों में है दहशत-भरा एक प्रश्न-चिह्न और जबान पर है कांपता हुआ एक प्रश्न—"विश्व का क्या होगा भगवान् ?"

माताजी ने बहुत पहले 'महान् रहस्य' नामक एक नाटक लिखा था जिसका आश्रम के मंच पर अभिनय भी किया गया था। इस नाटक में छह एकालाप हैं और एक सिंहावलोकन, एक अज्ञात व्यक्ति के साथ संसार के छह जाने-माने व्यक्ति—वैज्ञानिक, कलाकार, व्यायामी, लेखक, राजनीतिज्ञ, उद्योगपति—किसी विश्व-परिषद् में भाग लेने के लिये जा रहे थे। जहाज की दुर्घटना के कारण उन्हें एक नौका (लाइफ-बोट)) में शरण लेनी पड़ी। हर एक अपनी जीवनगाथा और समस्या सुनाता है और अज्ञात व्यक्ति समाधान की ओर संकेत करता है।

हम यहां उस नाटक में से राजनीतिज्ञ का भाषण तथा उससे संबद्ध माताजी के साथ प्रश्नोत्तर दे रहे हैं। पूरा नाटक अग्निशिखा के अगस्त १९९० अंक में छप चुका है।

इस प्रश्नोत्तर के समय शीत युद्ध जोरों पर था। आज हम देख सकते हैं कि माताजी की बातें कितनी सच हैं और उस समय शीत युद्ध में एक-दूसरे का विरोध करनेवाले अब मित्रता की ओर कदम बढ़ा रहे हैं।

लेकिन भारत का भविष्य अब भी डांवाडोल लगता है क्योंकि अभीतक माताजी के कहे अनुसार योग्य नेता प्रकट नहीं हुआ है।

हम आशा करें कि इस प्रश्नोत्तर को पढ़कर किसी युवा हृदय में इस आदर्श को पूरा करने की अभीप्सा जाग सकेगी।—सं०]

राजनीतिज्ञ—आप लोगों की इच्छा है तो लीजिये, मैं ही सबसे पहले बताता हूं कि मेरा जीवन कैसा रहा है।

मैं एक राजनीतिज्ञ का बेटा था और बचपन से ही सरकारी बातों और राजनीतिक समस्याओं से परिचित था। मेरे माता-पिता अपने मित्रों को जब दावत दिया करते थे तो इन बातों पर अच्छी तरह बहस हुआ करती थी। मैं भी बारह वर्ष की आयु से वहां उपस्थित रहा करता था। विभिन्न राजनीतिक दलों के मत मुझसे छिपे न थे और मैं अपने छोटे-से उत्साहपूर्ण मस्तिष्क में प्रत्येक कठिनाई का हल पा लेता था।

स्वभावतः मेरी पढ़ाई-लिखाई भी इसी दिशा में चली और मैं राजनीति-विज्ञान का एक प्रतिभाशाली छात्र बन गया।

फिर जब सिद्धांतों को क्रिया में लाने की बात आयी तब मुझे पहली गंभीर कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। तब मुझे मालूम हुआ कि अपने विचारों को क्रियान्वित करना लगभग असंभव-सा है। मुझे समझौते करने पड़े और धीरे-धीरे मेरा महान् लक्ष्य मुरझा गया।

मैंने जाना कि सफलता सचमुच व्यक्तिगत मूल्यांकन नहीं है। सफलता अपने-आपको परिस्थितियों के अनुसार ढाल लेने और दूसरों को खुश करने की क्षमता का नाम है। इसके लिये हमें दूसरों की त्रुटियों को ठीक करने की जगह उनकी कमजोरियों की लल्लो-चप्पो करनी पड़ती है।

आप सभी जानते होंगे कि मेरा उज्ज्वल जीवन कैसा रहा है। उस बारे में स्वयं मुझे कुछ कहने की ज़रूरत नहीं। लेकिन, हां, मैं इतना तो कहना ही चाहूंगा कि जैसे ही मैं प्रधानमंत्री बना और मेरे हाथ में सचमुच कुछ शक्ति आयी वैसे ही मैंने अपनी जवानी के पुरुषार्थ के स्वप्नों को याद किया और उन्हें चरितार्थ करने की कोशिश की।

मैंने चाहा कि मैं दलबंदी में न पड़ूं। संसार में राजनीतिक और सामाजिक प्रवृत्तियों, हलचलों में जो विग्रह मचा हुआ है जो सारे संसार को तोड़ने में लगा है जिनमें से प्रत्येक के अंदर कुछ अच्छाइयां और कुछ बुराइयां हैं, इन सबमें से मैंने एक हल निकालना चाहा। इनमें से कोई भी पूरा-पूरा अच्छा या पूरा-पूरा बुरा नहीं है। इनकी अच्छाइयों को चुनकर एक क्रियात्मक और सामंजस्यपूर्ण हल निकालना जरूरी है। मैं ऐसे समन्वय का कोई सूत्र न पा सका जो परस्पर-विरोधी तत्त्वों में एकता ला सके। उसे क्रियात्मक रूप देना तो और भी असंभव था।

मैं राष्ट्रों में शांति, एकता और सौहार्द चाहता था, मैं सबके भले के लिये सहयोग चाहता था पर मुझसे बड़ी शक्ति ने मुझे युद्ध करने पर, अविवेकी तरीकों और अनुदार नियमों द्वारा विजय प्राप्त करने पर बाधित कर दिया।

लेकिन मुझे एक बड़ा नीतिकुशल नेता माना जाता है। मेरे ऊपर आदर, सम्मान और प्रशंसा की बौछार की जाती है और मुझे मानवजाति का मित्र माना जाता है।

लेकिन मैं अपनी कमजोरी जानता हूं। मैंने उस सच्चे ज्ञान और सच्ची शक्ति को खो दिया है जो मेरे बचपन की आशाओं को सफलता का मुकुट पहना सकतीं।

अब अंत नजदीक है। मुझे लगता है कि मैंने बहुत ही थोड़ा किया है और जो किया है वह भी बुरी तरह। मैं मृत्यु के द्वार पर टूटे सपनों का विषाद लेकर पहुंचूंगा।

१४ सितंबर १९५५

मधुर मां, एक सच्चे राजनीतिज्ञ की मनोवृत्ति क्या होनी चाहिये ?

लेकिन यहां मैंने एक सच्चे राजनीतिज्ञ की वृत्ति ही तो बतलायी है। मेरे बच्चे, यह एक आदर्श राजनीतिज्ञ है। इससे अच्छा नहीं बनाया जा सकता। ये परिस्थितियां हैं, वह स्वयं कहता है : "मेरी अपेक्षा ज्यादा बड़ी शक्ति . . ." जगत् इसी तरह से संगठित किया गया है; उसने अच्छे-से-अच्छे इरादे से आरंभ किया, उसने भरसक कोशिश की, वह कुछ भी न कर सका, क्योंकि आज की परिस्थितियों में और जैसी राजनीति का चलन है उसमें तुम कुछ भी नहीं कर सकते। साधारणतः लोग इतने खुले और निष्कपट नहीं होते कि यह सब कह सकें जो मैंने इससे कहलवाया है। मैंने इससे सत्य कहलवाया है, और यह प्रमाणित करता है कि वह बहुत ही खुला हुआ है; अन्यथा, साधारणतः ये लोग अपने सभी दुष्कर्मों को सुंदर शब्दों से ढक देते हैं, लेकिन फिर भी दुष्कर्म तो बने ही रहते हैं। दुनिया इस तरह बनी हुई है कि तुम किसी और तरह हो ही नहीं सकते। अगर तुम ऐसे आदमी हो जो किसी तरह का समझौता नहीं स्वीकार कर सकता, तो तुम राजनीति में रह ही नहीं सकते; वस्तुओं की शक्ति तुम्हें बस, निकाल बाहर करेगी। एक समय होगा जब यह सब बदल जायेगा लेकिन अभी नहीं। शायद राजनीति सबके अंत में बदलेगी। कई और चीजों को पहले बदलना पड़ेगा। यह निश्चय ही सबसे अधिक अड़ियल चीजों में से है।

दो चीजों को बदलना बहुत ही कठिन है : एक है वित्त और दूसरी राजनीति;[1] धन का क्षेत्र और

[1] यहां शायद वित्तीय ("फाइनैनशियल") और आर्थिक ("इक्नॉमिक") का फर्क बताना जरूरी है। वित्त अर्थ का राजनीतिक पक्ष है। इसमें व्यक्ति या समूह के हितों की प्रधानता होती है, इसमें धन और संपत्ति के अर्जन और संग्रह का महत्त्व बहुत अधिक होता है, जब कि आर्थिक में संपत्ति का अर्जन और उपयोग ज्यादा खुले रूप में व्यक्ति और समूह के प्रबुद्ध हितों और समाजकल्याण के लिये होता है। पहली क्रिया अहं-केंद्रित होती है और दूसरी में विस्तार होता है। —अनुवादक

प्रशासन का क्षेत्र, ये दो ऐसे बिंदु हैं जहां मनुष्य सबसे अधिक कमजोर और मिथ्यात्व से सबसे अधिक बंधा हुआ है। इसलिये, शायद, रूपांतर वहां सबसे अंत में आयेगा। हम सामाजिक रूपांतर, आर्थिक रूपांतर, शिक्षा के रूपांतर की आशा कर सकते हैं; हम राजनीतिक और वित्तीय रूपांतर से बहुत पहले इनकी आशा कर सकते हैं। मैंने यह ठीक इसीलिये लिखा था कि लोगों को यह दिखाऊं कि संसार की वास्तविक स्थिति क्या है और यह निर्देश दूं कि उसमें से कैसे निकला जा सकता है। लेकिन जब हम बाहर निकलने के बिंदु पर होंगे तो तुम देखोगे कि यह इतना सरल नहीं है। शायद जिस चीज का सबसे पहले रूपांतर होगा वह है विज्ञान-जगत्, यह संभव है; क्योंकि वहां बहुत अधिक सच्चाई और निष्कपटता तथा अध्यवसायपूर्ण प्रयास की जरूरत होती है, और ये ऐसे गुण हैं जो तुम्हारे लिये उच्चतर जीवन का दरवाजा खोल देते हैं . . .। लेकिन हम इसे अगली बार देखेंगे . . . नहीं, अगली बार नहीं, दो पाठों के बाद।

तो यह बात है, मेरे बालको। कोई और प्रश्न नहीं ? किसी को कुछ नहीं कहना ?

मधुर मां, आज की दुनिया में जो राजनीतिज्ञ इस नाटक के स्तर पर है, जो अपना अच्छे-से-अच्छा कर रहा है, क्या उसका पथ-प्रदर्शन भगवान् नहीं कर रहे ? क्या वह उपाय पा लेगा . . .

उसने यह बिल्कुल नहीं कहा कि वह धार्मिक है। उसने हमसे यह नहीं कहा। उसने यह नहीं कहा कि वह आध्यात्मिक या धार्मिक कारणों से यह करने का प्रयास कर रहा है।

ध्यान दो कि वे सब मानव प्रगति की एक सभा में जा रहे हैं। धार्मिक सभा में हर्गिज नहीं जा रहे। वस्तुतः तुम्हारे प्रश्न का कोई मतलब नहीं निकलता, क्योंकि विश्व में ऐसी कोई चीज नहीं है जिसे भगवान् ने न बनाया हो, तो उस दृष्टिकोण से प्रश्न का कोई अर्थ नहीं निकलता। धार्मिक कारणों से कोई काम करने के लिये यह जरूरी है कि वह अपने-आप, सचेतन रूप से धार्मिक हो। यहां ऐसा नहीं कहा गया, और जान-बूझकर नहीं कहा गया, ताकि समस्या में एक और तत्त्व न बढ़ जाये। वह यह सब भगवान् की सेवा के रूप में बिल्कुल नहीं कर रहा। वह कर रहा है क्योंकि उसमें लोकोपकार के भाव हैं और वह धरती पर मानव स्थिति को सुधारने की कोशिश कर रहा है, बस। प्रसंगवश, ये, सब-के-सब, इसी अवस्था में हैं।

माताजी, जैसा कि पिछले युद्ध में, महायुद्ध में, कुछ महान् राजनेता थे जो . . .

लेकिन यह उनमें से एक, एक प्रसिद्ध व्यक्ति की अनुकृति के रूप में है।

लेकिन वे युद्ध के दिनों में भगवान् के यंत्र बन गये।

अगर तुम इसे एक विशेष दृष्टि से देखना चाहते हो तो सभी, सब-के-सब भगवान् के यंत्र हैं। नहीं, वे सचेतन रूप से भगवान् के यंत्र बिल्कुल नहीं थे, वे जरा भी सचेतन नहीं थे, बिल्कुल नहीं, बिल्कुल नहीं, बिल्कुल नहीं। वे बड़े-बड़े धार्मिक शब्द बोला करते थे। मैंने उन शब्दों को हटा दिया क्योंकि वे कपटपूर्ण थे और मैं अपने पात्रों को जितना हो सके उतना निष्कपट बनाना चाहती थी, और उनके बड़े-बड़े धार्मिक शब्द एकदम कपटपूर्ण थे, यह धोखेबाजी (मायादोहन—ब्लैकमेल) थी, इसका प्रमाण यह है कि विजय पाते ही वे इन सब बातों को भूल गये।

माताजी, अगर वह खुला हुआ नहीं था तो अंत में उसने यह कैसे जाना कि उसने सत्य को नहीं पाया . . .

क्या ! उसने कैसे . . . ?

(पवित्र) : उसने यह कैसे जाना कि उसने सत्य को नहीं पाया है . . . अगर वह किसी उच्चतर चीज की ओर खुला हुआ नहीं था ?

लेकिन किसने जाना ? मेरे पात्र ने या दूसरे . . .

(पवित्र) : जिस क्षण उसे यह पता चलता है कि कोई ऐसी चीज है जिसे उसने नहीं पाया तो इसका यह मतलब है कि वह किसी और चीज के प्रति खुला हुआ था।

हां, स्वभावतः, समस्त सद्भावना किसी गहरी चेतना की ओर खुली रहती है। यह तो जानी हुई बात है। मैं कहती हूं, मैंने बहुत ही अपवाद रूप पुरुष लिये हैं जो समझने के लिये तैयार हैं, अन्यथा यह न हो सकता। मैंने उन्हें जैसे वे सचमुच हैं उससे अधिक अच्छा बना दिया, क्योंकि उन सबकी अभीप्सा के पीछे कुछ और चीज थी; उन्हें इस बात का पता नहीं है लेकिन ये लोग समझने के बिंदु तक पहुंच चुके हैं और इसी तरह, है न, मैं चीजों को व्यवस्थित कर सकी; यह प्रकृति की नकल नहीं है, यह कुछ प्रमाणित करने के लिये व्यवस्थित की गयी चीज है—बस इतना ही—जैसा कि साहित्य में हमेशा होता है।

माताजी, इससे हमें आशा बंधती है कि आज के जगत् में और विशेष रूप से भारत में, ऐसे हैं . . .

आशा बंधती है ! मेरा ख्याल है कि आशा देनेवाली चीज यह नहीं है; अगर तुम्हारे सामने सिर्फ उन्हीं लोगों के नमूने हों जो दुनिया में मौजूद हैं, तो बहुत आशा नहीं होती।

माताजी, आज के जगत् में राजनीति दो बड़े दलों में बंटी हुई है, एक अमरीका का दल और दूसरा रूस का। इन दोनों में समाधान कैसे होगा ?

ओह ! यह बहुत आसान है। चूंकि वे यह बात बिल्कुल नहीं समझ पाते कि यह बहुत आसान है, इसीलिये मैं कहती हूं कि यह चीज अंत में होगी। ये चीजें केवल आभास और ऊपरी धारणाएं और हित हैं—हित ! सच्चे हित भी नहीं : अपने हित के बारे में उनकी धारणाएं। लेकिन अगर सच्चा समाधान मिल जाये . . . अगर वह मिल जाये, नहीं—शायद वह मिल चुका है—अगर सच्चे आर्थिक समाधान का प्रयोग किया जाये, तो उनकी समस्याओं की नींव ही ढह जायेगी, बच रहेगी केवल राजनीतिक मनोवृत्ति जो बहुत, बहुत सतही है। वह बहुत छिछली है, उसमें कोई गहराई नहीं, सबसे बढ़कर, वे केवल शब्द हैं, बहुत ही खोखले शब्द, उसकी आवाज बहुत जोर की होती है, क्योंकि वह खोखली है, वे बड़े-बड़े शब्द हैं। लेकिन, देखो, उनकी वृत्ति को काफी हद तक सच्चा सहारा उन दो चीजों से मिलता है जिनके बारे में मैंने अभी कहा : वित्तीय सहारा और आर्थिक सहारा। हां तो, अगर आर्थिक समस्याएं हल हो जायें, यानी,

अगर समाधान का प्रयोग किया जाये, तो इन राजनीतिक भेदों के एक बड़े भाग का सहारा गायब हो जायेगा। यह लगभग ऐकांतिक रूप से जीवन की समस्याओं और उन समस्याओं के समाधान को उल्टे ढंग से देखने पर आधारित है : ये लोग सोचते हैं कि वह इस तरह है, दूसरे सोचते हैं कि वह उस तरह है। मैं सबसे अधिक सच्चे लोगों की बात कर रही हूं, जैसा कि मैंने कहा, उन लोगों की नहीं जिन्होंने शून्य में से चीजें बना ली हैं, ताकि बहुत-सा शोर मचा लें और बहुत-सा प्रभाव डाल लें। लेकिन अगर हम प्रश्न के मर्म तक जायें, तो वहां इतना भेद नहीं है।

ऐसे बहुत-से लोग हैं—मैं लोगों की बात कर रही हूं, व्यक्तियों की नहीं, बल्कि सरकारों की—जो यह दिखावा करते हैं कि वे कम्यूनिस्ट नहीं हैं पर उनके काम का तरीका एकदम कम्यूनिस्टों जैसा, उनसे भी ज्यादा कठोर होता है। अतः यह सब शब्दाडंबर है। आदमी शब्दों का उपयोग ऐसे करता है मानों जिन चीजों को वह कर रहा है उनके ऊपर लिहाफ रख रहा हो, इससे केवल रंग-रूप बदल जाता है, पर अंदर कोई खास फर्क नहीं होता। इसके अतिरिक्त, एक बात बिल्कुल सरल है, वह यह कि सारी मानवजाति एक विकास का, एक विकास-चक्र का अनुसरण कर रही है, और ऐसे युग आते हैं, कुछ ऐसे युग विशेष होते हैं जिनमें कोई अनुभूति विशेष लगभग सार्वभौम बन जाती है, यानी, पार्थिव, समस्त पृथ्वी की अनुभूति बन जाती है, लेकिन यह अवश्य है कि पृथक् नामों, लेबलों और शब्दों के होते हुए वह लगभग एक ही अनुभूति होती है जो जारी रहती है। तो पुरानी चीजें विलीन होने के मार्ग पर होती हैं, फिर भी चिपकी रहती हैं, ये फिर भी अमुक नयी चीजों के रंग-रूप और पदार्थ को बदल देती हैं। लेकिन यह केवल किसी चीज की पूंछ की तरह है। समस्त नूतन गतिविधि एक अनुभूति की ओर जा रही है जो यथासंभव अधिक-से-अधिक व्यापक होती जाती है, क्योंकि वह उपयोगी तभी होती है जब वह व्यापक हो। अगर वह स्थानीय बन जाये तो वह कुकुरमुत्ते की तरह होती है, वह सामान्य मानव चेतना को कोई फल नहीं देती। समस्त मानवजाति को इन महान् अनुभूतियों में से न्यूनाधिक पूर्ण रूप से गुजरना होता है, और यह विकास इसी तरह होता है। केवल मनुष्य के विचार ही अपने किये पर भिन्न शब्द, भिन्न रूप, भिन्न कारण, भिन्न औचित्य, भिन्न वैधीकरण चिपका देते हैं; लेकिन जब तुम तथ्य तक पहुंचो तो वह बहुत अधिक समान होता है। केवल, इसे विशेष रूप से करने के लिये सामान्य आभासों के परे देखना जरूरी है।

जर्मनी और इंग्लैंड के युद्ध के समय यह भली-भांति ज्ञात था कि भगवान् किस ओर थे, भागवत 'शक्ति' किस ओर थी जो आसुरी शक्तियों के विरुद्ध लड़ रही थी...

किसे ज्ञात था ?

यहां।

हां, निश्चय ही।

तो क्या वर्तमान राजनीति में हम कह सकते हैं कि किस दल में...

दुर्भाग्यवश, चीजें इस तरह पूरी-पूरी सुस्पष्ट तब होती हैं जब युद्ध भयानक रूप से पार्थिव रूप ले ले—इतनी स्पष्ट कि यह कहा जा सके कि ये अनुकूल और ये प्रतिकूल हैं, क्योंकि उस समय यह स्पष्ट

होता है कि एक पक्ष की अपेक्षा दूसरे की विजय अधिक वांछनीय है, इसलिये नहीं कि एक दूसरे से ज्यादा अच्छा है—यह जानी हुई बात है कि भागवत दृष्टिकोण से सब का मूल्य समान है, यह वही बात है,—लेकिन क्योंकि विजय के परिणाम ऐसे होते हैं कि एक पक्ष की अपेक्षा दूसरे की विजय अधिक वांछनीय होती है। लेकिन यह तभी होता है जब चीज एकदम से बर्बरता तक, पारस्परिक उन्मूलन तक पहुंच जाती है। अन्यथा, यदि वास्तविक सत्य कहा जाये, तो भागवत 'शक्ति' अपने कार्य के लिये हर जगह काम करती है, जिस तरह मनुष्यों की गलतियों में उसी तरह उनकी सद्भावनाओं में, जिस तरह अनुकूल वस्तुओं द्वारा उसी तरह दुर्भावना द्वारा काम करती है। ऐसी कोई चीज नहीं है जो मिश्रित न हो: कहीं कोई ऐसी चीज नहीं है जिसे भगवान् का पूरी तरह से शुद्ध यंत्र कहा जा सके और न ही कहीं कोई पूर्ण असंभाव्यता है कि भगवान् पथ पर आगे बढ़ने के लिये किसी मनुष्य या क्रिया का उपयोग न कर सकें। अतः जबतक चीजें अनिश्चित हैं, भगवान् हर जगह करीब-करीब समान रूप से कार्य करते हैं। अगर मनुष्य ऐसे भारी पागलपन में जा पड़े, तो बात और है। लेकिन यह सचमुच एक "बड़ा भारी पागलपन" है, इस अर्थ में कि यह व्यक्तियों और इच्छा-शक्तियों के पूरे समूह को ऐसे क्रिया-कलाप की ओर धकेलता है जो उन्हें सीधा विनाश की ओर, उनके अपने विनाश की ओर ले जाता है। मैं बमों की और किसी शहर या जाति के विध्वंस की बात नहीं कह रही, मैं उस विध्वंस की बात कह रही हूं जिसके बारे में गीता में यह कहा गया है, है न, कि असुर स्वयं अपने विध्वंस की ओर जाता है। यही होता है, और यह एक बहुत बड़ा दुर्भाग्य है, क्योंकि पाशविक रूप से विध्वंस करने की बजाय बचा सकना, प्रकाशित करना, बदल देना हमेशा ज्यादा अच्छा होता है। और युद्ध का यह भयंकर चुनाव ही उसकी सच्ची वीभत्सता है, वह संघर्ष को इतने पाशविक रूप से और इतनी पूरी तरह से साकार कर देता है कि कुछ तत्त्व जो शांति के समय बचाये जा सकते थे, ये युद्ध के कारण, अनिवार्य रूप से नष्ट हो गये—और केवल मनुष्य और वस्तुएं ही नहीं, बल्कि शक्तियां, सत्ताओं का अंतःकरण भी।

वर्तमान राजनीति में भारत को क्या कोई विशेष भूमिका निभानी है ?

राजनीति ! मैंने तुमसे शुरू-शुरू में ही कह दिया था कि राजनीति पूरी तरह से . . . अपरिवर्तित है। फिर सच्ची राजनीतिक भूमिका कैसे हो सकती है ?

भारत को जगत् में एक भूमिका निभानी है। लेकिन यह आदर्श की बात है और ऐसे परिवर्तन की मांग करती है जो . . . बहरहाल, जहांतक मैं जानती हूं, अभीतक नहीं हुआ। अगर वह सच्चा और निष्कपट होता तो ऊपरी, बाहरी दृष्टिकोण से भारत अपनी भूमिका निभा सकता। बस, मैं इतना ही कह सकती हूं। लेकिन यथार्थ ज्ञान होना भी आवश्यक है।

(लंबा मौन)

ऐसी चीजों के बारे में कहा नहीं जा सकता।

जब यह राजनेता सत्य को ढूंढ़ लेगा, तो समस्याएं वह-की-वही नहीं रह जायेंगी, है न ?

क्या ? मेरा राजनेता ! सबको सत्य पाना होगा। तब स्वभावतः जब वे सब सत्य को पा लेंगे, तो चीजें और तरह की होंगी। तो ! . . . हम इस समस्या पर मनन करें !

—श्रीमां

व्यक्तिगत धर्म और उसका विरोध

माताजी, उदाहरण के लिये, जब हम कुछ करने का निश्चय करते हैं, तो हमें लगता है कि हम औरों की भावनाओं के साथ टकराते हैं। ऐसी हालत में क्या करना चाहिये ?

कब . . . ?

जब हमने कुछ करने का निश्चय कर लिया हो तो . . .

हां।

. . . तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि हम किसी और की भावना के साथ टकरा रहे हैं।

टकरा रहे हैं ?

मतलब . . .

हां, हां, मैं बहुत अच्छी तरह समझ रही हूं।

हां, तो क्या करना चाहिये ?

यह पूरी तरह अवस्था पर निर्भर है। कहना मुश्किल है . . .। पहले-पहल . . .। (मौन) अगर वह केवल एक बाहरी और ऊपरी निश्चय है जो तुम्हारे थोड़े-से ज्ञान पर निर्भर है, और तुम्हारे थोड़े-थोड़े गुणों और थोड़े-थोड़े दोषों पर निर्भर है, तो स्वभावतः, अगर तुम्हारी समान गुणोंवाली इच्छा-शक्ति से टक्कर हो—अगर इच्छाएं भिन्न हों पर समान गुणवाली हों, तो तुम्हें अपने वांछित आंतरिक परिणाम के अनुसार और परिस्थितियों के अनुसार निश्चय करना चाहिये। यह कहना बहुत मुश्किल है। हर मामले में निश्चय अलग होना चाहिये।

लेकिन अगर तुम उन लोगों में से हो जो तभी काम करते हैं जब उन्हें अपने अंदर यह लगे कि यह सत्य चेतना की आज्ञा है : ''मैंने यह करने का निश्चय किया है क्योंकि यही करना चाहिये, परिणाम चाहे कुछ क्यों न हो,'' तब यदि तुम्हारी पसंदों, इच्छाओं और दूसरों के विरोध के साथ टक्कर हो तो तुम्हें केवल यही करना चाहिये (माताजी मुंह मोड़कर चलने की मुद्रा करती हैं), और अपनी राह पर चलते रहना चाहिये। लेकिन इसी हालत में तुम्हें यह करने का अधिकार है।

जब यह केवल एक व्यक्तिगत क्रिया हो जो निजी पसंद, निजी कामनाओं या निजी धारणाओं से भी परिचालित हो, तो जैसे ही तुम्हें विरोध दिखायी दें तुम्हें समस्या को तोलना चाहिये, तथ्य देखना चाहिये और . . . (मौन) अपनी अधिक-से-अधिक सद्भावना, अपने अच्छे-से-अच्छे बोध के अनुसार कार्य करना चाहिये। और यह सब पूरी तरह इसपर निर्भर है कि विरोध कैसा था, कि तुम क्या करना चाहते थे। इसलिये एक सामान्य नियम बनाना असंभव है।

केवल एक ही चीज है जो तुम्हें **किसी चीज** की परवाह किये बिना अपने मार्ग पर सीधा जाने का

अधिकार देती है : और वह है ऐसी स्थिति जिसमें तुम्हें उच्चतर सत्य ने आगे बढ़ाया हो, गति दी हो। लेकिन तुम्हें उसका **विश्वास** होना चाहिये। तुम्हें अपनी कामना को उच्चतर सत्य न मान बैठना चाहिये, समझे, क्योंकि **यह** भूल बहुत आसानी से हो सकती है। तुम्हें उसे जानना चाहिये, उसकी पुष्टि करने के लिये तुम्हारे पास ठोस प्रमाण होने चाहियें। और यह जानना चाहिये कि सामान्यतः यह ऐसी चीज है जो व्यक्तिगत रूप से तुम्हें नहीं छूती। अगर तुम्हें उसमें जरा भी, इस ओर या उस ओर, रस है तो सावधान, यह विश्वास करने से पहले कि यह उच्चतर संकल्प और सत्य की अभिव्यक्ति है, फिर से सोच लो।

फिर भी, ऐसे अवसर होते हैं जब ऐसी अवस्था आती है। "**यही** वह चीज है जो करनी चाहिये; वास्तव में यही सत्य है।" और तब, चाहे जितना विरोध हो, तुम सीधे अपनी राह पर चलते चले जाओ, परिस्थितियों या परिणामों की चिंता न करो। लेकिन यह अधिकार तुम्हें उसी अवस्था में है, यानी, उस समय जब भगवान् **तुम्हारे** द्वारा काम करते हैं, तब तुम्हें भगवान् की इच्छा के सिवाय **किसी भी चीज** की परवाह न करनी चाहिये। परंतु यदि वह भगवान् की 'इच्छा' नहीं है, तो प्रत्येक समस्या का समाधान करने के लिये परिस्थितियों और . . .

उदाहरण के लिये, हमने गप्पें न लगाने का निश्चय किया, फिर . . .'

कोई ऐसा आदमी मिल जाता है जो गप्पें लगाता है ?

नहीं . . .

तुम बस वहां से मुंह मोड़ लो और चल पड़ो ! (हंसी) बहुत आसान है !

तो वह आदमी बहुत नाराज होगा।

क्या ?

वह आदमी बहुत नाराज होगा ?

यह उसीके लिये बुरा है ! (हंसी) उसीके लिये बुरा है। यह ठीक ऐसा उदाहरण है, ऐसे उदाहरणों में से एक है जिनके बारे में मैंने कहा था : परवाह न करो। अगर तुम उस व्यक्ति को बहुत चाहते हो और उसे बहुत नाराज नहीं करना चाहते, तो बड़ी सभ्यता के साथ उससे कह सकते हो : "जी नहीं, हम लोग व्यर्थ की बातें न करें। यह सबके लिये बुरा है।" बस। अगर वह ऐसा व्यक्ति है जिसकी तुम परवाह नहीं करते या जो तुम्हारे लिये महत्त्वपूर्ण नहीं है, तो बस, उसकी ओर से मुंह मोड़ लो और चल पड़ो।

विशेष रूप से, अगर वह तुम्हारा मित्र है, ऐसा व्यक्ति है जिसे तुम्हारी तरह जानना चाहिये कि यह नहीं करना चाहिये . . .। इस तरह के मामले में तुम्हें ज्यादा सुस्पष्ट होना चाहिये। अगर वह कोई ऐसा व्यक्ति है जिसे किन्हीं परिस्थितियों के कारण, तुम्हारी तरह यह जानना चाहिये कि यह एक ऐसी चीज है जो नहीं करनी चाहिये, फिर भी अगर वह उसे करना शुरू करता है तो वह **बेईमान** है। क्योंकि जब कोई ऐसी चीज करता है जिसके बारे में उसे मालूम है कि यह नहीं करनी चाहिये तो उस क्षण से वह बेईमान हो जाता है; और ऐसे व्यक्ति के लिये तुम्हें कोई लिहाज न होना चाहिये। तुम्हें केवल मुंह मोड़कर चल देना चाहिये;

और अगर वह नाराज होता है तो इसमें उसीका बुरा होगा। उसे केवल . . . परिणाम यह होगा कि उसे अपने गुस्से पर विजय प्राप्त करनी होगी। बस। शायद इससे उसका कुछ भला हो।

सामाजिक संबंधों में एक बड़ी कमजोरी होती है, एक **बहुत** बड़ी कमजोरी; और इसीलिये, वास्तव में, आदमी गुस्सा करता है, उसमें बह जाता है और ऐसी चीजें कहता है जो नहीं कहनी चाहियें। अगर आदमी कमजोर न हो तो वह कभी उग्र न होगा। कमजोरी और उग्रता या हिंसा ऐसी चीजें हैं जो हमेशा साथ जाती हैं। जो सचमुच बलवान् है वह कभी उग्र नहीं होता। यह ऐसी बात है जिसे हमेशा याद रखना चाहिये। उग्रता या हिंसा **हमेशा** कहीं पर कमजोरी का लक्षण है। हां, तुम देखते हो कि उभरी हुई मांसपेशियों वाला एक आदमी जो बहुत मजबूत है, एक दूसरे आदमी को अपनी पूरी शक्ति से गिरा देता है और लोग कहते हैं: "वह मजबूत है" ! यह सच नहीं है। उसमें मांसपेशियां हैं पर नैतिक दृष्टि से वह बहुत कमजोर है। वह एक जगह मजबूत और दूसरी जगह कमजोर हो सकता है। साधारणतः ऐसा ही होता है।

लेकिन मैं कहती हूं, और जिन लोगों ने जानवरों का अवलोकन किया है वे भी कहते हैं कि, उदाहरण के लिये, जो जानवर बहुत मजबूत होते हैं, वे बड़े शांत होते हैं। स्वभावतः, जब वे शिकार का पीछा करते हैं तो अपनी सारी ऊर्जा लगा देते हैं; परंतु यह उग्रता या हिंसा नहीं, ऊर्जा है। लेकिन अगर तुमने कभी सिंह को ऐसी अवस्था में देखा है—जब उसे कुछ भी न करना हो, तब वह जरा भी नहीं चुलबुलाता। अगर वह बीमार हो तो वह बेचैन होता है। लेकिन अगर वह भला-चंगा हो, स्वस्थ हो, अगर उसे कुछ करना न हो तो वह हिलेगा भी नहीं, वह बिल्कुल अचंचल होगा। वह एक संत जैसा दीखेगा। (हंसी)

बेचैनी; उग्रता, क्रोध, यह सब चीजें हमेशा, बिना अपवाद के, दुर्बलता की सूचक हैं। और विशेष रूप से, जब आदमी अपनी भाषा में बह जाता है और ऐसी चीजें कहता है जो न कहनी चाहियें तो **यह** निश्चय ही भयंकर मानसिक दुर्बलता का चिह्न है—मानसिक और प्राणिक—भयंकर। अन्यथा, तुम दुनिया-भर की गाली-गलौज सुन सकते हो, लोग तुमसे सब तरह की बेवकूफी-भरी बातें कह सकते हैं; अगर तुम कमजोर नहीं हो तो शायद तुम बाहर से न भी मुस्कराओ, क्योंकि मुस्कराना हमेशा सुरुचिपूर्ण नहीं होता, लेकिन अपने अंदर की गहराई में तुम मुस्कराते रहोगे, और उसे गुजर जाने दोगे। वह तुम्हें छू तक न पायेगी . . .। अगर तुम्हारे मन ने, जैसा यहां कहा गया है वैसा शांत-स्थिर होने की आदत डाल ली है, और तुम्हें अपने अंदर सत्य का बोध प्राप्त है, तो तुम कुछ भी सुन सकते हो। उससे स्पंदन जैसी कोई भी चीज नहीं पैदा होती—तुम्हारे अंदर सब कुछ अचंचल, स्थिर, शांत रहता है। और तब अगर वह साक्षी वहां हो, जिसकी हम थोड़ी देर पहले बात कर रहे थे, और इस हास्यजनक स्थिति को देख रहा हो तो वह निश्चय ही मुस्कराता है।

लेकिन अगर तुम उस दूसरे व्यक्ति से आते हुए स्पंदनों का अनुभव करो जो तुम्हारे ऊपर अपना समस्त क्रोध और उग्रता फेंक रहा है, अगर तुम उसे अनुभव करो . . . शुरू में ऐसा होता है . . . और फिर, तुम्हारे अंदर से अचानक प्रत्युत्तर उठता है; और फिर, तुम स्वयं क्रुद्ध हो उठते हो तो विश्वास रखो, तुम भी उसीकी तरह कमजोर हो।

तो ऐसी बात है, मेरे बच्चो।

—श्रीमातृवाणी, खंड ६ से

सभी प्रेमों में सबसे पूर्ण प्रेम, सबसे प्रीतिकर प्रेम है भगवान् का प्रेम।

—श्रीमां

अभीप्सा करनेवाले के नाम पत्र[१]

२५ जुलाई को तुम्हारा पत्र श्रीअरविंद के पास समय पर पहुंच गया था लेकिन उस समय वह कोई निश्चित उत्तर देने की स्थिति में नहीं थे। हाल में उन्होंने पत्र को दोबारा पढ़ा और मुझे निम्नलिखित उत्तर लिखने के लिये कहा :

तुम्हारा पहला प्रश्न है अपने विवाहित जीवन के बारे में। इन बातों में उचित नियम यह है कि जबतक तुम्हारे अंदर कर्तव्य का भान हो, जबतक कि तुम्हें उससे छुटकारा न मिल जाये, तुम्हें उसका अनुसरण करना चाहिये। तुम्हें आध्यात्मिक जीवन में प्रवेश करते समय कोई पाप की शंका, पछतावा, किसी प्रकार का खिचाव या आकर्षण अपने साथ न ले जाना चाहिये। इसी तरह अगर तुम्हारे अंदर सामान्य व्यावहारिक मानव के लिये, कमाने, उज्ज्वल भविष्य, सामान्य उद्देश्यों के लिये अपनी क्षमताओं का उपयोग करने या सामान्य मानव चेतना में चमकने का आकर्षण हो तो तुम्हें सब कुछ छोड़कर योग की ओर अग्रसर न होना चाहिये क्योंकि हो सकता है कि तुम्हारे अंदर सिर्फ आध्यात्मिक जीवन या योग के लिये एक मानसिक आकर्षण मात्र हो। आध्यात्मिक चेतना और आध्यात्मिक जीवन को पाना बहुत अधिक कठिन है। उसके लिये बहुत गभीर और सशक्त पुकार की जरूरत होती है और किसी प्रकार की सिद्धि पाने के लिये यह आवश्यक है कि तुम्हारी समस्त ऊर्जा एक लक्ष्य की ओर मुड़ी हो, जिन लोगों ने अपने सभी संबंध काट दिये हों उनके लिये भी दोहरी चेतना से बचना मुश्किल होता है। उनकी एक चेतना अंदर की ओर मुड़ी होती है और आध्यात्मिक परिवर्तन की मांग करती है, दूसरी, जो सामान्य जीवन की गतिविधियों से बंधी रहती है वह उन्हें आध्यात्मिक अनुभूतियों से नीचे, निम्न प्रकृति के अपरिवर्तनशील मार्ग की ओर बड़े हठ के साथ खींचती रहती है। अगर तुम्हें पूरी तरह से अविभक्त पुकार नहीं हुई है तो ज्यादा अच्छा है कि तबतक डुबकी न लगाओ जबतक तुम अत्यंत कटु संघर्ष, बहुत अधिक कठिनाइयों, बार-बार आनेवाली फिसलनों और कटी-छंटी, संदेहास्पद प्रगति के लिये तैयार न हो। ऐसी अवस्था में ज्यादा अच्छा तो यह है कि सामान्य मानव जीवन में, पारिवारिक जीवन बिताते हुए अपने-आपको ध्यान और एकाग्रता के द्वारा तबतक तैयार करो जबतक कि आध्यात्मिक आकर्षण इतना प्रबल न हो जाये कि वह और सब पर छा जाये और उन्हें नष्ट कर दे।

फिर तुम औरों की सेवा करने के योग्य बनने के लिये उच्चतर जीवन बिताने की बात करते हो। लेकिन उच्चतर जीवन बिताना एक बड़ी अस्पष्ट-सी बात है तथा औरों की सेवा करना योग का उद्देश्य नहीं है। योग का उद्देश्य है एक नितांत नयी चेतना में प्रवेश, जिसमें तुम अपने मन और अहं में नहीं रहते बल्कि दिव्य चेतना में चले जाते हो और अपनी सत्ता के अंतर्तम सत्य में विकसित होते हो। वह सत्य मन, प्राण और शरीर से ऊपर है। बहुत-सी योग-प्रणालियों का उद्देश्य है वर्तमान जीवन से एकदम अलग होकर इस महान् सत्ता के साथ एक हो जाना। लेकिन श्रीअरविंद के योग में लक्ष्य है मन, प्राण और शरीर को दिव्य सत्य की अभिव्यक्ति में रूपांतरित करना और बाहरी और भीतरी जीवन को उसी सत्य का मूर्त रूप बनाना—और यह कहीं अधिक कठिन प्रयास है। और सब धर्मों को छोड़कर इसी महत्तर चेतना द्वारा काम करना, जीवन का एकमात्र नियम बन जाता है। इस जीवन का आधारभूत नियम यह है कि तुम न तो अपने अहं की और न औरों की सेवा करो, केवल दिव्य शक्ति के सेवक और उसके कार्य के यंत्र बनो।

आश्रम के बारे में तुम्हारा दूसरा प्रश्न केवल तभी उठता है जब तुमने अपनी पुकार, अपना सच्चा मार्ग पा लिया हो—अगर वह तुम्हें यहां लाये। हर हालत में श्रीअरविंद इस चीज को अधिक पसंद करते हैं कि किसी को अपने आश्रम में लेने से पहले पुकार और क्षमता के बारे में निश्चित हो जायें।

(बुलेटिन अगस्त ८३ से)

[१] यह अपूर्व पत्र शायद श्रीअरविंद ने १९२० के अंत मे लिखा था। यहां उन्होंने अपने लिये अन्य पुरुष का उपयोग इसलिये किया है क्योंकि विचार यह था कि पत्र में उनके सेक्रेटरी के हस्ताक्षर होंगे।

एक मित्र की बात

तुम जो थके हुए, आहत, क्षत-विक्षत हो, तुम जो गिर पड़े हो, शायद हार मान बैठे हो, एक मित्र की बात सुनो। वह तुम्हारे दुःख जानता है, वह उन्हें भोग चुका है, वह तुम्हारी ही तरह पृथ्वी पर दुःख-ताप झेल चुका है, तुम्हारी ही तरह दिन का बोझ उठाये कितने रेगिस्तान पार कर चुका है। भूख और प्यास क्या है वह जानता है, निर्जनता और परित्यक्त अवस्था को पहचानता है, और सबसे अधिक क्रूर वस्तु हृदय की रिक्तता को भी जानता है। आह ! उसने संशय की घड़ियां भी जानी हैं, वह कितनी भूलों, त्रुटियों, हिचकिचाहटों और सब प्रकार की दुर्बलताओं के बीच से गुजर चुका है।

पर वह तुमसे कहता है : साहस रखो। उस पाठ को ध्यान से सुनो जो उदीयमान सूर्य हर सुबह अपनी प्रथम किरणों के साथ पृथ्वी के लिये लाता है। यह आशा का पाठ है, सांत्वना का संदेश है।

तुम जो रोते हो, कष्ट पाते हो, भय से कांपते हो, तुम जिनमें यह जानने का साहस नहीं कि तुम्हारे दुःखों की अवधि कितनी है, और तुम्हारे दुःख का क्या परिणाम है, देखो, ऐसी कोई रात नहीं जिसके बाद प्रभात न आये। जब अंधकार घना हो जाता है तभी उषा तैयार रहती है। ऐसा कोई कुहासा नहीं जिसे सूर्य दूर न कर सके, ऐसी कोई बदली नहीं जिसे वह स्वर्णिम न कर दे, ऐसा कोई आंसू नहीं जिसे एक दिन वह सुखा न दे, ऐसा कोई तूफान नहीं जिसके बाद उसका विजय-धनु चमक न उठे, ऐसा कोई हिम नहीं जिसे वह पिघला न दे, ऐसा कोई शीत नहीं जिसे वह रंगीन वसंत में न बदल दे।

और इसी प्रकार तुम्हारे लिये भी ऐसी कोई विपत्ति नहीं जो प्रतिदान में अपने बराबर ऐश्वर्य न लाये, ऐसी कोई वेदना नहीं जो आनंद में रूपांतरित न हो सके, ऐसी कोई पराजय नहीं जो विजय में न बदल जाये, ऐसा कोई पतन नहीं जो उच्चतर उत्थान में परिणत न हो, ऐसी कोई निर्जनता नहीं जो जीवन का कांतिमय नीड़ न बने, ऐसी कोई असंगति नहीं जो संगति में न बदल सके। कभी-कभी दो मनों का मतभेद ही दो हृदयों को मिलने के लिये बाधित करता है। संक्षेप में, ऐसी असीम कोई दुर्बलता नहीं जो शक्ति में परिणत न हो सके। वरन् चरम दुर्बलता के अंदर ही सर्वशक्तिमान् भगवान् प्रकट होना पसंद करते हैं !

सुनो, मेरे नन्हें बालक ! तुम जो आज अपने को इतना टूटा हुआ और पतित अनुभव करते हो, जिसके पास कुछ भी बाकी नहीं रहा, अपनी दरिद्रता ढकने के लिये, अपने गर्व का पोषण करने के लिये कुछ भी नहीं रहा, तुम इतने महान् कभी नहीं थे ! जो गहराई में जागता है, वह शिखर के कितने समीप होता है ! कारण, खाई जितनी अधिक गहरी होती है, उतनी ही अधिक ऊंचाई प्रकट होती है !

क्या तुम नहीं जानते कि विश्व-सृष्टि की उदात्ततम शक्तियां अपने-आपको जड़त्व के गाढ़तम आवरण से ढकना चाहती हैं ? कितना भव्य है यह गठबंधन, एक ओर परम प्रेम, दूसरी ओर अत्यंत तमोग्रस्त मिट्टी, एक ओर अंधकार की कामना, दूसरी ओर सबसे अधिक ऐश्वर्यशाली प्रकाश।

यदि अग्नि-परीक्षाओं या त्रुटियों ने तुम्हें पछाड़ दिया है, यदि तुम दुःख के अथाह गर्त्त में डूब गये हो तो जरा भी शोक न करो, क्योंकि वस्तुतः वहीं पर तुम्हें मिलेगा भगवान् का स्नेह, उनका परम आशीष ! क्योंकि तुम पावनकारी दुःखों की अग्नि में तप चुके हो, इसलिये अब तुम्हें गौरवमय शिखर मिलेंगे।

तुम बंजर बीहड़ में हो : सुनो नीरवता की वाणी। बाहर की स्तुति और प्रशंसा का कलरव ही तुम्हारे कानों को सुख देता रहा है, अब नीरवता की वाणी तुम्हारी आत्मा को सुख देगी, तुम्हारे अंदर जाग्रत् करेगी गहराइयों की प्रतिध्वनि, दिव्य स्वरसंगतियों का नाद !

तुम गहन रात्रि में चल रहे हो : अंधेरे की अमूल्य संपदा संग्रह करते चलो। सूर्य का उज्ज्वल प्रकाश बुद्धि के मार्ग आलोकित कर देता है, किंतु रात्रि की श्वेत प्रभा में पूर्णता के गुप्त पथ दृष्टिगोचर होते हैं, आध्यात्मिक संपदाओं का रहस्य खुलता है।

तुम नम्रता और अभाव के मार्ग पर हो : यह प्रचुरता का मार्ग है। जब तुम्हारे पास कुछ न बचेगा तो तुम्हें सब कुछ दिया जायेगा। क्योंकि जो सच्चे और सीधे हैं उनके लिये बुरे-से-बुरे में से सदा भले-से-भला निकल आता है।

जमीन में बोया हुआ एक दाना हजारों दाने पैदा करता है। दुःख के पंखों का प्रत्येक स्पंदन गौरव की ओर ले जानेवाली उड़ान बन सकता है।

और जब शत्रु मनुष्य पर क्रुद्ध हो टूट पड़ता है, तो वह उसके नाश के लिये जो कुछ करता है, वही उसे महान् बनाता है।

नाना लोकों की कहानी ध्यान से सुनो ! देखो, प्रचंड शत्रु विजयी होता दिखायी देता है। वह प्रकाश के जीवों को रात्रि के अंधकार में फेंकता है और रात्रि तारों से भर जाती है। वह विश्व की गतिविधि के विरुद्ध घोर युद्ध ठान लेता है, आदि-मंडल के साम्राज्य की अखंडता पर आक्रमण करता है, उसकी समस्वरता को तोड़-फोड़ देता है, उसका विभाजन करता और छोटे-छोटे टुकड़े कर डालता है, उसकी धूल को अनंत की चारों हवाओं में बिखेर देता है। और लो देखो ! वही धूल सुनहले बीजों में परिणत हो जाती है, अनंत को उर्वर बनाती है और उसे नाना भुवनों से भर देती है; ये भुवन अब अपने शाश्वत केंद्र के चारों ओर विशालतर व्योम-मंडल में घूमते रहेंगे। इस प्रकार विभाजन भी एक अधिक समृद्ध और अधिक गभीर एकत्व लाता है और भौतिक जगत् के धरातलों को बढ़ाता हुआ उसी साम्राज्य को विस्तृत कर देता है जिसे वह नष्ट करने चला था।

निःसंदेह असीम के वक्षस्थल पर झूलते आदि-मंडल का गान सुंदर था। पर उससे भी कितना अधिक सुंदर और विजयोल्लासपूर्ण है ग्रह-नक्षत्रों का समवेत राग, भुवनों की संगीत-लहरी, उनकी विराट् सहगान-ध्वनि जो आकाश में विजय का शाश्वत संगीत गुंजायमान कर रही है !

और सुनो, जिस मुहूर्त मनुष्य पृथ्वी पर अपने भागवत उद्‌गम से अलग हो गया था उससे अधिक संकटापन्न स्थिति और कोई नहीं थी। उसके ऊपर फैली हुई थी उसपर बलपूर्वक अधिकार जमानेवाले शत्रु की राज्य-सीमा, और क्षितिज के द्वार पर भड़कती तलवारें लिये खड़े थे कारा-प्रहरी। उस समय मनुष्य जीवन के आदि-स्रोत तक न चढ़ सकता था, अतः वह स्रोत ही उसके भीतर फूट निकला; वह ऊपर से प्रकाश नहीं ग्रहण कर सकता था, अतः वह प्रकाश उसके अंतःस्तल में ही जगमगा उठा; वह परात्पर प्रेम के साथ संबंध रखने में असमर्थ हो गया था, अतः उस प्रेम ही ने अपनी आहुति दी, अपने-आपको अर्पित कर डाला, प्रत्येक पार्थिव प्राणी, प्रत्येक मानवीय अहं को अपना निवासस्थान, अपना मंदिर बना लिया।

इसी तरह, इस तिरस्कृत पर उर्वर, परित्यक्त पर धन्य जड़-तत्त्व के प्रत्येक परमाणु के अंदर दिव्य भाव विद्यमान है, प्रत्येक जीव में भगवान् का निवास है। और यदि सारे विश्व में मनुष्य जैसा दुर्बल और कोई नहीं है तो उस जैसा दिव्य भी नहीं है।

सच है, सच है, मानमर्दन में ही महिमा का पालनां है।

२८ अप्रैल, १९१२ —माताजी

सच्चा प्रेम कैसे पाया जाये ?

मां, आपने कहा था कि आप एक दिन यह बतलायेंगी कि जिसे हम "देव" कहते हैं और जिसे आप "भगवान्" कहती हैं, उन दोनों में क्या भेद है ?

ओहो ! लेकिन मैंने तुमसे कहा था कि यह बाद में होगा, कई वर्ष बाद। मैंने कहा था कि इसके लिये तुम्हें

काफी वयस्क होना चाहिये। मैंने यह भी कहा था कि कैसी अवस्था होनी चाहिये। अब मुझे याद नहीं है। लेकिन मस्तिष्क को इसे समझने के लिये जरा और तैयार होना चाहिये।

"इस महान् और दिव्य शक्ति के सभी विकार सीमित यंत्र के धुंधलेपन, अज्ञान और स्वार्थ से आते हैं। प्रेम में, जो शाश्वत शक्ति है, चिपकने का भाव नहीं होता, कामना नहीं होती, अधिकार करने की भूख नहीं होती, स्वाभिमानपूर्ण आसक्ति नहीं होती। अपनी शुद्ध गति में वह आत्मा की परमात्मा के साथ मिलन की खोज है, एक निरपेक्ष खोज जो और चीजों की परवाह नहीं करती। भागवत प्रेम अपने-आपको देता है और कुछ नहीं मांगता। मनुष्यों ने उसका क्या कर डाला है, वह कहने की जरूरत नहीं। उन्होंने उसे एक भद्दी, घिनौनी चीज बना दिया है। लेकिन फिर भी, मनुष्यों में भी, प्रेम का प्रथम संपर्क अपने शुद्ध तत्त्व का कुछ अंश लेकर आता है। वे क्षणभर के लिये अपने-आपको भूल सकने योग्य बन जाते हैं। क्षणभर के लिये उसका दिव्य स्पर्श सभी मनोहर और सुंदर तत्त्वों को जगा देता है। लेकिन बाद में मानव स्वभाव ऊपरी सतह पर आ जाता है जिसमें अशुद्ध मांगें भरी हैं, जो बदले में कुछ मांगता है, जो देता है उसके बदले कुछ चाहता है, निम्न तुष्टियों के लिये छटपटाता है और जो चीज दिव्य थी उसे बिगाड़ देता और गंदा कर देता है।"

प्रश्न और उत्तर १९२९ (२ जून)

मनुष्य हमेशा जो कुछ देते हैं उसके बदले में कुछ क्यों लेना चाहते हैं?

क्योंकि वे अपने-आपमें बंद रहते हैं।

वे अपनी सीमाओं को अनुभव करते हैं और सोचते हैं कि वृद्धि पाने के लिये, बढ़ने के लिये, बचे रहने के लिये भी उन्हें बाहर से चीजें लेनी होंगी, क्योंकि वे अपनी व्यक्तिगत सीमाओं की चेतना में रहते हैं। इसलिये, उनकी दृष्टि में, जब वे कुछ देते हैं तो उनके अंदर एक छेद हो जाता है, और यह छेद कुछ पाकर ही भरा जा सकता है! . . . स्वभावतः यह एक भूल है। सच तो यह है कि अपने छोटे व्यक्तित्व की अपनी संकुचित सीमाओं में बंद रहने की जगह पर वे अपनी चेतना को इतना विस्तृत कर सकें कि औरों के साथ उनकी संकुचित सीमाओं में एक हो सकें, इतना ही नहीं, बल्कि इन सीमाओं से बाहर निकलकर उनके पार जाकर सब जगह फैल जायें, एकमेव चेतना के साथ मिलकर एक हो जायें और सब चीजें बन जायें, तब, उस क्षण संकुचित सीमाएं गायब हो जायेंगी, उससे पहले नहीं। और जबतक तुम्हें संकुचित सीमाओं का अनुभव होता है तबतक तुम लेना चाहते हो, क्योंकि तुम्हें खोने का डर रहता है। व्यक्ति खर्च करता है तो फिर से भरना चाहता है। मेरे बच्चो, यह इसी कारण है। क्योंकि अगर तुम सभी चीजों में फैले रहो, अगर आने और जानेवाले सभी स्पंदनों, सब चीजों में मिल जाने की, अपने-आपको विस्तृत करने की, अपनी सीमाओं में बने रहकर बढ़ने की नहीं, उन सीमाओं से बाहर निकलकर बढ़ने की और हर चीज के साथ एक हो जाने की आवश्यकता व्यक्त करो तो तुम्हारे पास खोने के लिये कुछ भी न होगा, क्योंकि सब कुछ तुम्हारे पास होगा। लेकिन आदमी यह नहीं जानता। और चूंकि वह नहीं जानता इसलिये कर भी नहीं सकता। आदमी लेना चाहता है, संचित, संचित, संचित करना चाहता है लेकिन यह असंभव है। तुम संचित नहीं कर सकते। तुम्हें तादात्म्य साधना चाहिये। और तब जो कुछ थोड़ा-बहुत तुम देते हो उसका बदला चाहते हो। तुम एक सद्भावना देते हो तो उसकी मान्यता चाहते हो, तुम थोड़ा-सा स्नेह देते हो और दूसरों से उसकी आशा करते हो . . .। क्योंकि तुम्हारे अंदर यह क्षमता नहीं है कि हर एक के अंदर सद्भावना बन सको, तुम्हारे अंदर यह क्षमता नहीं है कि सबके अंदर स्नेह बन सको, सब चीजों के अंदर सौम्य प्रेम बन सको। तुम्हें बस ऐसा ही प्रतीत होता है, सब कुछ कटा-कटा और सीमित और सब कुछ

खोने का डर लगता है, तुम्हारे पास जो कुछ है उसे खोने का डर लगता है क्योंकि तब तुम कंगाल हो जाओगे। इसके विपरीत, यदि तुम तादात्म्य कर सको तो तुम्हें खींचने की जरूरत न रहेगी। तुम जितना अधिक फैलोगे उतना ही अधिक तुम्हारे पास होगा। तुम जितना अधिक तादात्म्य साधोगे उतने अधिक बन जाओगे। और तब लेने की जगह तुम दोगे। तुम जितना अधिक दोगे उतने ही अधिक बढ़ोगे।

लेकिन इसके लिये तुम्हें अपने छोटे-से अहंकार की सीमाओं में से निकल आना चाहिये। तुम्हें अपने अहं के साथ एक होने की जगह दिव्य शक्ति के साथ तादात्म्य साधना चाहिये, दिव्य स्पंदन के साथ तादात्म्य साधना चाहिये।

यह बहुत कठिन है, लेकिन आदमी इसमें सफल हो सकता है।

—श्रीमातृवाणी खंड ५ से

अंधविश्वास क्या है ?

१५ जुलाई, १९५३

"हर आदमी की कोई-न-कोई सनक या कोई दकियानूसी मान्यता होती है; हर एक यही सोचता है कि मैं इस या उस पक्षपात से मुक्त हूं जिसमें दूसरे फंसे हुए हैं, और वह उनकी धारणाओं को गलत मानने के लिये तैयार रहता है; लेकिन वह यह मानता है कि उसकी अपनी बात वैसी नहीं है; उसके लिये तो वह सत्य है, वास्तविक सत्य। मन के किसी नियम के साथ बंधन कहीं पर छिपे अंधेपन का संकेत है।"

प्रश्न और उत्तर १९२९ (१९ मई)

क्या अंधविश्वास मानसिक नियम है ?

नहीं, नियम नहीं, मानसिक रचनाएं। साधारणतः, अंधविश्वास किसी अनुभूति में जन्म लेता है। उदाहरण के लिये, यूरोप में एक अंधविश्वास है। तुमसे कहा जाता है : "नसैनी के नीचे होकर कभी मत चलो। इससे दुर्भाग्य आता है।" हो सकता है कि कभी कोई नसैनी के नीचे चला हो और नसैनी उसपर गिर पड़ी और वहांसे यह कहानी बन गयी। यह भी हो सकता है कि यह अनुभव बार-बार हुआ हो क्योंकि अगर नसैनी बुरी तरह से रखी गयी हो और तुम उसके नीचे से निकलो और वह उसी क्षण गिर पड़े। यह उससे आया हुआ दुर्भाग्य हो गया ! ऐसे अनगिनत अंधविश्वास हैं। ये देश पर निर्भर हैं; ये चीजें प्रायः स्थानीय होती हैं और हो सकता है कि तुम विभिन्न देशों में परस्पर विरोधी अंधविश्वास पाओ। कुछ देशों में काली बिल्ली को देखना विपत्ति के आने का सूचक होता है और किन्हीं अन्य देशों में अगर तुम काली बिल्ली देखो तो यह अच्छा शकुन होता है ! अगर तुम सब चीजों को इकट्ठा करो तो इस निष्कर्ष पर आओगे कि तुम्हें कुछ नहीं होगा। बस, ऐसा ही होता है। प्रायः सभी अंधविश्वास किसी ऐसे अनुभव के परिणाम होते हैं जो स्थानीय, सामयिक और अपवादस्वरूप होता है और जिसे किसी मानसिक सिद्धांत का रूप दे दिया जाता है। यह मानसिक रचना है, नियम नहीं।

अब, कुछ और उदाहरण हैं, जैसे बहुत-से धार्मिक नियम शुद्ध रूप से स्वास्थ्यवृत्ति के नियमों पर, चिकित्सा-शास्त्र के ज्ञान पर आधारित होते हैं। उन्हें धार्मिक स्तर तक उठा दिया गया क्योंकि इसी रूप में लोगों से उनका पालन कराया जा सकता था। अगर तुमसे यह न कहा जाये कि भगवान् तुमसे ऐसा या

वैसा करवाना चाहते हैं तो तुम उसे न करोगे, अधिकतर लोग नहीं करते। उदाहरण के लिये, साधारण-सी चीज ले लो : खाने से पहले हाथ धोना। जिन देशों की सभ्यता पूरी तरह वैज्ञानिक नहीं है वहां लोगों ने यह खोज की कि सचमुच खाने से पहले हाथ धोना ज्यादा स्वास्थ्यकर है। अगर उन्होंने इसे धार्मिक नियम न बना दिया होता, अगर उन्होंने यह न कहा होता कि भगवान् चाहते हैं कि मनुष्य खाने से पहले हाथ धोये अन्यथा यह उनके विरुद्ध अपराध होगा, तो लोग कहते : "ऐं, क्यों ? नहीं, नहीं, आज नहीं, कल। मेरे पास समय नहीं है, मैं जल्दी में हूं।" लेकिन इस तरीके से उनके मन के पिछवाड़े में कहीं यह डर सदा बैठा रहता है कि भगवान् के नाराज हो जाने से कुछ बुरा होगा। यह भी एक अंधविश्वास है, बड़ा अंधविश्वास।

लोग कुछ चीजें करते हैं क्योंकि उनसे करने के लिये कहा जाता है। कई मजहब—उदाहरण के लिये, केल्डियन मजहब— कहते हैं कि सूअर का मांस खाना मना है। उनका कहना है कि वह बिल्कुल अपवित्र होता है और अगर तुम उसे खाओगे तो तुम भी अपवित्र हो जाओगे। सच बात तो यह है कि इन देशों में (वे गरम देश हैं) सूअर का मांस कीड़ों से भरा रहता है जो पकाये जाने पर भी पेट में चले जाते हैं। उन कीड़ों को मारने के लिये उसे बहुत ज्यादा समय तक पकाना चाहिये। इसलिये ये छोटे-छोटे कीड़े साधारण तौर पर मांस पकाये जाने के बाद भी जिंदा रहते हैं, और तुम्हारे पेट या अंतड़ियों में जम जाते हैं; और वहीं पनपते रहते हैं। कभी-कभी तो वे तुम्हारा खात्मा ही कर डालते हैं, या हर हालत में तुम्हें बीमार तो कर ही देते हैं। ये कीड़े इस प्रकार के मांस में पनपते हैं। लोगों को ये सब बातें बतलायी जायें तो वे नहीं समझते। उनके अंदर कोई चिकित्सा-संबंधी, स्वास्थ्य-संबंधी या वैज्ञानिक विचार नहीं होते और इन बातों में उन्हें रस नहीं आता : "लेकिन यह मांस महंगा नहीं है, यह सस्ता मिल जाता है। देखेंगे क्या होता है।" होगा क्या ? कुछ समय बाद उनकी आंतों में जोर का दर्द होगा और वे दुबले होते जायेंगे और इसके लिये ज्यादा, और ज्यादा खायेंगे, लेकिन बिल्कुल बेकार। उन्हें पता न लगेगा कि क्या हुआ है, और कीड़े उन्हें खा जायेंगे। लेकिन अगर उनसे कहा जाये : "यह मत करो, भगवान् नाराज हो जायेंगे और तुम्हें दंड देंगे," तो यह काफी होगा, वे ऐसा न करेंगे . . .।

(श्रीमातृवाणी खंड ५ से)

सत्य-निष्ठा

शैशव से ही मनीष को सिखाया गया था कि संपूर्ण भूमंडल की देखभाल स्वर्ग में विराजमान परमात्मा करते हैं। हर एक वस्तु चाहे कितनी नगण्य तथा तुच्छ क्यों न प्रतीत होती हो उनकी दिव्य दृष्टि में अपना विशेष महत्त्व रखती है।

आज दस साल के बाद भी उसे अपनी मां के शब्द याद थे, उसकी मधुर आवाज आजतक उसके हृदय में गूंज उठती थी, "बेटे, जीवन में अनेक कठिनाइयां आयेंगी लेकिन कदापि हिम्मत न हारना। क्योंकि जो कुछ होता है हमारे हित के लिये ही होता है; जो हमारी दृष्टि में अहित-सा लगता है वह भी वास्तव में भागवत कृपा का ही एक रूप होता है। उनके हर एक कार्य के पीछे एक कारण होता है।"

मनीष तो अभी शिशु मात्र था। इसलिये उसने मां के वचन को परम सत्य मान लिया। उस समय बिना विरोध के, बिना सोच-विचार के उसने मान लिया कि भगवान् रक्षक हैं, कि मुसीबत में वे उसकी प्रार्थना सुन लेंगे और निःसंदेह उसकी सहायता करने के लिये उपस्थित होंगे।

जब कभी मनुष्य पूर्ण रूप से अपने-आपको भगवान् के सामने अर्पित कर देता है, उनकी सर्वव्यापिनी

शक्ति में पूर्ण रूप से विश्वास करता है तो क्या उसका जीवन कठिन दिखायी देता है ? नहीं, क्योंकि भगवान् में पूरी श्रद्धा रखना एक ऐसा अस्त्र है जिसके होते हुए हमें किसी प्रकार की हानि नहीं हो सकती।

अतः मनीष की आंखों में जीवन एक सुखमय यात्रा था। रोज सवेरे स्कूल जाने के लिये निकलता तो शाम तक न लौटता। फिर लौटकर खाना खाकर दादा से कहानियां सुनता या आंगन में पड़ोस के बच्चों के साथ खेलता। उसकी दृष्टि में जीवन प्यार, खेल और रसीली कहानियों से ही रंगा था।

कितना सौभाग्यशाली है वह व्यक्ति जो गरीब होते हुए भी आनंदित रह सकता है। बच्चों के सिवाय इस दुनिया में ऐसे लोग सुदुर्लभ हैं।

क्या मनीष को दारिद्र्य का अर्थ मालूम था ? शायद, कुछ हद तक वह उसके प्रति सचेत था। जैसे अपने जन्मदिन पर वह कितने ही सुंदर उपहारों के सपने देखा करता था ! लेकिन मिलता था एक झुनझुना। उसके सब रंग-बिरंगे सपने चूर-चूर हो जाते थे, उसके छोटे मासूम हृदय में दुःख भर आता था और उसकी आंखें छलछला उठती थीं। लेकिन अगले ही क्षण वह सोचता, "मां मुझे बहुत कुछ देना चाहती हैं लेकिन दे नहीं पातीं। कोई बात नहीं। मैं इसीसे संतुष्ट रहूंगा। शायद एक दिन भगवान् मेरी प्रार्थना सुन लें।"

लेकिन समय बीतता गया। महीने वर्षों में परिवर्तित हो गये। फिर भी भगवान् ने उसकी प्रार्थना नहीं सुनी, उसके सपने बस सपने ही रह गये। . . .

इस बीच मनीष की एक अमीर लड़के से दोस्ती हो गयी। वह उसे भगवान् की बातें सुनाने का प्रयास करता तो रमेश हंसकर कहता, "अरे बेवकूफ ! भगवान् जैसा वास्तव में कोई है ही नहीं। मनुष्य की कल्पना ने ही उसे बना दिया है। अच्छा, तू ही बता, क्या भगवान् से प्रार्थना करने पर धन-दौलत मिल सकती है ? क्या किसी मुर्दे को वे जिंदा कर सकते हैं ?"

और फिर वह उसे अपने घर बुलाता और विविध प्रकार के स्वादिष्ट पकवान खिलाता। और स्वाभाविक रूप से मनीष क्रमशः अपनी झोंपड़ी की रमेश के महल से तुलना करने लगा। उसके अंदर एक आवाज कहती, "मनीष, यह निष्ठा छोड़ दे। बड़े होकर धन कमाना, चैन से रहना।"

लेकिन फिर दूसरी आवाज कहती, "मनीष, अपनी मां की बातें याद रख। भौतिक सुख ही सब कुछ नहीं है। भगवान् में श्रद्धा मत छोड़। वे हरदम तेरी सहायता करेंगे।"

मनीष ने रमेश का संग छोड़ना ही अच्छा समझा। लेकिन आखिर एक जवान लड़का इन सब आकर्षक सुखों से कितने दिन दूर रह सकता था ?

लेकिन फिर एक घटना घटी जिससे मनीष में जो थोड़ी-बहुत निष्ठा बची थी वह भी चली गयी। एक दिन स्कूल से घर लौटने पर देखा कि मां बहुत बीमार पड़ी है। उसकी बुरी हालत देखकर वह डर गया और दौड़ा-दौड़ा चिकित्सक के पास गया। लेकिन उसका इलाज संभव नहीं था। अंततः उसने प्रार्थना की शरण ली। आंखें मूंदकर विनती की, "हे भगवान् मेरी मां की रक्षा करना। यही मेरी एकमात्र आकांक्षा है।"

लेकिन ऐसा लगा कि भगवान् ने दुबारा उसकी प्रार्थना नहीं सुनी। . . .

इससे मनीष को बड़े जोर से धक्का लगा, उसके मन में विद्रोह भरा प्रश्न उठा, "भगवान् दयालु कहां हैं ? उन्होंने उंगली तक नहीं उठायी मेरी मां की रक्षा के लिये। कितने निष्करुण हैं वे !"

वेदना-पीड़ित मनीष नदी किनारे जा बैठा। संध्या की बेला थी। भगवान् भास्कर ने अपनी यात्रा पूरी कर ली थी और अस्ताचल के पीछे विलुप्त होने-होने को थे। उनकी कोमल गुलाबी रश्मियां अभी पृथ्वी पर मंडरा रही थीं जैसे किसी पुष्प के मनोहरानन से मदान्ध होकर भ्रमर मंडराते हैं। चारों ओर एक पवित्र शांति छायी हुई थी।

सहसा उसके शोकपूर्ण हृदय में एक मधुर आवाज गूंज उठी, "मनीष, क्या तूने बचपन से पली निष्ठा को क्षणमात्र में त्याग दिया ? जीवन के सभी द्वंद्व आपस में विपरीत भले दीखते हों पर वास्तव में एक ही भागवत कृपा के भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। मनीष, नूतनता का जन्म होने के लिये पुरातनता को जाना पड़ता है, ज्ञान की प्रतिष्ठा के लिये अज्ञान जगह देता है, प्रकाश के आते ही अंधकार छंट जाता है। उसी तरह नवजीवन के आगमन से पहले मौत को आना पड़ता है। दुःखी मत हो, मनीष। जीवन के संग्राम में शूरता से लड़ना पड़ता है। बस, एक घटना से इतने हताश हो गये ? देखो, पूरी सृष्टि कितनी सुंदर है। मनुष्यों के लिये पितामह ब्रह्मा ने इतने कष्ट सहकर सत्य, शिव और सुंदर का सर्जन किया है। क्या तुम उनकी कला का रसास्वादन नहीं करोगे ? क्या उनको अपनी कृतज्ञता अर्पित नहीं करोगे ?"

यह सुन शोक में विलीन मनीष ने आंखें खोलीं और चारों ओर दृष्टि फेरी। ऊपर, वृक्ष की शाखा पर बैठा विहंग संगीत-लहरी बहा रहा था। नदी के शीतल जल पर द्वाभा रह-रह कर शोभा दे रही थी। तट पर हरी-भरी घास फूलों से खुशबू चुराते मंद-मंद बहते पवन के स्पर्श मात्र से पुलकित हो रही थी, छोटे-छोटे सफेद फूल साकार ज्योत्सना-से नजर आ रहे थे। आह ! कैसी रौनक थी !

अचानक मनीष का सारा शोक भाप बनकर उड़ गया और उसकी जगह आशा तथा अर्चना की चिनगारी जाग उठी। अभीप्सा और कृतज्ञता की अंजली बांध उसने ऊपर की ओर ताका तो लालिमा से रंजित गगनमंडल की पवित्र शांति में गूंज उठे ये शब्द :

सत्यम्... शिवम्... सुन्दरम्...।

'गैर्वाणी' :

खेलप्रियाः बिडालशावाः

धूसरवर्णा काचित् प्रियदर्शना शिशुबिडाली आसीत्। तस्याः रोमराशेः धूसरवर्णः अद्वितीयः—यथा तस्याः लोमसु ईषत् रौप्यचूर्णं मुक्ताचूर्णं च विकीर्णम् इव प्रतीयते स्म। सुशोभना खल्वासीत् सा।

कदाचित् इयं भद्रा बिडाली रोगेण आक्रान्ता। अस्याः माता अन्यान् शिशून् अवदत्—"पश्यत, एषा रुग्णा, दूरं गत्वा क्रीडत, येन सा विश्रमितुं शक्नुयात्।"

शावाः आयतनेत्राभ्यां रुग्णां सोदरामपश्यन्। ते परस्परं शिरःकम्पेन स्वीकृतिमसूचयन्।

यदा तैः क्रीडा आरब्धा तदा ते तूष्णीकाः अथ च कक्षे शयानायाः रुग्णबिडाल्याः दूरस्थाः अपि अतिष्ठन्। ते परस्परं धर्तुं मण्डलाकारमधावन् किन्तु सकृदपि तस्याः समीपं न अगच्छन्।

खेलप्रियाः बिडालाः अकूर्दन्त, अन्योन्यम् अन्वधावन्, मल्लयुद्धम् अकुर्वन् किन्तु तैः किञ्चिदपि कोलाहलः न कृतः। खेलसमये ते रुग्णबिडाल्याः विश्रामम् ईषदपि न अबाधन्त।

बिडाली तस्याः पुच्छं च

अथ, आसीत्, अन्या बिडाली, अपूर्वा आसीत् तस्याः शोभा किन्तु अविद्यत काचित् समस्या, पुच्छमासीत् तस्याः सामान्यमार्जार्याः इव सर्वथा कृशं, न च तत् मनोहरबिडाल्याः सुदीर्घं, लोमशं पुच्छम् इव शोभनम्।

एकस्मिन् दिने श्रीमाता वातायनस्य समीपे अतिष्ठत्। सुशोभना सा बिडाली तस्याः समीपे एव आसीत्। नीचैः उद्यानं प्रविष्टा अतिशोभना काचित् बिडाली, प्रतिवेशिनामासीत् सा। आसन् तस्याः त्रयः सुस्पष्टरङ्गाः,

तदनुरूपं च शोभनं, दीर्घं घनं च पुच्छम्। पुच्छान्विता सा साम्राज्ञी इव अचलत्। प्रोक्तं श्रीमात्रा—"अहो, प्रिया सा। कियत् शोभनं पुच्छम्। पश्यसि, तस्याः सौन्दर्यम्!"

कतिचित्-मासेभ्यः परं तनुपुच्छवत्या बिडाल्या शावद्वयं प्रसूतम्। तयोरेकः शिशुः रूपेण सर्वथा अनुकरोति स्म प्रतिवेशिनः बिडालीम्। तस्य शरीरे त्रयः सुस्पष्टरङ्गाः आसन्, आसीत् च सुदीर्घं लोमशं च पुच्छम्! कथमेषः चमत्कारः घटितः, वयं न जानीमः।

रहस्यं स्यात् खल्विदम्।

विनोदी बिल्लियां

एक बहुत सुंदर भूरी बिल्ली थी। उसका भूरा रंग बहुत ही विलक्षण था—ऐसा लगता था कि उसके लोम के साथ चांदी और मोती का चूर्ण मिला हुआ था। वह सचमुच सुंदर थी।

एक दिन यह कोमल बिल्ली बीमार पड़ गयी। उसकी मां ने अन्य बिलौटों से कहा, "देखो, यह बिलौटी बीमार है। तुम लोग कहीं और जाकर खेलो ताकि इसके आराम में बाधा न पड़े।"

छोटे-छोटे बिलौटों ने बड़ी-बड़ी समझदार आंखों से बीमार बिल्ली की ओर देखा और परस्पर सहमति में सिर हिला दिया।

और जब उन्होंने खेलना शुरू किया तो वे चुपचाप रहे और उस कमरे में लेटी हुई बीमार बिलौटी से दूर रहे। वे एक-दूसरे को पकड़ने के लिये गोल-गोल घूमते रहे पर एक बार भी बीमार के नजदीक न आये।

मनमौजी बिलौटे उछलते-कूदते, एक-दूसरे का पीछा करते, कुश्ती लड़ते रहे लेकिन उन्होंने जरा भी शोर न मचाया। अपने सारे खेल के बीच उन्होंने बीमार बिलौटी को जरा भी तंग न किया।

बिल्ली और उसकी पूंछ

एक और बिल्ली थी, वह बहुत सुंदर थी, लेकिन उसकी एक समस्या थी। उसकी पूंछ एक सामान्य बिल्ली जैसी ही थी, बिल्कुल पतली रस्सी जैसी, सुंदर बिल्ली की तरह लंबी, मोटी, रोमों से भरी न थी।

एक दिन श्रीमां खिड़की के पास खड़ी थीं। सुंदर बिलौटी उनके पास थी। नीचे बगीचे में एक शानदार बिल्ली ने प्रवेश किया। वह किसी पड़ोसी की थी। उसके तीन स्पष्ट रंग थे और एक प्यारी-सी मोटी पूंछ जिसका रंग उससे मेल खाता था। वह रानी की तरह शान से चल रही थी और उसके बाल उसके पीछे-पीछे फिसल रहे थे।

श्रीमां ने कहा, "आह! कितनी सुंदर है, और कैसी प्यारी दुम है। देखो, यह कितनी प्यारी है।"

कुछ महीनों के बाद पतली दुमवाली बिल्ली ने दो बिलौटे दिये और इनमें से एक ठीक पड़ोसी की बिल्ली जैसा था। उसके भी तीन स्पष्ट रंग और एक लंबी घनी पूंछ थी। पता नहीं यह चमत्कार कैसे हुआ।

शायद यह एक छोटा-सा रहस्य था।

—वन्दना

स्फुट वचन

यदि ऐसी चीजें हों जो रूपांतरित होना एकदम अस्वीकार करती हों अथवा संशोधित होकर भगवान् की अधिक पूर्ण प्रतिमा बनने से इंकार करती हों तो हृदय में कोमलता, पर प्रहार में निष्ठुरता रखकर उनका विनाश किया जा सकता है। परंतु सबसे पहले इस विषय में निःसंदिग्ध हो जा कि भगवान् ने ही तुझे तेरी तलवार और तेरा कार्य प्रदान किया है।

*

मुझे अपने पड़ोसी से प्यार करना चाहिये, पर इसलिये नहीं कि वह हमारे पड़ोस में रहता है, —क्योंकि आखिर पड़ोस में और दूर में क्या रखा है ? और न इसलिये कि धर्म मुझे यह सिखाते हैं कि वह मेरा भाई है, —क्योंकि उस भ्रातृत्व की जड़ कहां है ? बल्कि इसलिये कि वह स्वयं मेरी आत्मा है। पड़ोस और दूरी शरीर को प्रभावित करते हैं पर हृदय उनसे परे चला जाता है। भ्रातृत्व रक्त का या देश का, धर्म या मानवता का होता है, पर जब स्वार्थ अपनी परिपूर्ति के लिये मचलता है तब इस भ्रातृत्व का क्या हाल होता है ? जब मनुष्य भगवान् में निवास करता है और अपने मन, हृदय और शरीर को उनकी विश्वव्यापी एकता की प्रतिमूर्ति में बदल देता है केवल तभी उस गभीर, निःस्वार्थ एवं दुर्धर्ष प्रेम को पाना संभव होता है।

*

जब मैं श्रीकृष्ण में निवास करता हूं तब अहंकार और स्वार्थ विलीन हो जाते हैं। केवल भगवान् ही मेरे प्रेम को अतल और असीम बना सकते हैं।

*

श्रीकृष्ण में निवास करने पर शत्रुता भी प्रेम की ही एक क्रीड़ा तथा भाइयों का मल्लयुद्ध बन जाती है।

*

जिस जीव ने उच्चतम आनंद को हस्तगत कर लिया है उसके लिये जीवन कोई अशुभ वस्तु या दुःखदायी श्रम नहीं हो सकता; उसके लिये तो सारा जीवन ही किसी दिव्य प्रेमी तथा बालसखा का लहराता प्रेम और हास्य बन जाता है।

*

क्या तू भगवान् को निराकार अनंत के रूप में देख सकता है और फिर भी उनसे वैसे ही प्यार कर सकता है जैसे कोई मनुष्य अपनी प्रेमिका से प्यार करता है ? तभी कहा जा सकता है कि अनंत का उच्चतम सत्य तेरे सम्मुख प्रकट हो गया है। फिर तू क्या अनंत को एक गुप्त, आलिंगन करने योग्य शरीर प्रदान कर सकता है और ये जो दृश्य और ग्राह्य शरीर हैं उनमें से प्रत्येक में और सब में उन्हें देख सकता है ? तभी कहा जा सकता है कि उसका विशालतम और गभीरतम सत्य भी तेरे अधिकार में आ गया है।

*

भागवत प्रेम एक साथ द्विविध क्रीड़ा करता है—उसकी एक तो विश्वव्यापी गति, पाताल के समुद्र की तरह गभीर, शांत और अतल होती है, जो समग्र जगत् के ऊपर तथा उसके अंदर की प्रत्येक चीज के ऊपर झुकी रहती है मानों किसी समतल भूमि पर एक समान दबाव डालकर झुकी हुई हो, और दूसरी शाश्वत गति जो उसी समुद्र की नर्तनकारी सतह की तरह शक्तिशाली, तीव्र और आनंदपूर्ण होती है जो अपनी तरंगों के बल और पराक्रम को बदलती रहती है तथा उन वस्तुओं को चुनती है जिनपर वह अपने फेन और फुहार के चुंबन देती हुई तथा अपने सर्वावगाही जल से आलिंगन करती हुई गिरना चाहती है।

—श्रीअरविंद

साहसी, सहनशील, जागरूक और इनसे भी बढ़कर पूरी ईमानदारी के साथ सच्चे बनो। तब तुम सब कठिनाइयों का सामना कर सकोगे और विजय तुम्हारी होगी।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.

THE MOTHER

प्रार्थना और ध्यान

२३ जुलाई १९१३

हे प्रभो, हे कल्पनातीत भव्यता, वर दे कि तेरा सौन्दर्य सारी पृथ्वी पर उमड़ पड़े, तेरा प्रेम सभी हृदयों में सुलग उठे और सब पर तेरी शांति का राज्य छा जाये।

मेरे हृदय से गभीर और गहरा, मुस्कराता हुआ और सूक्ष्म मंत्र उठता है। मैं नहीं जानती कि यह मंत्र तेरी ओर से मेरी ओर आ रहा है या मेरी ओर से तेरी ओर जा रहा है या तू, मैं और यह सारा विश्व ही यह अद्भुत मंत्र है जिसके बारे में मैं अभी-अभी सचेतन हुई हूं . . .। निश्चय ही अब न कोई तू है न मैं हूं और न ही कोई पृथक् विश्व है; केवल एक महान् सामंजस्य है, उदात्त और अनंत, जो सब कुछ है और जिसके बारे में एक दिन हर चीज सचेतन हो जायेगी। यह असीम प्रेम का सामंजस्य है, ऐसे प्रेम का जो सब दुःख-दैन्य और अंधकार पर विजय पाता है।

प्रेम के इस विधान से, तेरे विधान से मैं अधिकाधिक समग्र रूप से जीना चाहती हूं; निःसंकोच होकर अपने-आपको उसके अर्पण करती हूं।

और मेरी सारी सत्ता अनिर्वचनीय शांति में उल्लसित होती है।

—श्रीमां
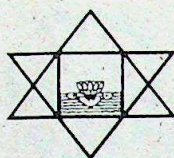
प्रतापी सूर्य के लिये रुदन

(सॉनेट)

रुदन करना क्योंकि एक प्रतापी सूर्य हो गया अस्तमित
जो अगली सुबह प्राची को फिर करेगा स्वर्ण-लिप्त,
शोक मनाना कि महान् शक्तियां भाग्य के सामने हुईं समर्पित
जो इस पराभव से प्राप्त करतीं शक्ति द्विगुणित,
दुःख से कतराना जिसके सौहार्द्रपूर्ण संघर्ष के बिना
सुख की नहीं है संभावना, मृत्यु को आतंक का रूप देना
जो हंसकर हमें अगले जीवन का देती है संकेत
और श्वास-प्रश्वास की निरन्तरता में है एक टेक;
दुःख और निराशा और शुष्क जड़ित
आंखों का त्रासद अवसाद, या ऐसा अनर्थकारी अश्रुजल
जो फाड़ डालता हृदय, जब कि वह था इसकी मुक्ति के लिये उद्दिष्ट,
और मनुष्य के सारे भयों के प्रेत दल
उपज हैं उस मूढ़ता की जो मानती है जीवन
की अवधि को अमर मानव का सीमाबंध।

अनु० —अमृता भारती —श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

अगस्त

१. अगर तुम सच्चे, ईमानदार और निष्कपट हो तो मेरी सहायता जरूर तुम्हारे साथ रहेगी और एक दिन तुम उसके प्रति सचेतन हो जाओगे।

२. अब जब कि हम 'कृपा' के प्रभाव से धीरे-धीरे निश्चेतना में से बाहर निकल रहे हैं और सचेतन जीवन की ओर जाग रहे हैं तो हमारे अंदर अधिक प्रकाश और अधिक चेतना के लिये एक उत्कट प्रार्थना उठती है :

'हे सृष्टि के परम प्रभु, हम अनुनय करते हैं, हमें वह बल और सुन्दरता, सामंजस्यपूर्ण पूर्णता प्रदान कर जो धरती पर तेरे दिव्य यंत्र बनने के लिये जरूरी हैं।'

३. हमेशा निष्ठावान् और अध्यवसायी रहो तो तुम्हें उपलब्धि में अपना भाग मिलेगा। आगे बढ़ो, हमेशा आगे बढ़ो, भय के बिना और संकोच के बिना आगे बढ़ो।

४. एक सच्चे और निष्कपट हृदय के साथ हम सब 'विजय' के लिये संकल्प करते हैं, लेकिन वह एक-एक चरण करके ही उपलब्ध हो सकती है। अध्यवसायपूर्ण अनुशासन पहला कदम है।

५. बुढ़ापा आयु बड़ी हो जाने से नहीं आता बल्कि विकसित होने और प्रगति करने की अयोग्यता के कारण अथवा विकसित होना और प्रगति करना अस्वीकार कर देने के कारण आता है।

६. एकाग्र मनोयोग के समुचित प्रशिक्षण के द्वारा व्यक्ति किसी भी क्रिया को संपादित करने की पूरी-पूरी क्षमता अनिवार्य रूप से विकसित कर सकता है।

७. आध्यात्मिक दृष्टि से शुद्ध करनेवाला एकमात्र काम वह है जो किसी हेतु के बिना, ख्याति, सार्वजनिक मान्यता या सांसारिक बड़प्पन की कामना के बिना, अपने मानसिक प्रयोजनों या प्राणिक लोभ-लालसा या माँगों के आग्रह के बिना, भौतिक पसंदों, अहम्मन्यता, भद्दे स्वाग्रह, पद या प्रतिष्ठा की मांग के बिना केवल भगवान् के लिये और भगवान् की आज्ञा से किया जाता है। योग के जिज्ञासु के लिये अहंकारपूर्ण भाव से किया गया कोई भी काम, वह अज्ञानमय जगत् के लोगों के लिये चाहे कितना भी अच्छा क्यों न हो, किसी काम का नहीं होता।

८. पढ़ाई मन को मजबूत बनाती है और उसकी एकाग्रता को प्राण की कामनाओं और उसके आवेशों से दूर हटाती है। पढ़ाई पर एकाग्रता मन और प्राण को वश में करने के सबसे अधिक सशक्त तरीकों में से एक है; इसीलिये पढ़ना इतना महत्त्वपूर्ण है।

९. प्र० —सामान्यतः मैं किसी क्रिया को करने के बाद ही उसकी गतिविधि के बारे में अभिज्ञ होता हूं। अगर मैं क्रिया करने से पहले क्षण भर के लिये भी रुकूं तो मैं इन गलत गतिविधियों से बच सकता हूं।

उ० —हां, क्रिया करने से पहले कुछ क्षणों के लिये सोचने की आदत डालना और अपने-आपसे यह पूछना कि आध्यात्मिक दृष्टिकोण से क्रिया सचमुच सहायक है या नहीं —यह सीखना बहुत अच्छा है।

१०. तुम मजे के लिये पढ़ाई नहीं करते —तुम सीखने, अपने मस्तिष्क को विकसित करने के लिये पढ़ते हो।

११. प्र० —हम किन लक्षणों से यह कह सकते हैं कि चैत्य सत्ता सतह पर आ गयी है ?

उ० —तुम सुख और शांति का अनुभव करते हो, श्रद्धा तथा गभीर और सच्ची सद्भावना से भरे होते हो और भागवत उपस्थिति को बहुत निकट अनुभव करते हो।

१२. प्राणिक आवेगों के सामने झुकना निश्चित रूप से उन्हें वश में करने का तरीका नहीं है। तुम्हें अपने लिये एक अनुशासन बनाना चाहिये और अगर तुम प्राणिक दुर्भावना और मानसिक अवसादों से पिण्ड छुड़ाना चाहते हो तो हर हालत में उसे स्वयं पर लागू करना होगा। अनुशासन के बिना तुम जीवन में कुछ नहीं कर सकते और समस्त योग असंभव हो जाता है।

१३. चूंकि दूसरे लोग कमीने हैं इसलिये यह कोई कारण नहीं है कि तुम भी कमीने बनो !

१४. हम महान् विजय के लिये वफादार कार्यकर्ता होना चाहते हैं।

१५. अपना अवलोकन करना अच्छा है ताकि तुम अपनी कमजोरियां देख सको और उन्हें सुधारने लायक बन सको।

१६. प्रकृति जटिल है और सदा सत्य और मिथ्या, शुभ और अशुभ आपस में मिले रहते हैं। अपने दोषों और दुर्बलताओं को स्पष्ट रूप से देखना बहुत उपयोगी है, लेकिन केवल उन्हीं को न देखना चाहिये क्योंकि यह बहुत ज्यादा एकांगी दर्शन होगा। तुम्हें उसके बारे में भी अभिज्ञ होना चाहिये जो प्रकृति में शुभ और सत्य है और उसकी ओर पूरा ध्यान देना चाहिये ताकि शुभ और सत्य-पक्ष बढ़ता रहे और अंततः बाकी सबको आत्मसात् कर ले और प्रकृति को रूपांतरित कर दे।

१७. हां, स्थिर और धैर्यपूर्ण विश्वास में ही विजय की निश्चिति रहती है।

१८. तुम जो नहीं हो वह होने का ढोंग न करो। पाखण्डी होने की अपेक्षा सच्चा, स्पष्टवादी होना ज्यादा अच्छा है।

१९. जब तुम्हारे अंदर सच्ची मनोवृत्ति हो तो हर चीज सीखने का अवसर हो सकती है।
तुम जो कुछ करो, अपना **अच्छे-से-अच्छा करो** और परिणाम परम प्रभु के हाथ में छोड़ दो; तब तुम्हारा हृदय शांत रहेगा।

२०. प्र० —मधुर मां, मुझे अपने काम पर विश्वास नहीं है। मैं बहुत शर्मीला हूं, मेरा ख्याल है कि प्रगति करने के लिये आदमी को ज्यादा हिम्मतवाला होना चाहिये।
उ० —तुम्हें ज्यादा हिम्मतवाला नहीं, ज्यादा अध्यवसायी और दृढ़ होना चाहिये।

२१. औरों की आलोचना करने से पहले, ज्यादा अच्छा है कि यह निश्चित रूप से जान लो कि स्वयं तुम पूरी तरह सच्चे हो।

२२. छिछला अवलोकन सहायता नहीं कर सकता और जब तक तुम चैत्य सत्ता के साथ संपर्क न साध लो, ज्यादा अच्छा यही होगा कि व्यर्थ विश्लेषण में समय काटने की जगह हमेशा अपना अच्छे-से-अच्छा करने की और तुम जितने अच्छे हो सकते हो उतने अच्छे होने की कोशिश करो।

२३. जब कोई गड़बड़ होती है तो तुम्हें हमेशा अपने अंदर ही उसके कारण को ढूंढ़ना चाहिये, छिछले रूप में नहीं, अपने अंदर गहराई में और व्यर्थ में अपने दोष पर रोने-धोने के लिये नहीं बल्कि भगवान् की सर्वसमर्थ शक्ति को अपनी सहायता के लिये बुलाकर दोष का उपचार करने के लिये।

२४. तुम्हें अहंकार पर विजय पानी चाहिये और जैसे ही तुम वह विजय पा लोगे वैसे ही तुम्हारे दुःख समाप्त हो जायेंगे।

२५. लोग जो कुछ कहते हैं उसका महत्त्व नहीं होता, क्योंकि मानव मूल्यांकन सदा एकांगी और इस कारण अज्ञान भरे होते हैं।

२६. अपने-आपको जानने के लिये, तुम्हें अपने-आपको उच्चतर और गहनतर चेतना से देखना होगा जो तुम्हारी प्रतिक्रियाओं और भावों के सच्चे कारणों को विवेक के साथ देख सके।

२७. जिस क्षण तुमने किसी चीज को स्वीकार करने का निश्चय कर लिया है तभी से उसे भरसक अच्छी-से-अच्छी तरह करना चाहिये।

२८. तुम हर चीज में चेतना और आत्म-प्रभुत्व में प्रगति करने का अवसर पा सकते हो और प्रगति के लिये यह प्रयास उस चीज को—वह कुछ भी क्यों न हो—तुरन्त रुचिकर बना देता है।

२९. अपने जीवन को अनुशासन में लाना आसान नहीं है, उनके लिये भी जो सबल, अपने साथ कठोर, साहसी और सहनशील हैं।

अपने सारे जीवन को अनुशासित करने की कोशिश करने से पहले कम-से-कम **एक** क्रिया को अनुशासित करने की कोशिश करनी चाहिये और उसमें सफलता पाने तक लगे रहना चाहिये।

३०. भूल करने का तथ्य ही इस बात को प्रमाणित करता है कि तुम सत्ता के किसी भाग में सच्चे और निष्कपट नहीं हो।

३१. त्रासदियां उनके लिये हैं जो उन्हें त्रासदी के रूप में लेते हैं—मानवजाति के एक बहुत बड़े भाग के लिये।

हर चीज के पीछे भागवत कृपा को देख सकने के लिये तुम्हें भागवत ऐक्य की चेतना में निवास करना चाहिये।

अनुकंपा और कृतज्ञता मुख्य रूप से चैत्य गुण हैं। वे चेतना में तभी प्रकट होते हैं जब चैत्य सत्ता सक्रिय रूप से जीवन में भाग ले।

प्राण और शरीर इन्हें दुर्बलता के रूप में अनुभव करते हैं क्योंकि वे उनके आवेगों को प्रकट होने से रोकते हैं।

हमेशा की तरह, अपर्याप्त रूप से प्रशिक्षित मन प्राण का साथी और भौतिक प्रकृति का दास होता है जिसके अर्ध-चेतन, यांत्रिक, अभिभूत करनेवाले नियमों को वह कम ही समझता है। जब मन पहली चैत्य गतियों की अभिज्ञता की ओर जागता है तो वह अपने अज्ञान में उन्हें विकृत कर देता है और उन्हें अनुकंपा या दया में या ज्यादा अच्छा हुआ तो उदारता में बदल देता है और वह कृतज्ञता को प्रतिदान में बदल देता है और धीरे-धीरे करके उन गतियों की क्षमता पहचानने और उनकी सराहना करने पर बल देता है।

केवल तभी जब चैत्य चेतना सत्ता में अत्यंत बलवती हो तब अनुकंपा जानती है कि जिस किसीको सहायता की जरूरत हो—चाहे वह किसी भी क्षेत्र में क्यों न हो—और उन सबके लिये कृतज्ञता का भाव—वह चाहे किसीमें क्यों न हो—भागवत उपस्थिति और कृपा को प्रकट करता है।

*

कठिनाइयों का पूर्व-दर्शन न करो। इससे उन्हें पार करने में मदद नहीं मिलती। इससे उन्हें आने में मदद मिलती है।

—श्रीमां

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित :

अतीतावलोकन

हमने देखा है कि भारत में एक बौद्धिक काल आया था, उसके प्रारंभिक काल में कई बुद्धिजीवी ऐसे हुए—हालांकि उनकी संख्या अपेक्षाकृत कम थी, लेकिन जो अपनी प्रतिभा और आविष्कारशील सक्रियता में बहुत शक्तिशाली थे—जिन्होंने भारत में पाश्चात्य शिक्षा को पाला-पोसा। प्राणिक ऊर्जा से भरपूर इन बुद्धिजीवियों का पलड़ा भारी था और उनके अंदर भारत में एक ऐसे रूपान्तरण की अधीरतापूर्ण आशा थी जैसा बाद में बहुत जोर-शोर से जापान में आया; उन्होंने ऐसे नये भारत के सपने लेने शुरू किये जिसने आधुनिकता का जामा पहना हो, जो अपने मन, अपनी आत्मा तथा अपनी प्राण-शक्ति में आधुनिक रूप में व्यवहारकुशल हो।

वे बुद्धिजीवी बड़े देशभक्त थे, देश का भला चाहते थे लेकिन उनकी दृष्टि में जो भला था क्या वह सचमुच भारत का भला था? सच कहा जाये तो वे अपनी मानसिक प्रवृत्ति में राष्ट्रीयता से दूर थे क्योंकि वे पश्चिम की सभ्यता के फंदे में फंसे हुए थे, उनके आदर्श पश्चिम से उधार लिये गये या कम-से-कम शुद्ध रूप से पाश्चात्य भावना और ढांचे से प्रेरित थे। मध्यकालीन भारत से वे विद्रोह के साथ पीछे हट गये और उस समय की सभ्यता तथा संस्कृति पर संदेह करने, यहांतक कि उसको नष्ट करने पर प्रवृत्त होने लगे। अगर उन्होंने उस युग से कुछ लिया तो वे थे कुछ काव्यमय प्रतीक जिनका उन्होंने सतही और आधुनिक अर्थ दे डाला। इसके विपरीत पुरा भारत की ओर वे एक प्रकार के गर्व से देखते थे—कम-से-कम कुछ आदर्शों में—और उन आदर्शों को वे अपने नये दृष्टिकोण के सांचे में ढालने के बहुत इच्छुक भी थे, लेकिन सचमुच वे पुरा भारत के उन आदर्शों को उसके मौलिक अर्थ तथा भाव में ग्रहण नहीं कर पाये क्योंकि उनकी पाश्चात्य मानसिकता के चौखटे में पुरा संस्कृति का भला क्या-क्या समा सकता था? उन बुद्धिजीवियों ने तो एक सादे, सरलीकृत और तर्कसंगत धर्म की चाह की, ऐसे साहित्य का सृजन किया जिसने बड़ी उत्सुकता से—अन्य कलाओं की प्रायः पूरी तरह से उपेक्षा कर—अंग्रेज प्रतिरूपों के रूप, विचार तथा संपूर्ण भावना का आयात किया। उसकी राजनैतिक श्रद्धा और आशा थी यूरोपीय नीति का थोक में आत्मसात्करण या दूसरे शब्दों में कहें तो उन्नीसवीं शती के इंग्लैंड के मध्य-वर्गीय कृत्रिम जनतंत्र की हूबहू नकल करना। और अगर यूरोपीय रंग-ढंग के सभी सामाजिक आचार-व्यवहार भारत में प्रवेश कर उसकी जड़ों की तरफ उतर जाते तो भारतीय समाज में कैसी क्रांतिकारी उठा-पटक हो गयी होती—हालांकि कई विचार तो उसके अंदर काफी हद तक घुस गये और उन बुद्धिजीवियों को भले वे पाश्चात्य विचार बहुत मूल्यवान् लगे हों और जितनी भी आतुरता के साथ भारत ने उनको ग्रहण किया हो, लेकिन जैसा कि बाद में हमें ज्ञात हो गया, वे तरीके भारत के लिये घातक थे—हम आङ्गलीकृत भारत न तो किसी हालत में चाहते हैं और न ही यह संभव है, क्योंकि फिर तो वह भारत ही न रहेगा, और अगर अब भी पाश्चात्य लहरियां हम पर निरन्तर उठती-गिरती रहें तो फिर हम भला क्या बन जायेंगे—पश्चिम के दुःखदायी नकल-नवीस, उसके बेढंगे अनुयायी जो यूरोप के पीछे-पीछे चलने के लिये हमेशा लड़खड़ाते और गिरते-पड़ते रहेंगे और उससे हमेशा पचास साल पीछे रहेंगे। एक समय ऐसा लगता था कि भारत नकल करने की इसी दिशा में चलता ही चला जायेगा, यद्यपि इस विचारधारा की बाढ़ में वह काफी हद तक डूब गया लेकिन फिर भी उस बहाव में भारतीयता की सांस नहीं टूटी और भारत पुनरुज्जीवित हो उठा। हां, यह सच है कि अब भी उस विचारधारा की लहरें उसके मानस तट पर आकर टकराती जरूर हैं, कुछ उठा-पटक भी कर बैठती हैं लेकिन अब उस पर हावी होकर उसे अपने अधीन कदापि नहीं कर सकतीं।

अब अगर हम पीछे मुड़कर भारत के अतीत को देखें तो कह सकते हैं कि भारत का पतन सचमुच अधिक ऊंची चढ़ाई के लिये अनिवार्य था, इसे समझने के लिये हमें उस स्थिति को अधिक विस्तार से देखना होगा। सच कहा जाये तो भारतीय मानस पर पाश्चात्य चढ़ाई और भारत द्वारा अधकचरे तथा अनगढ़ रूप में पाश्चात्य सभ्यता तथा संस्कृति का अनुकरण कुछ ऐसे मूल्यवान् परिणाम लाया जिसने भारत में प्रबल पुनर्जागरण को अनिवार्य बना दिया। इस पुनर्जागरण में तीन महत्त्वपूर्ण घटनाएं घटीं। सबसे पहले इसने भारत में बुद्धि के प्रभाव को एक बार फिर उभारा, यद्यपि भारत में बुद्धि का कौशल और प्रभाव अपने स्वर्णिम काल में उत्कर्ष पर था, लेकिन वह केवल कुछ सीमित क्षेत्र में था, पुनर्जागरण के बाद बुद्धि, चिन्तन और मनन व्यापक हो गया, इसका प्रभाव जन-जन में फैलने लगा और इस चीज ने भारतीय मानस में अधिक व्यापक रूप में ज्ञान की उस पुरानी प्यास को जगाया, जिसके परिणामस्वरूप व्यक्तियों में हर प्रकार के ज्ञान के लिये ललक जगी—हालांकि वह ज्ञान अब तक गहराई और विशालता में नहीं बल्कि सतह पर ही कार्य कर रहा है, लेकिन फिर भी, चारों तरफ के द्वार खुल रहे हैं। मानव मन की समीक्षात्मक क्षमताएं, सर्वांगपूर्ण अवलोकन के लिये उसका आवेग और उसके स्वतंत्र निर्णय—जो प्राचीन काल में कुछ सीमित व्यक्तियों के क्षेत्र की चीजें मानी जाती थीं—अब बुद्धि का आवश्यक साधन बन गयी हैं। पाश्चात्य की नकल उतारनेवाले काल ने ही चिन्तन का यह बीज हमारे अंदर अनायास बो दिया था और विद्रोह के बाद वही बीज अब अच्छी तरह पनप रहा है। इस पुनर्जागरण के काल में दूसरी चीज यह हुई कि इसने निश्चित रूप से हमारी पुरानी संस्कृति के अंदर आधुनिक विचारों का खमीर डालकर उस संस्कृति को हमारे सामने इस रूप में प्रस्तुत किया कि हम उन विचारों को उन विभिन्न दृष्टिकोणों से देख और समझ सकने का प्रयास कर सकते हैं जिन दृष्टिकोणों से हम कभी स्वप्न में भी उन्हें नहीं देखते, क्योंकि अगर चीजों को देखने के लिये हमारे निश्चित पारम्परिक तरीकों में यह तात्कालिक उग्र विच्छेद न आता तो हम शायद रूढ़िवादिता में जा गिरते और अंत में पाश्चात्य संस्कृति की ग्रहणशीलता ने हमें अपने अतीत की ओर एक नयी दृष्टि डालने पर बाधित किया, जिससे न केवल हम उस प्राचीन भाव तथा आत्मा के कुछ अंश को पा सके बल्कि उनमें से एक नये प्रकाश को उजागर भी कर सके जिसने पुराने सत्यों को नूतन पहलुओं में ढाला, अतः सृजन तथा विकास की अभिनव सम्भाव्यताएं हमारे सामने खुल गयीं। हम कह सकते हैं कि पहले काल में अपनी प्राचीन सभ्यता के बारे में हमारे भ्रम ने भी कुछ उपकार ही किया, अब पुनर्जागरण के बाद जब भारत की आंखें खुली हैं तो हम आशा कर सकते हैं कि भारतीय अपनी प्राचीन सभ्यता को अधिकाधिक विशालता और बहुमुखी पहलुओं में समझ और देख पायेंगे। अगर यह नयी समझ भारतवर्ष पर अपना सिक्का जमा ले तो क्या भारत का पतन पतन कहलायेगा?

—वन्दना

——***——

कभी-कभी आप हमारी कामनाओं और महत्त्वाकांक्षाओं के लिये भी "अच्छा" कह देती हैं।

भागवत कृपा पथ पर प्रगति के लिये काम करती है। कामना की तुष्टि भी कामनाओं की निरर्थकता दिखाकर वह उद्देश्य पूरा कर सकती है।

और जरूरी नहीं है कि विगत कल का अच्छा आगामी कल का भी अच्छा हो।

इसलिये अपनी प्रेरणा के अनुसार चलो, मेरे आशीर्वाद तुम्हारे साथ हैं।

३० मई १९६८ —माताजी

'कुछ माताजी के बारे में' :

समर्पण और बलिदान में फर्क

क्या समर्पण और बलिदान एक ही नहीं हैं ?

हमारे योग में बलिदान के लिये कोई स्थान नहीं है। परंतु सब कुछ इसपर निर्भर है कि तुम बलिदान शब्द का क्या अर्थ करते हो। उसके विशुद्ध भाव के अनुसार इसका अर्थ है पवित्र उत्सर्ग, भगवान् के प्रति अर्पण द्वारा पवित्रीकरण। परंतु आजकल के अनुसार बलिदान ऐसी वस्तु है जो विनाश के लिये प्रवृत्त है; यह अपने साथ एक अभावात्मक वातावरण लिये हुए है। इस प्रकार का बलिदान यज्ञ नहीं है, यह तो आत्म-वंचना है, आत्म-वध है। तुम अपनी संभावनाओं का, अपने व्यक्तित्व की अत्यंत जड़-प्राकृतिक भूमिका से लेकर अत्यंत आध्यात्मिक भूमिकाओं तक की संभावनाओं और सिद्धियों का बलिदान करते हो। बलिदान तुम्हारी सत्ता को क्षीण करता है। भौतिक रूप से, यदि तुम अपने जीवन का, अपने शरीर का बलिदान करते हो तो तुम पार्थिव भूमिका पर की गयी अपनी समस्त संभावनाओं को त्याग देते हो; तुम अपने पार्थिव जीवन की सफलताओं से हाथ धो लेते हो। इसी प्रकार नैतिक दृष्टि से तुम अपने जीवन की बलि दे सकते हो; तुम अपने आंतरिक जीवन की विशालता और स्वतंत्र चरितार्थता को त्याग देते हो। आत्मबलि की इस भावना के अंदर सदा ही एक प्रकार की प्रताड़ना का, किसी तरह की बनावट का, किसी अध्यारोपित आत्म-त्याग का भाव रहता है। यह एक ऐसा आदर्श है जो आत्मा की गभीरतर और विशालतर स्वतःस्फूर्तियों को कोई स्थान नहीं देता। समर्पण से हमारा यह आशय नहीं बल्कि स्वतःस्फूर्त आत्मदान से है, अपने-आपको पूरी तरह भगवान् को, एक ऐसी उच्चतर चेतना को दे देना जिसके तुम एक अंग हो। समर्पण तुम्हारा ह्रास नहीं करेगा, बल्कि तुम्हारी वृद्धि करेगा, वह तुम्हारे व्यक्तित्व को घटायेगा नहीं, न उसे दुर्बल करेगा, न उसका नाश ही करेगा, बल्कि वह उसको सुदृढ़ बनायेगा, उसका उत्कर्ष करेगा। समर्पण का अर्थ है देने के पूर्ण आनन्द के साथ मुक्त भाव से और पूर्ण रूप से देना, इसमें बलिदान का कोई भाव नहीं है। यदि तुममें जरा-सा भी ऐसा भाव हो कि तुम बलिदान कर रहे हो तो फिर वह समर्पण नहीं रहता। क्योंकि इसका तो यह अर्थ हुआ कि तुम अपने-आपको बचाये रखना चाहते हो अथवा यह कि तुम अनिच्छापूर्वक या कष्ट और प्रयास के साथ देने की चेष्टा कर रहे हो, तुम्हें देने का आनंद नहीं मिलता, शायद तुम्हारे अंदर देने का भाव तक नहीं रहता। जब कभी तुम किसी काम को अपनी सत्ता पर दबाव डालकर करते हो तब तुम यह निश्चयपूर्वक जान लो कि तुम उस काम को गलत तरीके से कर रहे हो। सच्चा समर्पण तुम्हें विशाल बनाता है, तुम्हारी क्षमता की वृद्धि करता है, वह तुम्हारे गुण और मात्रा के परिमाण को इतना बढ़ाता है जितना तुम अपने-आप न बढ़ा पाते। गुण और मात्रा की यह नयी वृद्धि पहले जो कुछ तुम प्राप्त कर सकते थे उससे भिन्न प्रकार की है : तुम किसी दूसरे ही जगत् में प्रवेश करते हो, किसी विशालता में, जिसमें समर्पण किये बिना न पहुंच पाते। यह तो ऐसे ही है जैसे समुद्र में जल की एक बूंद गिरती है। अगर उसने अपना पृथक् अस्तित्व बनाये रखा तो वह मात्र जल की बूंद रहेगी, इससे अधिक कुछ नहीं, एक छोटी-सी बूंद जो अपने इर्द-गिर्द की विशालता से कुचली जायेगी, क्योंकि उसने समर्पण नहीं किया है। परंतु, समर्पण कर देने पर, वह उस समुद्र के साथ एक हो जाती है और समग्र समुद्र की प्रकृति और शक्ति और विशालता का अंग बन जाती है।

इस गति में किसी तरह की संदिग्धता या अस्पष्टता नहीं होती, यह स्पष्ट, बलवान् और निश्चित होती है। यदि कोई छोटा-सा मानव मन भागवत विराट् मन के सामने खड़ा हो और फिर भी अपने पृथकत्व से

चिपका रहे, तो वह जो कुछ है वही बना रहेगा, एक छोटा-सा परिसीमित पदार्थ जो उच्चतर सद्वस्तु के स्वभाव को नहीं जान सकता, उसके संपर्क में नहीं आ सकता। ये दोनों एक-दूसरे से अलग बने रहते हैं और गुण तथा मात्रा की दृष्टि से एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न रहते हैं। परंतु यदि वह छोटा-सा मानव मन समर्पण करे तो वह भागवत विराट् मन में निमग्न हो जायेगा, गुण और मात्रा में भी उसके साथ एक हो जायेगा। इस तरह वह केवल अपनी सीमाओं और विकृतियों के सिवाय कुछ न खोयेगा और इससे पा लेगा अपनी विशालता और प्रकाशमान विमलता को। उसके छोटे-से अस्तित्व का स्वभाव बदल जायेगा और वह जिस महत्तर सत्य को समर्पण करता है उसके स्वभाव को धारण कर लेगा। परंतु यदि वह विराट् मन का प्रतिरोध करे, उसके साथ युद्ध करे, उसके विरुद्ध विद्रोह करे तो दोनों के बीच एक लड़ाई अनिवार्य हो जायेगी और विराट् मन का मानव मन पर दबाव पड़ेगा और जो निर्बल और छोटा है वह बलवान् और बड़े की शक्तिमत्ता और अमितता में समा जायेगा। यदि वह समर्पण न करे तो उसकी एकमात्र गति यही है कि वह चूस लिया जाये और उसका अंत हो जाये। जो मानव-प्राणी भागवत मन के स्पर्श में आयेगा और समर्पण करेगा वह देखेगा कि उसका मन अपने अज्ञान और अंधकार से तुरंत शुद्ध होने लगा है और वह भागवत विराट् मन की शक्ति और ज्ञान में भाग लेने लगा है। और यदि वह सामने खड़ा रहे, किंतु पृथक् भाव से, बिना किसी संस्पर्श के, तो वह जो कुछ है वही बना रहेगा, उस अपरिमेय विशालता में जल की एक बूंद। और यदि वह विद्रोह करे तो वह अपने मन को गंवा देगा, उसकी शक्तियां क्षीण होने लगेंगी और लुप्त हो जायेंगी। और जो बात मन के लिये सत्य है वही प्रकृति के अन्य सब भागों के लिये भी सत्य है। यह ऐसा है जैसे तुम किसी ऐसे मनुष्य के साथ लड़ो जो तुमसे बहुत अधिक तगड़ा हो, तो तुम्हें बस सिर फुड़वाने का ही लाभ होगा। तुम उस चीज से क्यों कर लड़ सकते हो जो तुमसे लाखों गुनी बलवान् है? प्रत्येक बार जब तुम विद्रोह करोगे तब तुम्हें एक आघात पहुंचेगा और प्रत्येक आघात तुम्हारी शक्ति के एक भाग को हर लेगा, यह वैसी ही बात है जैसे कोई अपने से बहुत अधिक बलवान् प्रतिद्वंद्वी के साथ मुष्टि-युद्ध में उतरे और घूंसे पर घूंसा खाता जाये और हर घूंसा उसे अधिकाधिक कमजोर बनाता जाये और अंत में वह पछाड़ खा जाये। इसमें किसी संकल्प-शक्ति के हस्तक्षेप की आवश्यकता नहीं होती, यह काम आप-से-आप हो जाता है। यदि तुम विशालता के विरुद्ध विद्रोह करके उससे टकराओ तो इसके सिवाय और कोई परिणाम हो ही नहीं सकता। जब तक तुम अपने कोने में पड़े रहो और साधारण जीवन बिताते रहो तब तक तुम्हें कोई नहीं छूता या कोई तुम पर चोट नहीं करता, किंतु जहां तुम भगवान् के संस्पर्श में आये कि तुम्हारे लिये केवल दो ही मार्ग रह जाते हैं। या तो तुम समर्पण करो और उसमें अपने-आपको मिला दो और तुम्हारा समर्पण तुम्हें विशाल और महिमान्वित करेगा; या फिर तुम विद्रोह करो और तब तुम्हारी सब संभावनाएं समाप्त हो जायेंगी और तुम्हारी शक्तियां क्षीण होकर नष्ट होने लगेंगी और तुममें से खिंचकर उस देव में समा जायेंगी जिसका तुम विरोध कर रहे हो।

समर्पण के विषय में बहुत से भ्रांत विचार फैले हुए हैं। ऐसा लगता है कि अधिकतर लोग समझते हैं कि समर्पण करने का अर्थ है व्यक्तित्व का विसर्जन, किंतु यह एक बड़ी भूल है। कारण, व्यक्ति के अस्तित्व का प्रयोजन है भागवत चेतना के एक पहलू की अभिव्यक्ति, और इस पहलू के स्वभावगत धर्म के प्रकाशन से ही उसके व्यक्तित्व की रचना होती है। इसलिये भगवान् की ओर उचित भाव रखने से यह व्यक्तित्व क्षीण और विकृत करनेवाले निम्न प्रकृति के प्रभावों से मुक्त हो जाता है और अधिक शक्ति-संपन्न होकर, अपने स्वरूप में अधिक प्रतिष्ठित होता है और अधिक पूर्ण बन जाता है। उसके व्यक्तित्व का सत्य और सामर्थ्य अपने अधिक विशिष्ट रूप में चमकने लगता है, उसका चरित्र अधिक यथार्थ रूप में प्रत्यक्ष होता है जैसा कि उस समय संभव न होता जब वह समस्त अज्ञान और अंधकार से, निम्न प्रकृति की सारी गंदगी और खोट से मिला होता। अब उसका व्यक्तित्व ऊंचाई में और महिमा में बढ़ने लगता है,

उसकी क्षमता में वृद्धि हो जाती है तथा उसकी अधिकतर संभावनाएं सिद्ध होने लगती हैं। परंतु यह उदात्त करनेवाला परिवर्तन लाने के लिये व्यक्ति को पहले उस सबका त्याग करना होगा जो सत्य स्वभाव को विकृत, सीमित और तमोग्रस्त करके उसके सच्चे व्यक्तित्व को बंधन में डालता, नीचे की ओर गिराता तथा विरूप बनाता है; उसे अपने-आपमें से उन सब तत्त्वों को निकाल फेंकना होगा जो साधारण मनुष्य की अज्ञानमयी, निम्न क्रियाओं से तथा उसके अंधे-लंगड़े साधारण जीवन से संबंध रखते हैं। सबसे पहले उसे अपनी कामनाओं का त्याग करना होगा; कारण, कामना निम्न प्रकृति की सबसे अधिक तमसाच्छन्न क्रिया है और यह मनुष्य को सबसे अधिक तमसाच्छन्न करती है। कामनाएं दुर्बलता और अज्ञान की गतियां हैं और ये तुम्हें अपनी दुर्बलता तथा अज्ञान से बांधे रखती हैं। लोगों की धारणा है कि कामनाएं उनके अपने अंदर उत्पन्न होती हैं, वे महसूस करते हैं कि ये या तो उनके अंदर से पैदा होती हैं या उनके अंदर से उठती हैं, किंतु यह एक भूल है। कामनाएं अंधकारग्रस्त निम्न प्रकृति के विशाल समुद्र की लहरें हैं और एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति में पहुंचती रहती हैं। मनुष्य कामना को अपने अंदर पैदा नहीं करते, बल्कि ये लहरें उन पर चढ़ आया करती हैं, जो कोई इनके लिये खुला हो या जिसने अपने बचाव का प्रबंध न किया हो, वह इनकी पकड़ में आ जाता है और इनके थपेड़ों को खाता हुआ इधर-उधर डोलता रहता है। कामना मनुष्य को अभिभूत करके, उसपर अधिकार करके उसे विवेक करने लायक नहीं रहने देती और उसमें ऐसी धारणा जमा देती है कि कामना की अभिव्यक्ति करना भी उसके अपने स्वभाव का एक अंग ही है। पर सच तो यह है कि मनुष्य के सत्य स्वभाव के साथ इसका कुछ भी संबंध नहीं होता। ईर्ष्या, डाह, घृणा और हिंसा आदि सभी निम्नतर आवेगों के संबंध में यही बात है। ये भी वे गतियां हैं जो तुम्हें पकड़ लेती हैं, वे लहरें हैं जो तुम पर चढ़ाई करके तुम्हें पराजित कर देती हैं; इनका सत्य चरित्र या सत्य स्वभाव से कोई संबंध नहीं है, बल्कि ये तो उन्हें विरूप बनाती हैं। ये तुम्हारा वास्तविक या अविभाज्य अंग नहीं हैं, बल्कि ये इर्द-गिर्द के उस अंधकारमय समुद्रों से आती हैं जिनमें निम्न प्रकृति की शक्तियां विचरण करती हैं। इन कामनाओं में, इन आवेशों में कोई व्यक्तित्व नहीं होता, इनमें तथा इनकी क्रियाओं में, ऐसी कोई चीज नहीं होती जो तुम्हारे लिये विशेष हो, ये इसी रूप में सभी के अंदर प्रकट होती हैं। मन की अज्ञानमय गतियां, व्यक्तित्व को ढक देनेवाली तथा उसकी वृद्धि और सार्थकता को क्षीण करनेवाली भ्रांतियां, संदेह और कठिनाइयां भी इसी मूल से आती हैं, ये गुजरती हुई लहरें हैं और जो कोई इनकी पकड़ में आने के लिये और अंधे उपकरण की तरह काम करने के लिये तैयार हो उसे पकड़ लेती हैं। फिर भी, प्रत्येक मनुष्य यह विश्वास लिये रहता है कि ये गतियां उसका अपना अंग और उसके अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व की बहुमूल्य उपज हैं। इतना ही नहीं, ऐसे लोग भी हैं जो इनसे और अपनी अक्षमताओं से चिपके रहते हैं मानों ये ही उनकी स्वतंत्रता का चिह्न या सार हैं।

आध्यात्मिकता और नैतिकता में—लोग इन्हें एक-दूसरे में मिला देने की भूल सदा ही किया करते हैं—महान् अंतर है। आध्यात्मिक जीवन, अर्थात्, यौगिक जीवन का उद्देश्य है भागवत चेतना में परिवर्धित होना और फलतः, तुम्हारे अंदर जो कुछ है उसे पवित्र, तीव्र, महान् और पूर्ण करना। यह तुम्हें भगवान् की अभिव्यक्ति करनेवाली एक शक्ति बना देता है। यह प्रत्येक व्यक्ति के चरित्र को पूर्ण गुणोत्कर्ष तक ऊपर उठा देता है तथा अधिक-से-अधिक आत्म-प्रकाशन की सीमा तक पहुंचा देता है; कारण, यह भगवान् की योजना का एक अंग है। नैतिकता एक मानसिक रचना के सहारे आगे बढ़ती है और क्या अच्छा है और क्या नहीं इस विषय के थोड़े-से विचारों के आधार पर एक आदर्श नमूना गढ़कर तैयार करती है जिसके सांचें में ढलना हर एक के लिये जरूरी होता है। इस नैतिक आदर्श का समग्र स्वरूप या उसके संघटक अंग देश और काल के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। फिर भी यह आदर्श अपने-आपको बेजोड़ आदर्श, अपने में बिल्कुल परिपूर्ण मानता है, वह अपने से बाहर किसी मत या सिद्धांत को स्वीकार नहीं करता,

अपने अंदर भी किसी प्रकार के फेर-फार की अनुमति नहीं देता। सभी को उस आदर्श नमूने के सांचे में ढलना होगा, हर एक को उसी के जैसा, बिना किसी भूल के वैसा ही बनना होगा। चूंकि नैतिकता इस तरह के कठोर और अवास्तविक स्वभाववाली है, इसी कारण वह अपने सिद्धांत और क्रिया में आध्यात्मिक जीवन के विपरीत हो जाती है। आध्यात्मिक जीवन सबके अंदर उपस्थित सार वस्तु का दर्शन कराता है, लेकिन साथ ही उसके अनंत वैचित्र्य भी दिखाता है; यह एकता में विविधता और फिर उस विविधता में पूर्णता को सिद्ध करने की चेष्टा करता है। नैतिकता एक ही कृत्रिम मानदण्ड को उठा लेती है जो जीवन की विविधता और आत्मा की स्वतंत्रता के विपरीत है। वह बंधी हुई, सीमित और मानसिक वस्तु की सृष्टि करके यह मांग करती है कि सभी उसके अनुसार चलें। हर व्यक्ति एक ही प्रकार के गुणों और एक ही प्रकार के आदर्श स्वभाव को प्राप्त करने के लिये परिश्रम करे। नैतिकता न तो दिव्य है और न भगवान् की है; यह मनुष्य की है और मानवीय है। नैतिकता भले और बुरे के बीच स्थायी विभाजन को अपना आधार-तत्त्व मानती है, किंतु यह मनमानी धारणा है। यह आपेक्षिक चीजों को निरपेक्ष के रूप में आरोपित करने की चेष्टा है; क्योंकि यह अच्छा और बुरा भिन्न जलवायु और भिन्न समयों में, भिन्न युगों और भिन्न देशों में बदलता रहता है, नैतिकता का विचार यहां तक जाता है कि वह कहता है कि कामनाएं भी अच्छी या बुरी होती हैं और वह अच्छी को स्वीकारने और बुरी को त्यागने के लिये कहता है। परंतु आध्यात्मिक जीवन की तो यह मांग है कि तुम कामना मात्र का त्याग करो। उसका नियम है कि जो गतियां भगवान् से दूर ले जाती हों उन्हें अपने से दूर करो; इसलिये नहीं कि वे अपने-आपमें बुरी हैं, —कारण वे किसी और के लिये अथवा किसी दूसरे क्षेत्र में अच्छी हो सकती हैं, —बल्कि इसलिये कि उनका संबंध उन आवेगों या शक्तियों से है जो अंधेरी और अज्ञानमय होने के कारण भगवान् के पास पहुंचने के मार्ग में बाधा पहुंचाती हैं। सभी कामनाएं, चाहे अच्छी हों या बुरी, इसी व्याख्या के अंतर्गत हैं, कारण कामना मात्र का उद्भव अंधेरी प्राणमय सत्ता और उसके अज्ञान से होता है। दूसरी ओर, तुम्हें उन सब गतियों को स्वीकारना चाहिये जो भगवान् के संपर्क में लानेवाली हों। परंतु तुम उन्हें इसलिये नहीं स्वीकारते कि वे अपने-आपमें अच्छी हैं, बल्कि इसलिये कि वे तुम्हें भगवान् के पास पहुंचाती हैं। अतएव, जो कुछ तुम्हें भगवान् के पास ले जाता हो उसे स्वीकार करो और जो कुछ उनसे दूर ले जाता हो उसका त्याग करो, किंतु यह मत कहो कि यह अच्छा है और वह बुरा है, अथवा अपने दृष्टिकोण को दूसरे पर थोपने की चेष्टा मत करो; क्योंकि जिस चीज को तुम बुरा ठहराते हो वही चीज तुम्हारे पड़ोसी के लिये, जो दिव्य जीवन को सिद्ध करने का प्रयास नहीं कर रहा है, अच्छी हो सकती है।

वस्तुओं के बारे में नैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि के भेद का एक उदाहरण ले लो। साधारण सामाजिक विश्वास मनुष्यों को उदार और लोभी इन दो श्रेणियों में बांटता है। लोभी मनुष्य से घृणा की जाती है, उसे दोष दिया जाता है, जब कि उदार मनुष्य को निःस्वार्थ और समाज के लिये उपयोगी समझा जाता है और इस गुण के लिये उसकी प्रशंसा की जाती है। परंतु आध्यात्मिक दृष्टि के लिये दोनों एक ही भूमिका पर खड़े हैं; एक की उदारता और दूसरे का लोभ, दोनों ही किसी उच्चतर सत्य के, किसी महत्तर दैवी शक्ति के विकृत रूप हैं। एक ऐसी शक्ति है, ऐसी दैवी प्रवृत्ति है जो प्रकृति की समस्त भूमिकाओं पर, अत्यंत जड़ प्राकृतिक भूमिका से लेकर अत्यंत आध्यात्मिक भूमिका तक, शक्तियों को और वस्तुओं को तथा जो कुछ भी उसके पास हो उसे फैलाती, बिखेरती और दोनों हाथों से बांटती रहती है। उदार मनुष्य और उसकी उदारता के पीछे एक ऐसी विशिष्ट आत्मा होती है जो इस दैवी प्रवृत्ति को अभिव्यक्त करती है, वह मनुष्य में बिखेरने और दूर-दूर तक बांटने की एक शक्ति होती है। इसी तरह, एक दूसरी शक्ति होती है, एक और दैवी प्रवृत्ति होती है जो इकट्ठा करने और जमा करने का काम करती है, वह शक्तियों और वस्तुओं को तथा अन्य जो कुछ भी स्वायत्त किया जा सकता है उस सबको, फिर चाहे वे निम्नतर भूमिकाओं के हों या

उच्चतर भूमिकाओं के, एकत्र करती और जमा करती रहती है। जिसे तुम लोभी होने का दोषी ठहराते हो वह इस दैवी प्रवृत्ति का एक यंत्र होता है। दोनों ही महत्त्वपूर्ण हैं, समग्र योजना में दोनों की ही आवश्यकता है। जो प्रवृत्ति एकत्र और जमा करती है उसकी आवश्यकता उस प्रवृत्ति से जरा भी कम नहीं है जो फैलाती और बिखेरती रहती है। दोनों ही—यदि सचमुच भगवान् के अर्पण हो जायें तो—समान मात्रा में और समान मूल्य के साथ, भागवत कर्म के लिये यंत्र रूप से उपयोग में लायी जायेंगी। परंतु जब तक उनका समर्पण नहीं होता तब तक दोनों ही समान रूप से अज्ञान के आवेगों द्वारा परिचालित होती रहती हैं। एक फेंकने के लिये बाहर की ओर ढकेली जाती है, दूसरी बचा रखने के लिये अंदर की ओर खींची जाती हैं; परंतु दोनों का संचालन ऐसी शक्तियों द्वारा होता है जो स्वयं अपनी चेतना के लिये अंधकारमय होती हैं, इन दोनों में चुनने लायक कुछ भी नहीं है। योग के उच्चतर दृष्टिबिन्दु से इस बहुत प्रशंसित उदार मनुष्य से यह कहा जा सकता है : "तुम्हारे उदारता के आवेगों का आत्मा के हिसाब से कुछ मूल्य नहीं है, क्योंकि ये अहंकार और अज्ञानमय कामना से आते हैं।" और, दूसरी ओर, जिन पर लोभी होने का दोष लगाया जाता है उनमें कभी कोई ऐसा मनुष्य मिल सकता है जो प्रकृति द्वारा सौंपे हुए इस काम में सर्वथा शांत भाव से और एकाग्रता के साथ लगा हुआ, चीजों को बटोरता और जमा करता रहता है, और ऐसा मनुष्य एक बार जागने पर भगवान् का एक बहुत अच्छा यंत्र बन जायेगा। परंतु साधारणतया लोभी मनुष्य, अपने विपक्षी की ही तरह, अहंकार और कामना के वश कर्म करता है; यह उसी अज्ञान का दूसरा छोर है। दोनों को अपने-आपको शुद्ध और परिवर्तित करना होगा, तब कहीं वे अपने पीछे रहनेवाली किसी उच्चतर वस्तु के संपर्क में आ सकेंगे और उस वस्तु को उस रूप में व्यक्त कर सकेंगे जिस रूप में उनकी प्रकृति चाहती है।

इसी प्रकार तुम सब तरह के लोगों को ले सकते हो और यह ढूंढ सकते हो कि भागवत शक्ति की योजना में उनका मूल आशय क्या है। हर एक भगवान् द्वारा अभिप्रेत नमूने का क्षीण स्वरूप अथवा विकृत चित्र है, ज्यादा ऊंचे आध्यात्मिक मूल्यवाली चीज की मानसिक या प्राणिक विकृति है। गलत गति ही यह विकृति या विद्रूप बनाती है। एक बार इस अशुद्ध आवेग को वश में कर लिया जाये, उचित वृत्ति धारण की जाये, शुद्ध गति को पा लिया जाये तो सभी का दिव्य मूल्य प्रकट हो जाता है। सभी अपने अंदर रहनेवाले सत्य के कारण न्याय्य हैं, सभी समान रूप से उपयोगी, समान रूप से आवश्यक हैं और भिन्न होते हुए भी सभी भागवत अभिव्यक्ति के लिये अपरिहार्य यंत्र हैं।

श्रीअरविंद के साथ बातचीत :

देवों, शक्तियों आदि के बारे में

२६-६-१९२६

शिष्य—क्या उच्चतर और निम्नतर देवों में कोई फर्क है ?

श्रीअरविंद—हां, ये अलग-अलग श्रेणियां हैं। देवता अमरता की शक्तियों के प्रतिनिधि हैं। वस्तुतः एक तरह से कहें तो देवता राक्षसों और असुरों के समान हैं—ये सब वैश्व गतिविधि की प्रवृत्तियां हैं। देवता प्रकाश, सामंजस्य, ऋजुता के लिये कार्य करते हैं जब कि राक्षस और असुर वक्रता और विकार के लिये काम करते हैं। स्वभावतः देवता ऊर्ध्वमुख विकास में सहायता देते हैं और दूसरे उसमें बाधा देते हैं। निश्चय ही सबके सब परम शक्ति से उत्पन्न हैं।

शिष्य—इन अमानव सत्ताओं में सचमुच क्या होता है ? क्या उनमें आत्मा होती है ?

श्रीअरविंद—पहले हमें यह जानना होगा कि आत्मा से हमारा क्या मतलब है ? एक अर्थ में हर सत्ता में आत्मा होती है।

शिष्य—मनुष्यों और इन सत्ताओं की रचना में क्या फर्क होता है ?

श्रीअरविंद—वे स्वतंत्र शक्तियां हैं, मनुष्य सीमित, सशरीर सत्ता है। बल्कि यूं कहें कि मनुष्य ऐसा क्षेत्र है जिसमें विश्व की विभिन्न शक्तियां अपना खेल खेलती हैं। ये शक्तियां मनुष्यों को पकड़कर उनसे खेलना चाहती हैं। इसमें उन्हें मजा आता है।

शिष्य—राक्षसों और असुरों को मनुष्य का शोषण करने का अवसर कब मिलता है ?

श्रीअरविंद—जब मनुष्य अपने-आपको उनके प्रभाव के प्रति खोलते हैं। अगर हम बड़ी हद तक महत्वाकांक्षा, काम-वासना, लोभ आदि में डूब जायें तो उन्हें हमारे ऊपर अधिकार करने का अवसर मिलता है। जब मनुष्यों के दल साधना शुरू करते हैं तो ये सब शक्तियां उनके चारों ओर इकट्ठी हो जाती हैं और उनके अंदर कोई छेद या कमजोर स्थान ढूंढ़ने की कोशिश करती हैं, जिनमें से ये अंदर घुसकर उनकी साधना को विफल कर सकें, उस चीज से हटा सकें जो उन्हें इन निम्न शक्तियों के प्रभाव से दूर रखती हैं।

शिष्य—इन शक्तियों पर मनुष्यों की साधना या तपस्या का क्या असर होता है ?

श्रीअरविंद—उन्हें मनुष्यों के साथ मिलकर मजा आता है।

शिष्य—क्या इन सत्ताओं की प्रगति या उनका क्रमविकास होता है ?

श्रीअरविंद—वे किसी और चीज में बदल सकती हैं परंतु, उस विकासक्रम से नहीं जिससे मनुष्य को गुजरना पड़ता है। अगर वे अपने-आपको उच्चतर शक्तियों के प्रति खोलें, अपने-आपको उनका सेवक बना दें तो उनका रूपांतर हो सकता है। कुछ लोगों का कहना है कि वे साधना करने के लिये मनुष्य के रूप में जन्म लेती हैं और मोक्ष प्राप्त करती हैं। एक कथन यह भी है कि असुर भगवान् के हाथों मृत्यु पाकर मुक्त होते हैं। मुझे नहीं मालूम कि ऐसा क्यों कहा जाता है और इसके पीछे क्या सत्य है। लेकिन इन सत्ताओं को उनके उस समय के रूप में आसानी से पहचाना जा सकता है।

शिष्य—आप जिन देवों की बात कर रहे हैं वे वैदिक देवता हैं या पौराणिक ?

श्रीअरविंद—नहीं, मैं देवों की उन कल्पनाओं की बात नहीं कर रहा। मैं उन शक्तियों की बात कर रहा हूं जो वैश्व गतिविधि में भाग लेती हैं। सारी गति आत्मा और प्रकृति के बीच में होती है। वैदिक देवता परम शक्ति, परम देव के विभिन्न रूपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। वेद में इस परम शक्ति की उच्चतम से लेकर निम्नतम तक, सभी अभिव्यक्तियों को देव कहा गया है। अग्नि मनुष्य के अंदर चैत्य का प्रतिनिधित्व करता है, उसके बारे में उच्चतम देव के रूप में भी कहा गया है। पौराणिक देवता गौण देव हैं।

*

आजकल आधुनिक यूरोप प्राणिक शक्तियों की पकड़ में है। अगर तुम वहां के समाज को देखो तो पता लगेगा कि वह कितना भ्रष्ट और सड़ा हुआ है। शक्ति, धन-संपदा, अधिकार, महान् संघर्ष, ये सब प्राणिक शक्तियों के खेल के सूचक हैं।

शिष्य—क्या भारत की स्थिति, जहां प्रजा भ्रष्ट हो गयी है, प्राणिक शक्तियों के लिये उपयुक्त क्षेत्र नहीं है ?

श्रीअरविंद—भ्रष्ट ?

शिष्य—मेरा ख्याल है, शक्तियों की गुलामी दुर्बलता और पतन तो लायी ही होगी।

श्रीअरविंद—लेकिन यहां ऐसा बहुत कम है जिसमें प्राणिक शक्तियां मजा ले सकें। बस, अपवाद है हिन्दू-मुस्लिम लड़ाइयां और ऐसी ही कुछ और चीजें। और इनमें वे मजा लेती हैं। भारत इन शक्तियों को यूरोप की तरह इतने बड़े पैमाने पर कुछ भी नहीं दे सकता।

*

महायुद्ध ने प्राणिक शक्तियों को एक बहुत बड़ा भोज दिया था। जैसा कि मैंने बहुत बार कहा है, जब उच्चतर सत्य नीचे उतरना चाहता है तो जगत् की प्राणिक क्रीड़ा पर बहुत जोर पड़ता है और इन निम्नतर शक्तियों और उच्चतर सत्य के बीच युद्ध छिड़ जाता है। अगर निम्नतर शक्तियों की विजय हो जाये तो सत्यानाश हो जायेगा, मानवजाति फिर से बर्बरता तक जा पहुंचेगी और फिर से नया अभियान शुरू होगा। अगर उच्चतर शक्तियां जीतें तो संसार की एक नयी और ज्यादा अच्छी परिस्थिति पैदा होगी। साधारणतः विजय प्राणिक शक्तियों की होती है।

परीक्षक

पूर्णयोग में ऐसी परीक्षाओं की एक अविच्छिन्न शृंखला होती है जिनमें से तुम्हें पूर्व चेतावनी के बिना गुजरना पड़ता है और इस तरह तुम्हें हमेशा सावधान और चौकन्ना रहना पड़ता है।

परीक्षकों के तीन दल ये परीक्षाएं लेते हैं। ऐसा लगता है कि उनका एक-दूसरे से कोई संबंध नहीं है, उनके तरीके बहुत भिन्न होते हैं। कभी-कभी तो देखने में इतने परस्पर-विरोधी मालूम होते हैं कि ऐसा लगता है कि यह संभव ही नहीं है कि वे एक ही लक्ष्य की ओर जा रहे हों। फिर भी वे एक-दूसरे के पूरक होते हैं, एक ही उद्देश्य के लिये काम करते हैं और परिणाम की पूर्णता के लिये सभी अनिवार्य हैं।

तीन प्रकार की परीक्षाएं ये हैं : प्राकृतिक शक्तियों द्वारा नियुक्त, आध्यात्मिक और दिव्य शक्तियों द्वारा नियुक्त और विरोधी शक्तियों द्वारा नियुक्त। इनमें अंतिम प्रकार की देखने में सबसे ज्यादा भ्रामक होती हैं और इनसे अनजाने में, बिना तैयारी पकड़े जाने से बचने के लिये एक सतत सावधानी, सचाई, निष्कपटता और विनम्रता की अवस्था जरूरी होती है।

बिल्कुल ही मामूली परिस्थितियां, दैनिक जीवन की घटनाएं, देखने में अधिक-से-अधिक नगण्य लोग या चीजें, ये सब इनमें से किसी-न-किसी परीक्षक दल के होते हैं। परीक्षाओं के इस विशाल और जटिल संगठन में जो घटनाएं जीवन में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानी जाती हैं वे सबसे सरल परीक्षाएं होती हैं क्योंकि उनके लिये तुम तैयार और सावधान होते हो। रास्ते के छोटे-छोटे पत्थरों पर ठोकर खाना ज्यादा आसान होता है क्योंकि वे ध्यान नहीं खींचते।

सहनशीलता और नमनीयता और प्रसन्नता, निर्भीकता ऐसी चीजें हैं जिनकी भौतिक प्रकृति की परीक्षाओं में खास जरूरत होती है।

आध्यात्मिक परीक्षाओं के लिये अभीप्सा, विश्वास, आदर्शवाद, उत्साह और उदारतापूर्ण आत्मोत्सर्ग आवश्यक हैं।

और विरोधी शक्तियों की परीक्षाओं के लिये जागरूकता, सचाई, निष्कपटता और विनम्रता की खास जरूरत होती है।

और यह कल्पना न करो कि एक ओर वे हैं जिन्हें परीक्षा देनी होती है और दूसरी ओर वे जो परीक्षा लेते हैं। परिस्थितियों और समय के अनुसार हम सभी परीक्षक और परीक्षार्थी दोनों होते हैं और यह भी हो सकता है कि तुम एक ही साथ परीक्षक और परीक्षार्थी दोनों होओ। और इससे जो लाभ होता है वह राशि और गुण दोनों पर, तुम्हारी अभीप्सा की तीव्रता और चेतना की जागृति पर निर्भर होता है।

और अंत में एक आखिरी सलाह : अपने-आपको परीक्षक के रूप में कभी न रखो। जब कि यह निरंतर याद रखना अच्छा है कि शायद हम किसी महत्त्वपूर्ण परीक्षा में से गुजर रहे हों, यह कल्पना करना बहुत अधिक खतरनाक है कि तुम औरों की परीक्षा लेने के लिये जिम्मेदार हो। यह अत्यधिक हास्यास्पद और हानिकर प्रकार के दम्भ के लिये खुला दरवाजा है। "परम प्रज्ञा" इन चीजों का निर्णय करती है, अज्ञानमय मानव इच्छा नहीं।

१२ नवम्बर, १९५७ —श्रीमां

माताजी और श्रीअरविंद के साथ एक शिष्य का पत्र-व्यवहार

आज सवेरे आप मुझसे पूछ रही थीं कि मुझे हुआ क्या है। वही पुरानी कहानी है लेकिन फिर भी है पीड़ा देनेवाली। यह गृहयुद्ध है, दो भिन्न झुकावों और आदर्शों के बीच संघर्ष है, दो भिन्न प्रकार के नेतृत्वों में, दैवी और सन्त प्रकार (पाश्चात्य अर्थ में नहीं) के बीच रस्साकशी है; मानसिक, प्राणिक और शारीरिक सभी मोर्चों पर युद्ध छिड़ा है। लेकिन मैं आपकी दयालुता के प्रति बहुत अधिक संवेदनशील हूं मेरी मां, और साथ-ही-साथ कृतज्ञ भी हूं।

माताजी : अगर तुम अंतर्भासिक मन में पर्याप्त ऊंचे जाओ तो कोई भी ऐसा विरोध नहीं है जिसका हल नहीं निकाला जा सके और उसका समन्वय में सामंजस्य न किया जा सके और तुम्हारा विरोध ऐसा नहीं है जिसे बदला नहीं जा सके। मुझे विश्वास है कि एक दिन तुम इसे जान लोगे।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद।

(२७ अगस्त, १९३९)

मेरे जीवन की जीवन ! मेरी अपनी अधिक-से-अधिक प्यारी अम्मी !

मेरे प्रेम को स्वीकारो और भूल-चूक को माफ कर दो—जैसा कि आप कई वर्षों से करती चली आ रही हैं। मैं आशा करता हूं कि ये मनोदशाएं आती जाती रहेंगी लेकिन मैं इन गुजरते हुए बादलों के पीछे भी हमेशा आपके उज्ज्वल हंसते हुए वदन का दर्शन करता रहूं !

माताजी : मेरे बहुत प्यारे बच्चे,

मैं सचमुच आशा करती हूं कि तुम शीघ्र ही अपनी सभी मुश्किलों से पार हो जाओगे। उस उच्चतर चेतना में बस एक अच्छी-सी छलांग मारो जहां सभी समस्याएं सुलझ जाती हैं और तुम अपनी कठिनाइयों से छुटकारा पा लोगे। मैं कभी यह अनुभव नहीं करती कि मैं क्षमा कर रही हूं। प्रेम क्षमा नहीं करता, वह समझता और रोगमुक्त करता है।

हमेशा मेरे प्रेम और आशीर्वाद।

(२८ अगस्त, १९३९)

मेरी प्यारी प्रेममयी मां,

मेरे जन्मदिन की किताब में श्रीअरविंद ने लिखा है, "उच्चतर चेतना के साथ ऊपर उठो, उसके प्रकाश को अपनी प्रकृति को नियंत्रित और रूपांतरित करने दो।" कुछ समय पहले आपने मुझे लिखा था, "उस उच्चतर चेतना में एक अच्छी-सी छलांग लगाओ जहां सभी समस्याएं सुलझ जाती हैं, और तुम अपनी कठिनाइयों से छुटकारा पा लोगे।" यह उच्चतर चेतना यथार्थ में है क्या और मैं उसमें कैसे उठूं या छलांग लगाऊं? और फिर आपने कहा है, "भागवत प्रेम तुम्हारा लक्ष्य हो। पवित्र प्रेम तुम्हारा मार्ग हो। अपने प्रेम के प्रति हमेशा सच्चे रहो तो सभी कठिनाइयों पर विजय पा लोगे।" क्या यह उच्चतर चेतना ही पवित्र प्रेम की अवस्था है, अगर है तो उच्चतर ज्ञान की अवस्था के साथ इसका क्या संबंध होगा?

माताजी : उच्चतर परम चेतना पवित्र प्रेम की एक अवस्था है लेकिन साथ-ही-साथ यह भागवत ज्ञान के प्रति पवित्र उद्घाटन की अवस्था भी है। इन दोनों सदृश चीजों के बीच कोई विरोध नहीं है; मन ही उन्हें अलग करता है।

इस तक पहुंचने का सबसे अच्छा तरीका है समस्त मानसिक आन्दोलन को और समस्त प्राणिक कामनाओं और खलबली को, वे जब भी आयें, अस्वीकारना, और मन और हृदय को जितना अधिक हो सके निरंतर भगवान् के प्रति मोड़े रखना। यह करने के लिये भगवान् के लिये प्रेम सबसे अधिक बलवान् शक्ति है।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद।

(१९ अक्तूबर, १९३९)

प्यारी मां,

माताजी ने इस क्षुद्र पात्र को अपना निवास-स्थान क्यों चुना? मैं जानता हूं कि जब तक वह अपना निवास-स्थान यहां रखना चाहेंगी, जल्दी हो या देर में इस बिचारे "मैं" को उन महामहिमामयी के लिये गद्दी छोड़नी पड़ेगी और उस दिन के न आने तक इस बिचारे "मैं" को विश्राम न मिलेगा।

माताजी : मेरे प्यारे बच्चे,

इसलिये सबसे अच्छी चीज है तुरंत गद्दी छोड़ दो और विश्राम, शांति और आनंद पा लो। किसी खराब दांत को उखड़वाने के लिये तुम जितनी तेजी करते हो उतनी ही तेजी तुम्हें किसी दुराग्रही प्रतिरोध से छुटकारा पाने के लिये करनी चाहिये।

अंदर बाहर सब जगह मां की सहायता है—उनके प्रेम और आशीर्वाद के साथ।

(२८ अक्तूबर, १९३९)

प्यारी मां,

मुझ अभागे के प्रति आपका प्रेम अब भी मेरा ध्रुव-तारा है और मैं कृतज्ञ हूं।

माताजी : मेरे प्यारे बालक,

मेरा प्रेम तुम्हें लक्ष्य तक पहुंचाना चाहता है और वह सफल होकर रहेगा।

मेरे आशीर्वाद सहित।

(२९ मार्च, १९४०)

मेरी प्यारी मां,

मैं आपकी समस्त दयालुता, अनुकंपा, हितकामना और प्रेम के लिये बहुत-बहुत धन्यवाद देता हूं। मैं उनके योग्य नहीं हूं। यद्यपि मैं आपके साथ व्यक्तिगत रूप से बंधे होने का अनुभव करता हूं और आशा करता हूं कि यह चैत्य का बंधन है, फिर भी अबतक मुझे यह अनुभव नहीं होता कि मैं इस योग की बहुत-बहुत कामना करता हूं। मैं अभी तक इस आदर्श के लिये वैसा अनुभव नहीं करता जैसा मुक्ति के पुराने आदर्श के लिये करता था। आप जिस पथ, जिस आदर्श का प्रतिनिधित्व करती हैं उन चीजों के मूल्य अब भी मेरे अंदर कोई उत्साह नहीं जगाते। मैं अब भी यहां घर जैसा अनुभव नहीं करता। मुझे पता नहीं कि मुझे क्या करना चाहिये। समय किसी के लिये प्रतीक्षा नहीं करता। कृपया मुझे क्षमा कीजिये लेकिन अपनी समस्त बाहरी सत्ता के विरुद्ध सतत युद्ध करते-करते मैं थक गया हूं। और बहरहाल, अब शुरू से आरंभ करना और अपने-आपको एक नये आदर्श की मांग करना सिखाना, जिसकी सिद्धि लेशमात्र भी पास नहीं लग रही, इस सबके लिये बहुत देर हो चुकी है।

माताजी : हममें से हर एक के लिये परम प्रभु ने जो नियत कर रखा है—**वह होकर रहेगा**।

मेरे प्यारे बालक को मेरा प्रेम और आशीर्वाद।

(२९ जून, १९४०)

मेरे २२ जुलाई के पत्र के उत्तर में आपने जो आश्वासन देनेवाला पत्र लिखा था उससे आश्वासन नहीं मिला। ऐसा क्यों है माताजी? शायद आप मेरे लहजे को पसंद नहीं करतीं; शायद आप मेरी असमर्थता से असंतुष्ट हैं; हो सकता है कि आप मुझसे पूरी तरह ऊब रही हैं। अगर ऐसा है तो मुझे आश्चर्य न होगा, मैं आपको दोष न दूंगा। क्योंकि मैं स्वयं इस "मैं" नामक समस्या से ऊब गया हूं।

अगर आपके प्रेम और आपकी दयालुता में कोई फर्क न पड़े, जैसा कि आपने मुझे आश्वासन दिया कि नहीं पड़ेगा, तो मैं इस धन-राशि को अपने पास रखना और इस व्यवस्था को जारी रखना चाहूंगा। लेकिन अगर आपको आपत्ति हो तो कृपया मुझे ऐसे शब्दों में बताइये जिन्हें मैं समझ सकूं और मैं इसे छोड़ दूंगा।

इसलिये, कृपया विश्वास कीजिये कि अगर यह योजना आपको अप्रसन्न करे तो मैं इसे छोड़ सकता हूं।

माताजी : मेरे प्यारे बालक,

इससे मैं जरा भी अप्रसन्न नहीं हूं। अगर मैंने उस बात का जवाब नहीं दिया, जिसके बारे में तुमने उस दिन लिखा था, तो उसका कारण यह था कि मैंने उसे अधिक महत्त्व नहीं दिया। मेरे वाक्य का केवल यह अर्थ था कि मेरे प्रेम में समझने की क्षमता है और यह कि मेरे आशीर्वाद ऐसी सतही गतिविधियों पर निर्भर नहीं हैं।

आज मैं यह और जोड़ सकती हूं कि मैं "मैं नामक समस्या" से बिल्कुल नहीं ऊबी हूं और मुझे विश्वास है कि वह सफलता के साथ हल हो जायेगी . . .।

मेरे प्रेम और आशीर्वाद सहित।

(२५ जुलाई, १९४०)

माताजी : मेरे प्यारे बालक,

तुम्हारा पत्र सुरक्षित पहुंच गया है और मैंने उसे श्रीअरविंद को पढ़ने के लिये दिया है। मैं तुमसे यह सुनकर और यह जानकर बहुत खुश हुई कि वहां चीजें इतनी खराब नहीं हैं जितनी तुम्हें आशंका थी।

हम लोग हमेशा तुम्हें याद करते हैं : विशेष रूप से दर्शन के दिन तुम्हारा विचार हमारे साथ था।

तुम अपने अंदर मेरी उपस्थिति का जो अनुभव कर रहे हो वह अच्छा और सच्चा है, मैं सचमुच अपने प्रेम और आशीर्वाद के साथ हमेशा तुम्हारे पास हूं।

अपनी बहन को और उन सभी को मेरे आशीर्वाद दो जो मेरे बारे में सोचते हैं और उनके लिये शुभ कामनाएं।

बहुत अधिक स्नेह के साथ।

(४ दिसम्बर, १९४०)

शिष्य को जन्मदिन के संदेश

माताजी :

'क' को हमारे आशीर्वाद के साथ।

''वह संदेह से निश्चिति में, भूल-भ्रांति के अंधकार से पथ-प्रदर्शन के प्रकाश में निकलेगा; वह ज्ञान के चक्षुओं से देखेगा और प्रियतम के साथ गुप्त रूप में संलाप करना आरंभ करेगा।''

(९ सितम्बर, १९३५)

श्रीअरविंद :

'क' को आशीर्वाद सहित।

हृदय के पीछे एक पर्दा, मन पर पड़ा एक ढक्कन हमें भगवान् से अलग करता है। प्रेम और भक्ति पर्दे को फाड़ देते हैं, मन की अचंचलता में ढक्कन घिसकर गायब हो जाता है।

(९ सितम्बर, १९३६)

माताजी :

'क' को आशीर्वाद सहित।

अभीप्सा करो, उचित भाव में एकाग्र हो, और चाहे कैसी भी कठिनाइयां हों, तुमने अपने सामने जो लक्ष्य रखा है उसे तुम निश्चित रूप से पाओगे।

(९ सितम्बर, १९३६)

श्रीअरविंद :

आंतरिक सूर्य मन को शांत और प्रदीप्त करे और हृदय को पूरी तरह जगाकर उसका पथ-प्रदर्शन करे।

(९ सितम्बर, १९३७)

--***--

हर चीज को भगवान् को पाने का साधन बनाया जा सकता है।

—श्रीमां

दीप से दीप जले

पेट की चिंता न हो और दिमाग नाना प्रकार के विचारों का अड्डा बना हो तो कॉलेज के लॉन पर बैठकर बहस करना समय काटने का बढ़िया तरीका है। गरमा-गरम बहस हो जाये तो फिर कहने ही क्या हैं, आदमी अपने-आपको तीसमार खां तो मान ही लेता है। आज कुछ ऐसी ही बहस चल रही थी। समाज में व्यक्ति का क्या स्थान है ? चिर पुराण और चिर नवीन प्रश्न को लेकर समाज शास्त्र, दर्शन और राजनीति के छात्र उलझ पड़े थे।

रमेश कह रहा था : "भई, व्यक्ति आखिर समुद्र में एक बूंद है। दोनों की तुलना कैसी ? समाज आगे बढ़ेगा तो व्यक्ति भी आगे आ जायेगा। और नहीं तो अकेला चना क्या भाड़ फोड़ेगा।"

जुल्फों को पीछे करता हुआ सत्य बोला : "समाज ! समाज वह वहशी राक्षस है जो दुर्बल को कुचल देता है, असहाय की ओर आंख उठाकर भी नहीं देखता। समाज का बड़प्पन इसी में है कि व्यक्ति को गुलाम बनाकर रखे।"

गंभीरता से शब्दों को तोलता हुआ असद बोला : "तुम भूल जाते हो, बीसवीं सदी में डेमोक्रेसी का राज्य है। लोगों की भलाई के लिये लोगों का राज्य, बहुमत मिल जाये तो फिर . . ."

अचानक दूर से जमशेद चिल्लाया : "क्यों भई, क्या हो रहा है ? मैं भी आ जाऊं ?"

रमेश इधर से चीखा : "अरे, रहने भी दे, पहले तो दाल-भात में मूसलचन्द बनकर टपकेगा फिर कहेगा, 'क्या सिर-दर्द कर दिया तुम लोगों ने !' " फिर भी जमशेद आ धमका और असद की पीठ पर घूंसा मारते हुए बोला : "क्यों साहब, आप फिर राजनीति बघारने लगे। कौन-सा नया सिद्धांत ढूंढ़ निकाला ? यार, जब मुख्यमंत्री बनो तो हमें भी याद रखना।"

जमशेद बोला : "हम अभी प्रो० सेन का भाषण सुनकर आये हैं। लचीले कानून व्यक्ति और समाज दोनों के लिये हितकर होते हैं—यह उनका मत है।"

रमेश कुछ रोष में बोला : "हां, कायदे-कानून लचीले हों तो हर बुद्धिमान् गुंडे की पौ बारह !"

सत्य धीर-गंभीर स्वर में बोला : "सच बात तो यह है कि सब कुछ व्यक्ति पर निर्भर है। और उससे भी बढ़कर उन आदर्शवादी वीरों पर जो आगे बढ़कर समाज का नेतृत्व करते हैं।"

जमशेद उबल पड़ा : "नेता ! यानी लीडर !! परले दरजे के स्वार्थी और महत्त्वाकांक्षी लोग जो किसी बुरे काम से नहीं डरते !"

सत्य फिर बोला : "तुम सिर्फ राजनीति की सोच रहे हो जमशेद। मैं दूसरे असंख्य लोगों की बात करता हूं जो सामने आये बिना भी हमें प्रभावित करते हैं, जैसे, लेखक, विचारक, कलाकार। राम शास्त्री का उदाहरण ले लो, उन्होंने सच्चे न्यायाधीश का आदर्श हमारे सामने रखा। दक्षिण के मंदिरों के अनजाने कलाकारों को लो जिन्होंने हमारे सामने अपने इष्टदेव को साकार कर दिखाया। अजंता के उन भिक्षुओं की सोचो जिनके कारण बुद्ध हमारे लिये आज भी आध्यात्मिक सत्य के रूप में सशरीर विद्यमान हैं।"

जमशेद बोला : "मैं आदर्श की इन खोखली बातों को कुछ नहीं समझता। मैं बस एक ही बात समझता हूं। काम ! कुछ कर दिखाओ। बातें सब अच्छी-अच्छी कर सकते हैं। उसमें तो हर्रा फिटकरी नहीं लगती ? लेकिन कुछ कर दिखाना हंसी-खेल नहीं है। पूरी ताकत लगा दो फिर भी सब ठीक-ठाक पार उतरेगा या नहीं कोई नहीं कह सकता।" फिर चुप बैठे हुए रंजन को देखकर हंसा : "अरे यार, सब अपनी-अपनी बघार रहे हैं, तू ही क्यों गुमसुम बैठा है ?"

रंजन ने जमशेद को घूरते हुए कहा : "मैं तुम्हारी बात मानता हूं। इतना ही नहीं, मैं अपना सारा समय परिवार के हर सदस्य की मदद करने में बिताता हूं।"

सत्य हंस पड़ा : "परिवार की मदद ! वह भी कोई काम हुआ ? यह तो बस मां-बाप का ऋण चुकाना है।"

रंजन : "हां, पर उपदेश कुशल बहुतेरे, पर तुम में से कितने हैं जो घर में भाई-बहन या मां-बाप की मदद करते हैं ? कौन छोटे भाई-बहनों की पढ़ाई का हाल देखता है ? कौन है जो, मां थक जाये तो बाजार जाकर सौदा-सुलुफ ले आता है ? अगर किसी बात को लेकर घर में झगड़ा हो जाये तो शांत करने की कोशिश करता है ?"

फिर सारी मित्र-मंडली पर नजर दौड़ाते हुए रंजन बोला : "घर में एक सदस्य की भी पूरी सेवा कर दी जाये तो मैं उसे भी देश-सेवा ही मानूंगा। एक जीवन सुधर जाये तो देश को एक अच्छा नागरिक मिले। इसका अपना ही मूल्य है।"

समय इन सब की बातचीत सुनता हुआ मुस्कराता चला गया।

वर्ष बीत गये।

उस दिन मैदान में बैठकर गप्पें हांकनेवाले फक्कड़ों को समय का तूफान कहां-कहां बिखेर आया कौन जाने !

चूल्हे-चक्की में पिसते-पिसते सब उन सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं को भूल चुके थे।

कुछ और वर्ष बीते। जमशेद ने सुना, आज हमारे दफ़्तर में एक नये अफसर आ रहे हैं। बड़ी धाक है उनकी। बेईमानी की कानी कौड़ी भी हराम है उनके लिये। समय के बड़े पाबन्द। सख्ती तो करते हैं पर जब कोई मुसीबत में फंसा हो तो उनके जैसा सहायक मिलना मुश्किल है। ऐसे आदर्श अफसर को देखने के लिये कौन उत्सुक न होगा ? साथ ही डर के मारे हमारे दिल भी धड़क रहे थे।

इतने में कोई बाहर से आया, बोला : "साहब आ गये।"

सब नम्रता, चुस्ती और न जाने किस-किस गुण के मूर्त रूप बनकर खड़े हो गये। अफसर आये, देखकर जमशेद चौंका, यह कुछ परिचित-सा दीख रहा है। कहीं देखा अवश्य है, कहां, कहां . . .। अफसर सबसे हाथ मिला रहे थे।

जमशेद जाग पड़ा, कोई उसका परिचय दे रहा था : "यह हैं हमारे 'शॉपिंग इनचार्ज'।" अफसर ने हाथ बढ़ाया, फिर मुस्करा कर बोले, "अरे तुम !" जमशेद भौंचक्का-सा देखता रहा। वे बोले : "जमशेद !" और जमशेद की इच्छा हुई उसे बाहों में भर ले ! सोचने लगा, 'कैसा उल्लू बना ! अपना दोस्त भी याद नहीं रहा।' किंतु सरकारी शिष्टाचार को निभाता हुआ जमशेद दांत दिखाते हुए बोला : "ओह, रंजन बाबू ! कैसे हैं ?"

रंजन सब कुछ समझता-सा हंसा और "अच्छा हूं" कहता हुआ आगे बढ़ गया।

सब अपने-अपने स्थान पर बैठकर काम करने लगे। जमशेद बार-बार शून्य में ताकता रहा। उसकी आंखों के सामने कौंध जाते कॉलेज के दिन, मैदान की मंडलियां और रंजन का धीर-गंभीर मुखड़ा !

छुट्टी का दिन था। जमशेद बैठा पत्रिका के पन्ने पलट रहा था कि नौकर ने सूचना दी : "कोई साहब मिलने आये हैं।" जमशेद बैठक की ओर मुड़कर बोला : "भेज दो।"

अगले ही क्षण रंजन आता हुआ दिखायी दिया। जमशेद उसे देखते ही लपक पड़ा : "अरे आप हैं ! मैंने सोचा, न मालूम कौन साहब दिमाग चाटने चले आये ! बैठिये। मेरी याद कैसे हो आयी ?"

रंजन हंसा : "भई, यह आप-वाप रहने दे दफ़्तर के लिये। जब से तुझे देखा है तभी से मिलना चाहता था लेकिन दफ़्तर में समय कहां !"

जमशेद बोला : "याद है, हम मैदान में बैठकर कैसी-कैसी बातें किया करते थे ! देखता हूं, तुम्हारी फिलोसोफी बड़ी सफल रही। कितनी तरक्की कर ली !"

रंजन कुछ रंज से मुस्कुराया : "कह ले, भई, कह ले। तू मेरी राम-कहानी नहीं जानता इसलिये कह ले। उफ ! कैसे-कैसे पापड़ बेलने पड़े हैं इस बीच, मैं ही जानता हूं।"

जमशेद चौंका : "अच्छा !! तुझे भी कष्ट झेलने पड़े ? फिर भी घरवालों ने मदद तो की होगी।"

रंजन विषाद से उसकी ओर ताकता रहा, फिर बोला : "यह तरक्की तो आपातकालीन स्थिति लायी है। पहले मैं कानपुर की शाखा में था। जानते हो क्या हालत थी तब ? मैं न घूस लेता था, और न ऐसी-वैसी बातों में रुचि ! मुझे इशारों से, संकेतों से समझाया गया, 'बच्चू ! हमारे साथ हो जाओ।' मैं न माना तो फिर झूठी शिकायतें शुरू हुईं।

"मैनेजर ने एक-दो सुनी अनसुनी कर दी। अंत में मुझे चेतावनी दी गयी। बाद में ऑफिस के साथी मेरे हितचिंतक बनकर घर आते, समझाते, अपनी आपबीती सुनाते किंतु मैं टस से मस न हुआ। मैं जानता था कि वह काला धन पाकर वे कितना कष्ट भोगते थे। रात को नींद के लिये गोली-पर-गोली लेनी पड़ती थी। हर समय कान खड़े किये चौकन्ना रहना पड़ता था।

"मैं उन दिक्कतों में न पड़ना चाहता था। उनके अड़ंगों के बावजूद मैं उनसे ज्यादा अच्छी हालत में था। स्वाभाविक था, ऐसी परिस्थिति में मनुष्य अपने अंदर प्रवेश करे। मैंने भी वही किया। मैंने कई पुस्तकें पढ़ीं। मनुष्य का कर्तव्य क्या है इसपर फिर से सोचना पड़ा। इतना सौभाग्य था कि पत्नी समझदार मिली थी। ऑफिस के साथियों ने उसे डिगाने की कोशिश की, किंतु उसे कोई न हिला सका। बार-बार कहती : "आप लोग ऑफिस के काम में मुझे क्यों घसीटना चाहते हैं ? वे जानें और उनका काम जाने।"

"मेरे साथी नौकरी छूट जाने के, दरिद्रता और अकाल मृत्यु के डर दिखाते। लेकिन तुम्हारी भाभी एक कान से सुनती दूसरे से निकाल देती। बहुत होता तो कह देती : 'बचपन से ही मैंने सीता-सावित्री की पूजा की है, अब आप समझ लीजिये।'

"घर में शांति थी किंतु ऑफिस मेरे लिये नरक बनता जा रहा था। मेरे तथाकथित मित्रों ने क्या-क्या नहीं किया ! चपरासियों को उकसाया, घेराव करवाया, मेरे विरुद्ध ऊपरवालों के पास शिकायतें भेजीं। शुरू-शुरू में अफसरों ने कोई ध्यान न दिया, पर जब शिकायतों की बाढ़ आती गयी तो उन्होंने सोचा, "जरूर दाल में कुछ काला होगा।" मुझे चेतावनी दी गयी।

"सच कहूं, मैं कभी-कभी घबरा जाता था, ऐसे समय तुम्हारी भाभी ढाढ़स बंधाती। हमारे यहां स्त्री को कम अकल माना जाता है ! . . .

"मेरी दृढ़ता और उसके पूजा-पाठ के बावजूद मुझे आखिरी नोटिस दिया गया : 'अगले महीने की पहली तारीख से कंपनी तुम्हें बरखास्त करती है।'

"तुम्हारी भाभी की आंखों में सावन-भादो आ गये। मुझे ? विचित्र बात है, मुझे कुछ न लगा, मैं बिलकुल शांत था। इस बहाने मैंने कितनी प्रगति कर ली ! बड़ा आश्चर्य होता है। हम मुसीबत के समय जितना आगे बढ़ते हैं आराम के समय नहीं बढ़ पाते !!

"हां तो, मैंने उन दिनों पहली बार गंभीरता से गीता पढ़ना शुरू किया, पहली बार जीवन क्या है, हम धरती पर क्यों आये हैं, इस विषय पर सोचना शुरू किया। धीरे-धीरे समझ में आया कि जीवन का अर्थ यह नहीं है कि परिवार का पेट भर के या देश की सेवा का ढोल पीटकर हम ऊपर उठ गये। मैं यह देखकर अचम्भे में पड़ गया कि कार्य ही में इन प्रश्नों की चाबी है।

"मैंने जाना कर्म करते चलो, परिणाम की आशा न करो। बल्कि ज्यादा अच्छा तो यह है कि सब काम उन जगन्नियंता के अर्पण कर दो जो हम सब के पिता, मित्र, सखा और प्रणयी शुभेच्छुक हैं। मैं तुझे कैसे बताऊं कि उस वृत्ति से काम करके मुझे कितना लाभ हुआ ? मैं धीरे-धीरे समझा कि इस तरह काम करके मैं किसी भी परिस्थिति में एकदम स्वस्थ, शांत रह सकता हूं . . ."

जमशेद बीच में टपका : "हां, वह तो ठीक है लेकिन तेरी नौकरी फिर लगी कैसे ?"

रंजन के गंभीर मुख पर दूज के चांद-सी मुस्कान खिल आयी : "तुम जरा नहीं बदले। मेरी नौकरी छूट गयी। मैंने कई स्थानों पर कोशिश की। बीच में थोड़ा-बहुत टाइपिंग का काम कर लेता, दो-तीन महीने घूम-घाम कर दो-एक कंपनियों की चीजें बेचीं। मैंने किसी काम को छोटा न समझा, कहीं गैराज में सफाई की, कार धोई-पोंछी। क्लर्क बना।

"एक दिन अचानक एक इश्तहार पर नजर गयी। हमारी इसी कंपनी की ओर से था। मैंने चिट्ठी लिखी और इण्टरव्यू के लिये बुला लिया गया। इस बीच आपातकालीन स्थिति की घोषणा हो चुकी थी। मेरा इण्टरव्यू लेनेवालों में पहली कंपनी का एक सदस्य था। उसने अपने साथियों को मेरी ईमानदारी की एक घटना सुनायी और मुझे चुन लिया गया। शुरू में जानता हूं मुझपर कड़ी नजर रखी जाती थी, मेरी परीक्षाएं भी ली गयीं। आखिर पिछले महीने मैनेजर ने बुलाकर मुझे तरक्की की खबर सुनायी।"

जमशेद खुश होकर बोला : "चलो, अब सच्चे आदमी की कदर हो रही है। तुम्हारी बात सुनकर मैं जो थोड़ी-बहुत गड़बड़ करता था उसे न करने का निश्चय करता हूं।"

रंजन उल्लास से बोला : "तब तो मेरा आना सार्थक हुआ। देखो भइया, ऐसे ही हमारा देश और हम ऊपर उठेंगे। एक दीपक दूसरे को जलाता है और सारी दीपमाला जगमगा उठती है, उसी तरह एक अच्छा गुण दूसरे में प्रवेश करता है और गुणवानों की दीपमाला चारों ओर फैले अंधेरे को चीरने लगती है।"

प्राण

क्या अवसाद प्राण से आता है ?

हां, तुम्हारे सभी कष्ट, अवसाद, निरुत्साह, क्रोध, सब, सब, सभी प्राण से आते हैं। वही है जो प्रेम को घृणा में बदल देता है, वही है जो बदले की, विद्वेष की भावना जगाता है, दुर्भावना पैदा करता है, हानि पहुंचाने और नष्ट करने के लिये उत्तेजना देता है। जब चीजें कठिन हों, उसके मन की न हों तो वही तुम्हें हतोत्साह करता है। और उसमें हड़ताल करने की असाधारण क्षमता है ! जब वह संतुष्ट न हो, वह एक कोने में छिप जाता है और फिर हिलता तक नहीं। और तब तुम्हारे अंदर ऊर्जा नहीं रहती, बल नहीं रहता, साहस नहीं रहता। तुम्हारी इच्छा-शक्ति . . . एक मुरझाते पौधे जैसी होती है। सारा रोष, घृणा, कोप, सारी निराशा, सारा दुःख और क्रोध, ये सब इन्हीं महाशय से आनेवाली चीजें हैं, क्योंकि वह सक्रिय ऊर्जा है।

अतः यह इसपर निर्भर है कि वह कौन-सी दिशा लेता है। और मैं तुम्हें बतलाती हूं, उसे हड़ताल करने की बहुत जोर की आदत है। वही उसका सबसे अधिक मजबूत अस्त्र है। "उफ ! तुम वह नहीं कर रहे जो मैं चाहता हूं। अच्छा लो, मैं हिलूंगा भी नहीं, मैं मौत का स्वांग भरूंगा।" और वह जरा-से कारण के लिये यह करने लगेगा। उसका चरित्र बहुत खराब है। वह बहुत छुई-मुई होता है और बहुत द्वेषपूर्ण होता है। हां, वह बहुत बदमिजाज होता है। क्योंकि, मुझे लगता है कि वह अपनी शक्ति के बारे में बहुत सचेतन होता है और वह स्पष्ट रूप से जानता है कि अगर वह अपने-आपको पूरी तरह दे दे तो ऐसी कोई चीज नहीं जो उसकी शक्ति के संवेग का प्रतिरोध कर सके। और उन सब लोगों की तरह जिनका पलड़ा भारी होता है, प्राण भी सौदा करता है : "मैं तुम्हें अपनी ऊर्जा दूंगा, लेकिन तुम्हें वह करना चाहिये जो मैं कहूं। अगर तुम वह नहीं देते जो मैं मांग रहा हूं, तो, अच्छा, मैं अपनी शक्ति वापिस लिये लेता हूं।" और तब तुम एकदम चपटे हो जाओगे। और यह सच्ची बात है। इसी तरह होता है।

उसे नियंत्रित करना कठिन है। फिर स्वभावतः, जब तुम उसे साधने में सफल हो जाओ तो उपलब्धि के लिये तुम्हारे हाथ में एक प्रबल चीज आ जाती है। वही बड़ी-से-बड़ी बाधाओं को अपनी आंधी में उड़ा सकता है। उसीमें यह क्षमता है कि क़िसी निपट मूर्ख को समझदार आदमी बना दे—केवल वही यह सब कर सकता है। क्योंकि यदि तुम प्रगति के लिये ललकते हो, और अगर प्राण यह ठान ले कि प्रगति करनी है तो बड़े-से-बड़ा मूर्ख भी अकलमंद बन सकता है ! मैंने यह देखा है। मैं सुनी-सुनायी नहीं कह रही। मैंने यह देखा है। मैंने ऐसे लोग देखे हैं जो बहुत ही मंद, मूढ़ और समझने के अयोग्य थे, वे कुछ भी न समझते थे। तुम महीनों कोई चीज उन्हें समझाते रहो, पर उनके दिमाग में कुछ घुसता ही नहीं, मानों तुम किसी लकड़े के टुकड़े को समझा रहे हो—और तब अचानक उनका प्राण किसी आवेग में फंस गया। वे किसी व्यक्ति को प्रसन्न करना चाहते थे या कुछ पाना चाहते थे और उसके लिये समझना जरूरी था, जानना जरूरी था, यह सब जरूरी था। तो, उन्होंने सब कुछ हिला दिया, सोते हुए मन को झकझोर दिया, जिन कोनों में ऊर्जा का नाम भी न था वहां उन्होंने ऊर्जा उंडेली और वे समझने लगे, वे समझदार बन गये। मैं एक ऐसे व्यक्ति को जानती थी जो व्यावहारिक तौर पर कुछ भी नहीं जानता था, कुछ भी नहीं समझता था और वही आदमी, जब मन ने क्रिया करनी शुरू कर दी, जब प्रगति के आवेग ने उसे पकड़ लिया तो अद्भुत चीजें लिखने लगा। वे मेरे पास हैं। और जब वह गति लौट गयी, जब प्राण ने हड़ताल कर दी (कुछ समय के लिये उसने हड़ताल कर दी और वापिस लौट गया), तो वह आदमी फिर से निपट मूर्ख बन गया।

निस्संदेह, बाह्यतम भौतिक चेतना और चैत्य चेतना में सतत संपर्क जमाये रखना बहुत कठिन है। और हां, भौतिक चेतना में बहुत सद्भावना होती है। वह नियमित होती है, वह बहुत कोशिश करती है, लेकिन वह धीमी और भारी है, उसे बहुत समय लगता है। उसे हिलाना मुश्किल है। वह थकती नहीं, लेकिन वह प्रयास भी नहीं करती। वह चुपचाप अपनी राह चलती है। वह बाह्य चेतना का चैत्य चेतना के साथ संपर्क कराने में शताब्दियां ले सकती है। लेकिन किसी-न-किसी कारण से प्राण इसमें हाथ डालता है। उसे एक आवेग पकड़ लेता है। वह किसी-न-किसी कारण से, जो हमेशा आध्यात्मिक कारण नहीं होता, यह संपर्क चाहता है। वह अपनी पूरी ऊर्जा, पूरे बल और पूरे आवेग के साथ, पूरे उत्साह के साथ चाहता है और काम तीन महीनों में हो जाता है।

इसलिये इसका पूरी तरह ध्यान रखो, इसके साथ बड़े सम्मानपूर्वक व्यवहार करो, परंतु कभी उसकी अधीनता न स्वीकार करो। क्योंकि वह तुम्हें सब प्रकार के कष्टकर और अप्रिय परीक्षणों में खींचेगा और अगर तुम उसे किसी-न-किसी तरह विश्वास दिलाने में सफल हो जाओ तो तुम मार्ग पर बहुत बड़े-बड़े डगों से बढ़ोगे।

—श्रीमातृवाणी खण्ड ५ से

संसार सचमुच भागवत सत्य को अभिव्यक्त करने के लिये है, परंतु बीच में कोई ऐसी चीज टपक पड़ी है जिसने उसे विकृत कर दिया है। उस सत्य को प्रकट करना ही हमारा योग है।

—श्रीमां

हमारे जीवन का चरम लक्ष्य

मनुष्य अपने-आपको विश्व के अंदर पुष्ट करने के लिये है, यह उसका पहला कार्य है, साथ ही अपने-आपको विकसित करना और अंत में अपना अतिक्रमण करना भी है। उसे अपनी आंशिक सत्ता को पूर्ण सत्ता में, आंशिक चेतना को समग्र चेतना में बदलना होगा। उसे अपने परिसर पर प्रभुत्व पाना होगा पर साथ ही विश्व-ऐक्य और विश्व-सामंजस्य भी पाना होगा। उसे अपने व्यक्तित्व का अनुभव करना होगा पर साथ ही उस व्यक्तित्व को वैश्व आत्मा और अस्तित्व के वैश्व और आध्यात्मिक आनंद में भी वर्धित करना होगा। उसकी मानसिकता में जो कुछ अंधकारमय, भूल-भरा और अज्ञानमय है उसका रूपांतर, परिशुद्धि और संशोधन करना होगा, ज्ञान, इच्छाशक्ति, अनुभव, क्रिया और चरित्र के मुक्त तथा विस्तृत सामंजस्य और ज्योतिर्मयता तक चरम प्राप्ति—यही है मनुष्य की प्रकृति का प्रत्यक्ष अभिप्राय; यही वह आदर्श है जिसे सृजनात्मक ऊर्जा ने उसकी बुद्धि पर आरोपित किया है, एक ऐसी आवश्यकता है जिसे उसने उसके मन और प्राण के तत्त्व में रोपा है, लेकिन इसे केवल तभी चरितार्थ किया जा सकता है जब मनुष्य बृहत्तर सत्ता और विशालतर चेतना में विकसित हो जाये अर्थात् आत्म-वृद्धि, आत्म-परिपूर्णता, आत्म-विकास को प्राप्त करे, अपनी वास्तविक और प्रतीयमान प्रकृति में अंशतः और सामयिक रूप से जो है उसमें से जो कुछ वह अपनी गुप्त आत्मा और स्व में पूर्ण रूप से है, उसमें विकसित हो जाये और इससे वह गुप्त आत्मा और स्व उसकी अभिव्यक्त सत्ता में भी प्रकट हो जायेंगे—यही उसके सृजन का उद्देश्य है। यह आशा धरती पर विश्व के प्रपंच के बीच उसके जीवन का औचित्य है। बाह्य, प्रतीयमान मनुष्य, जो क्षणभंगुर है और अपने जड़-भौतिक शरीर के दबावों के अधीन है और एक सीमित मानसिकता में नज़रबंद है, उसे आंतरिक यथार्थ मनुष्य बनना है जिसे अपना और अपने वातावरण का स्वामी तथा अपनी सत्ता में वैश्व होना चाहिये। अधिक स्पष्ट और कम गूढ़ भाषा में, प्राकृतिक मनुष्य को अपने-आपको दिव्य मानव में विकसित करना चाहिये। मृत्यु-सुतों को अपने-आपको अमरता के पुत्रों के रूप में जानना चाहिये। इसी कारण मानव-जन्म को विकास में परिवर्तन-बिन्दु और पार्थिव प्रकृति में क्रान्तिक अवस्था कहा जा सकता है।

इससे यह एकदम स्पष्ट होता है कि हमें जिस ज्ञान को पाना है वह बुद्धि का सत्य या अपने तथा वस्तुओं के बारे में उचित विश्वास, सही मत, अथवा समुचित जानकारी नहीं है—यह तो ज्ञान के बारे में सतही मन का विचार भर है। भगवान् के, अपने और जगत् के बारे में किसी मानसिक धारणा तक पहुंचना बुद्धि के लिये अच्छा विषय है लेकिन आत्मा के लिये काफी बड़ा नहीं है। वह हमें अनंतता के सचेतन पुत्र नहीं बनायेगा। प्राचीन भारतीय मनीषा का ज्ञान से मतलब होता था एक ऐसी चेतना जिसे प्रत्यक्ष दर्शन और आत्मानुभूति में उच्चतम सत्य प्राप्त होता है। हम जो जानते हैं अपने उच्चतम रूप में वही होना और वही बन जाना—यह इस बात की निशानी है कि हमें सचमुच ज्ञान प्राप्त है। इसी कारण, अपने व्यावहारिक जीवन, अपनी क्रियाओं को जहांतक हो सके सत्य और उचित की या सफल आंशिक ज्ञान की अपनी बौद्धिक धारणाओं की समस्वरता में गढ़ना—वह चाहे नैतिक परिपूर्णता हो या प्राणिक—यह हमारे जीवन का न तो अन्तिम लक्ष्य है और न हो ही सकता है। हमारा लक्ष्य होना चाहिये अपनी सच्ची सत्ता में, अपनी आत्मा की सत्ता में, परम और वैश्व जीवन की सत्ता, चेतना और आनंद अर्थात् परमानंद में विकसित होना।

हमारा समस्त जीवन उस एकमेव सत् पर निर्भर है; वही हमारे अंदर विकसित हो रहा है, हम उसी सत् की सत्ता, उसी परम चेतना की चेतना की एक स्थिति, उसी सचेतन परम ऊर्जा की एक ऊर्जा, सत्ता के आनंद के लिये इच्छा, चेतना का आनंद, उस ऊर्जा का आनंद हैं जो उस परम आनंद से जन्मी है : यही

हमारे जीवन का मूल तत्त्व है। लेकिन इन चीजों का हमारा सतही सूत्रीकरण यह नहीं है, यह अज्ञान की परिभाषा में गलत अनुवाद है। हमारा अहं वह आध्यात्मिक सत्ता नहीं है जो भागवत अस्तित्व की ओर देखकर कह सकता है, "वह मैं हूं"; हमारा मानसिक तत्त्व वह आध्यात्मिक चेतना नहीं है, हमारी इच्छा-शक्ति वह चिच्छक्ति नहीं, हमारे दुःख और सुख, यहांतक कि हमारे उच्चतम सुख और आनन्दातिरेक सत्ता का वह आनंद नहीं हैं। ऊपरी सतह पर हम अब भी रूप धारण किया हुआ एक अहंकार हैं, ज्ञान में बदलता हुआ अज्ञान हैं, सच्ची शक्ति की ओर प्रयास करती हुई इच्छा-शक्ति हैं, अस्तित्व के आनंद की खोज करती हुई कामना हैं। स्वयं अपना अतिक्रमण करके अपने-आप बनना—ताकि हम ऐसे आधे अंधे द्रष्टा के अंतःप्रेरित वचनों को बदल सकें जो उस आत्मा को नहीं जानता था जिसकी वह बात करता था—यह एक कठिन और संकटभरी आवश्यकता है, एक ऐसा सलीब है जिसपर ऐसा अदृश्य मुकुट चढ़ा है जो हमारे ऊपर आरोपित है। मनुष्य की सच्ची प्रकृति की पहेली नीचे की निश्चेतना की अंधेरी नारसिंही मूर्ति (स्फिंक्स) द्वारा प्रस्तावित है और ऊपर तथा अंदर से असीम चेतना तथा शाश्वत प्रज्ञा की ज्योतिर्मयी अवगुंठित नारसिंही मूर्ति द्वारा रहस्यमयी दिव्य माया के रूप में प्रस्तुत है। अहंकार को पार करके अपनी सच्ची आत्मा बनना, अपनी सच्ची सत्ता के बारे में अभिज्ञ होना, उसे अधिकार में करना, सत्ता के सच्चे आनंद को अधिकार में करना—यही है हमारे यहां के जीवन का चरम लक्ष्य : यही हमारे वैयक्तिक और पार्थिव जीवन का गुप्त भाव है।

—श्रीअरविंद

पीछे हटना

तुममें से अधिकतर अपनी सत्ता के ऊपरी भाग में रहते हो और बाहरी प्रभावों के स्पर्श के प्रति खुले होते हो। तुम लोग इस प्रकार रहते हो मानों अपने शरीर से बाहर की ओर फैले हुए हो और जब तुम ऐसे किसी व्यक्ति से मिलते हो जो वैसे ही फैला हुआ होता है पर होता है तुम्हारे लिये दुःखदायी, तब तुम उद्विग्न हो उठते हो। इस सारी तकलीफ का कारण यह होता है कि तुम पीछे की ओर हट आने के अभ्यासी नहीं होते। तुम्हें हमेशा ही अपने अंदर की ओर वापस हट आना चाहिये—भीतर गहराई में पैठ जाना सीख लो—पीछे हट जाओ और तुम सुरक्षित हो जाओगे। बाहरी जगत् में जो सामान्य शक्तियां काम कर रही हैं उनके हाथों में अपने-आपको मत छोड़ो। अगर तुम्हें कोई कार्य बहुत जल्दी भी करना हो तो एक क्षण के लिये पीछे हट आओ, तब तुम देखोगे और आश्चर्यचकित हो जाओगे कि कितनी जल्दी और कितनी अधिक सफलता के साथ तुम्हारा काम पूरा हो जाता है। अगर कोई तुमसे नाराज हो तो उसके क्रोध के स्पंदनों के जाल में मत फंस जाओ, बल्कि पीछे की ओर हट भर आओ और उसका क्रोध कोई आधार या प्रत्युत्तर न पाने के कारण काफूर हो जायेगा। सर्वदा अपनी शांति बनाये रखो, उसे खोने के सभी प्रलोभनों का विरोध करो। बिना पीछे हटे कभी कोई निर्णय मत करो, बिना पीछे हटे कभी एक शब्द तक मत बोलो, बिना पीछे हटे कभी किसी काम में मत कूदो। सामान्य संसार से संबंधित जो कुछ भी है वह सब क्षणिक और नाशवान् है, इसलिये उसमें ऐसी कोई चीज नहीं जिसके कारण तुम्हें बेचैन होने की जरूरत हो। जो कुछ स्थायी, सनातन, अमर और अनंत है—वही वास्तव में इस योग्य है कि हम उसे पायें, जीतें, अपने अधिकार में रखें। और वह है दिव्य ज्योति, दिव्य प्रेम, दिव्य जीवन—और वही है "सर्वोच्च शांति", "पूर्ण आनंद" और पृथ्वी पर प्राप्त "समस्त प्रभुत्व" जिसकी मुकुटमणि है "पूर्ण अभिव्यक्ति"। जब तुम यह समझ जाओगे कि सभी वस्तुएं सापेक्ष हैं, तो कुछ भी क्यों न घटे, तुम पीछे हट सकोगे और वहां से उसे

देख सकोगे; उस समय तुम शांत-स्थिर रहकर भागवत शक्ति को पुकार सकते हो और उत्तर की प्रतीक्षा कर सकते हो। उस समय तुम ठीक-ठीक यह जान जाओगे कि तुम्हें क्या करना चाहिये। अतएव, याद रखो कि जबतक तुम बहुत शांत-स्थिर नहीं हो जाओ तबतक तुम उत्तर नहीं पा सकोगे। इस आंतरिक शांति का अभ्यास करो, कम-से-कम थोड़ा आरंभ कर दो और तबतक अभ्यास करते रहो जबतक तुम्हें शांत रहने की आदत न पड़ जाये।

—श्रीमां

अहंकार पर विजय पाना

मानव जीवन में सभी कठिनाइयों, सभी विसंगतियों, सभी नैतिक कष्टों का कारण है हर एक के अंदर अहंकार की अपनी कामनाओं, अपनी पसंदों और नापसंदों की उपस्थिति। किसी निष्काम कार्य में भी जो दूसरों की सहायता के लिये होता है, उसमें भी जबतक तुम अहंकार और उसकी मांगों पर विजय पाना न सीख लो, जबतक तुम उसे एक कोने में चुपचाप और शांत रहने के लिये बाधित न कर सको, अहंकार हर उस चीज के विरुद्ध क्रिया करता है जो उसे पसंद न हो, एक आंतरिक तूफान खड़ा करता है जो सतह पर उठ जाता है और सारा काम बिगाड़ देता है।

अहंकार पर विजय पाने का यह काम लंबा, धीमा और कठिन है; यह सतत सतर्क रहने और अविच्छिन्न प्रयास की मांग करता है। यह प्रयास कुछ लोगों के लिये ज्यादा आसान और कुछ के लिये ज्यादा कठिन होता है।

हम यहां आश्रम में श्रीअरविंद के ज्ञान और उनकी शक्ति की सहायता से आपस में मिलकर एक ऐसे समाज को चरितार्थ करने के प्रयास में हैं जो अधिक सामंजस्यपूर्ण, अधिक ऐक्यपूर्ण और परिणामतः जीवन में अधिक प्रभावकारी और समर्थ हो।

जबतक मैं भौतिक रूप से तुम सबके बीच उपस्थित रहती थी, मेरी उपस्थिति अहंकार पर प्रभुत्व पाने में तुम्हारी सहायता करती थी, अतः मेरे लिये व्यक्तिगत रूप से तुमसे बहुधा इस विषय में कुछ कहना जरूरी न था।

लेकिन अब इस प्रयास को हर व्यक्ति के जीवन का आधार बनना चाहिये। विशेषकर उनके जीवन का जो जिम्मेदार स्थिति में हैं और जिन्हें औरों की देखभाल करनी होती है। नेताओं को हमेशा उदाहरण सामने रखना चाहिये, नेताओं को हमेशा उन गुणों का अभ्यास करना चाहिये जिनकी वे उन लोगों से मांग करते हैं जो उनकी देख-रेख में हैं, उन्हें समझदार, धीर, सहनशील, सहानुभूति, ऊष्मा और मैत्रीपूर्ण सद्भावना से भरा होना चाहिये। ये चीजें अहंकार के कारण या अपने लिये मित्र बटोरने के लिये नहीं, अपितु औरों को समझने और उनकी सहायता करने की उदारता के कारण होनी चाहिये।

सच्चा नेता होने के लिये अपने-आपको, अपनी चाह और पसंद को भूल जाना अनिवार्य है।

यही चीज है जिसकी मैं अब तुमसे मांग कर रही हूं, ताकि तुम अपनी जिम्मेदारियों का उस तरह सामना कर सको जैसे करना चाहिये। और तब तुम देखोगे कि जहां तुम अनबन और फूट देखा करते थे, वे गायब हो गयी हैं, और उनकी जगह सामंजस्य, शांति और आनंद ने ले ली है।

तुम्हें मालूम है कि मैं तुमसे प्रेम करती हूं और तुम्हें सहारा देने, सहायता देने और रास्ता दिखाने के लिये सदा तुम्हारे साथ हूं।

आशीर्वाद।

२६ अगस्त, १९६९

—माताजी

श्रीअरविंद की शिक्षा और साधना-पद्धति

(उनके पत्रों से संकलित)

श्रद्धा

श्रद्धा एक ऐसी चीज है जो तुम्हारे अंदर प्रमाण या ज्ञान से पहले होती है और वह ज्ञान या अनुभूति तक पहुंचने में तुम्हारी सहायता करती है। इसका कोई प्रमाण नहीं है कि भगवान् हैं, लेकिन अगर मुझे भगवान् पर श्रद्धा है तो मैं भगवान् की अनुभूति तक पहुंच सकता हूं।

*

श्रद्धा एक ऐसी चीज है जो ज्ञान के बाद नहीं, ज्ञान से पहले आती है। यह एक ऐसे सत्य की झांकी है जिसे मन ने अभी ज्ञान के रूप में नहीं पाया है।

*

जबतक हम सत्य को न जान लें (मन से नहीं, अनुभूति से, चेतना के परिवर्तन से) तबतक हमें सहारा देने और सत्य को पकड़े रहने देने के लिये अंतरात्मा की श्रद्धा की आवश्यकता होती है। लेकिन जब हम ज्ञान में निवास करते हैं तो यह श्रद्धा ज्ञान में बदल जाती है।

हां, मैं प्रत्यक्ष आध्यात्मिक ज्ञान की बात कर रहा हूं। मानसिक ज्ञान श्रद्धा की जगह नहीं ले सकता। जबतक केवल मानसिक ज्ञान ही हो तबतक श्रद्धा की आवश्यकता बनी रहती है।

*

श्रद्धा अनुभूति पर निर्भर नहीं होती। यह एक ऐसी चीज है जो अनुभूति से पहले होती है। जब तुम योग शुरू करते हो तो सामान्यतः यह अनुभूति के बल पर नहीं बल्कि श्रद्धा के बल पर होता है। केवल योग और आध्यात्मिक जीवन में ही ऐसा नहीं होता, साधारण जीवन में भी यही होता है। सभी कर्मठ लोग, शोधकर्ता, ज्ञान के स्रष्टा श्रद्धा से ही चलते हैं और जबतक प्रमाण न मिल जाये या चीज पूरी न हो जाये वे निराशा, असफलता, खण्डन, निषेध के बावजूद चलते जाते हैं क्योंकि उनके अंदर से कोई चीज उनसे कहती है कि यही सत्य है, इसी का अनुसरण करना और इसे ही पूरा करना चाहिये। रामकृष्ण से जब पूछा गया कि क्या अंध श्रद्धा गलत नहीं है तो उन्होंने तो यहांतक कहा कि अंध श्रद्धा ही करने लायक है क्योंकि श्रद्धा या तो अंधी होती है या फिर श्रद्धा ही नहीं होती, कोई और चीज होती है—तर्क-संगत निष्कर्ष, प्रमाणित विश्वास या ऐसा ज्ञान जिसकी जांच-पड़ताल की जा चुकी हो।

*

श्रद्धा किसी ऐसी चीज के लिये हमारी अंतरात्मा की गवाही है जो अभी तक अभिव्यक्त, प्राप्त या उपलब्ध तो नहीं हुई है लेकिन जिसे हमारे अंदर का ज्ञाता, सभी संकेतों के अभाव में भी, सच्चा और पूरी

तरह अनुसरण करने या प्राप्त करने योग्य मानता है। हमारे अंदर यह चीज तब भी हो सकती है जब हमारे मन में कोई निश्चित विश्वास न हो, जब प्राण संघर्ष, विद्रोह और इंकार करता हो। ऐसा कौन है जो योगाभ्यास करता है परंतु जिसमें निराशा, असफलता, अविश्वास और अंधकार की अवधियां, लंबी अवधियां न आती हों। लेकिन कोई चीज है जो उसे सहारा देती है और स्वयं उसके बावजूद चलती जाती है क्योंकि वह अनुभव करती है कि वह जिसका अनुसरण कर रही है वह सच है, अनुभव और लगन से भी बढ़कर, वह उसे जानती है। योग में आधारभूत श्रद्धा यही है, वह अंतरात्मा में निहित होती है कि भगवान् हैं, और भगवान् ही एकमात्र चीज हैं जिनका अनुसरण करना चाहिये। इसकी तुलना में, जीवन में पाने योग्य चीज और कोई नहीं है। जब तक मनुष्य में यह श्रद्धा है, वह आध्यात्मिक जीवन के लिये निर्दिष्ट है और अगर उसकी प्रकृति बाधाओं से भरी, निषेधों और कठिनाइयों से खचाखच हो, चाहे उसे वर्षों संघर्ष करना पड़े तब भी मैं कहूंगा कि वह आदमी आध्यात्मिक जीवन में सफलता के लिये निर्दिष्ट है।

तुम्हें इस श्रद्धा को विकसित करने की जरूरत है—ऐसी श्रद्धा को जो तर्क-बुद्धि और सामान्य बुद्धि के साथ संगत हो—कि अगर भगवान् हैं और उन्होंने मुझे पथ पर बुलाया है (जैसा कि स्पष्ट है) तो मेरे पीछे भागवत पथ-प्रदर्शन होना चाहिये और सभी कठिनाइयों के बावजूद मैं लक्ष्य तक जा पहुंचूंगा . . .। कोई भी व्यक्ति जब वह अपने मन को किसी महान् और कठिन लक्ष्य पर स्थिर करता है तो यह स्थिति स्वीकारता है। "मैं जबतक सफल न होऊं, चलता चलूंगा—सभी कठिनाइयों के होते हुए भी।" भगवान् पर विश्वास करनेवाला इसमें यह और जोड़ देता है, "भगवान् हैं, मेरा भगवान् का अनुसरण असफल नहीं हो सकता। मैं हर चीज में से, हा कठिनाई में से गुजरता रहूंगा जबतक उन्हें न पा लूं।"

*

तुम्हें कहना चाहिये, "चूंकि मैं केवल भगवान् को चाहता हूं इसलिये मेरी सफलता निश्चित है। मुझे केवल संपूर्ण विश्वास के साथ आगे बढ़ते चलना है और स्वयं उनका हाथ, उनके मार्ग से, उन्हीं के समय पर, उन तक सुरक्षा के साथ पहुंचाने के लिये रहेगा।" इसे तुम्हें अपने सतत मंत्र की तरह रखना चाहिये। तुम और किसी भी चीज पर संदेह कर सकते हो लेकिन जो केवल भगवान् को पाना चाहता है वह भगवान् तक अवश्य पहुंचेगा यह निश्चित है और दो और दो चार से भी ज्यादा निश्चित है। हर साधक के हृदय की तली में यह श्रद्धा होनी चाहिये, वह हर लड़खड़ाहट, हर प्रहार और हर अग्नि-परीक्षा में सहारा देती है।

पाठक जानते ही हैं कि देश में चीजों के दाम बेतहाशा बढ़ रहे हैं। अग्निशिखा, पुरोधा भी कोई अपवाद नहीं हैं। अब भी उनपर जो खर्च आता है वह उनसे मिलनेवाले चन्दे की अपेक्षा बहुत ज्यादा होता है, और अब नये बजट के साथ सम्भवतः खर्च और भी ज्यादा बढ़ जायेगा। क्या हम यह आशा कर सकते हैं कि हमारे ग्राहक और पाठक हमारी कठिनाई को समझते हुए अपनी ओर से ही यथासंभव अधिक चन्दा भेजना शुरू करेंगे।

इसी तरह आजीवन सदस्यता का शुल्क भी हमारी आवश्यकताओं से बहुत कम है। क्या हम आशा करें कि आजीवन सदस्य भी हमारी सहायता करने के लिये तत्पर रहेंगे।

सम्भ्रान्तमहिला

आसीत् श्रीमातुः सकाशे काचित् बिडाली या बिडाल्याः अपेक्षया सम्भ्रान्तमहिला इव समाचरत्तराम्।

सुशोभनशीर्षम् उन्नमय्य अचलत् सा सगौरवम्। आरात्रि निश्चलम् अस्वपत् सा न तु सामान्यमार्जारवत् कुण्डलीभूय अपि तु ऋजुविततपृष्ठा।

अथ उत्पन्नाः शावाः। शावप्रिया सा क्षणमपि तान् न अजहात्। सततमतिष्ठत् सा तेषां समीपे संरक्षणपरा तेषाम् अहितस्य आशङ्कया इव। अष्ट दिनानि तेषां सकाशे एव अतिष्ठत्, न उत्थिता भोजनार्थम् अपि।

श्रीमात्रा निरीक्षितं बिडाल्याः शावकानां वात्सल्यपूर्णं संरक्षणमिदम्। एकदा उद्भूतः इव कश्चिद् विचारः बिडाल्याः मनसि। एकं शावं ग्रीवायां धृत्वा श्रीमातुः चरणयोः न्यस्तवती सा। अथ प्रत्यागत्य, द्वितीयं शावम् उत्थाप्य श्रीमातुः चरणयोः न्यास्यत्। परमभवत् तृतीयस्य वारः। शावान् सन्न्यस्य आयतनेत्राभ्यां श्रीमातरं दृष्ट्वा सा अमीवत्, भोजनस्य अन्वेषणाय निरगच्छत् च।

निश्चिन्तमनाः आसीत् सा। तस्याः शावाः श्रीमातुः चरणयोः आसन्। सर्वथा निरापत् च एतत् स्थानम् इत्यजानात् असौ।

शानदार महिला

माताजी के पास एक बिल्ली थी जो बिल्ली की अपेक्षा एक शानदार महिला की तरह अधिक व्यवहार करती थी।

वह सिर ऊंचा रखते हुए बड़े गौरव के साथ चलती थी। जब वह सोती थी तो सामान्य बिल्लियों की तरह कुंडल न बनाती थी। वह सारी रात बिना हिले-डुले सीधी रहती थी।

फिर आये बच्चे। उसे अपने बच्चों से बहुत प्यार था और वह उन्हें पल भर के लिये भी अलग न होने देती थी। सारे समय वह बच्चों को अपने पास अपनी सुरक्षा में रखती थी। शायद उसे डर रहता था कि कहीं उन्हें चोट न लग जाये। पूरे आठ दिनों तक वह उनके साथ लगी रही, खाने के लिये भी उनसे अलग न हुई।

माताजी अपने बिलौटों के प्रति बिल्ली का यह स्नेहभरा प्यार देखा करती थीं। एक दिन ऐसा लगा कि बिल्ली के मन में कोई विचार आया। उसने एक बिलौटे को गर्दन से पकड़ा और उसे माताजी के पास ले आयी और उसे उनके चरणों के बीच में रख दिया, फिर जाकर दूसरे बिलौटे को ले आयी और उसे भी माताजी के चरणों में रख दिया। तब तीसरे की बारी आयी। फिर उसने अपनी बड़ी-बड़ी आंखों से माताजी की ओर देखा, म्यांऊं, म्याऊं की और खाने की तलाश में चल दी।

बिल्ली शांत हो गयी, उसके बच्चे माताजी के चरणों में थे और उसे पता था कि अब उसके बच्चे पूरी तरह सुरक्षित हैं।

—वन्दना

भगवान् के प्रति निवेदित किये गये कार्य के द्वारा ही चेतना सबसे अच्छी तरह विकसित होती है।

—श्रीमां

संकल्प को कभी डगमगाना नहीं चाहिये, प्रयास निरंतर बना रहना चाहिये और श्रद्धा अडिग होनी चाहिये।

—श्रीमां

खुश रहने की कोशिश करो—तुम तुरन्त दिव्य प्रकाश के निकट होगे।

—श्रीमां

परम प्रभु, हमें नीरव रहना सिखा ताकि नीरवता में हम तेरी शक्ति पा सकें और तेरी इच्छा को समझ सकें।
—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.
THE MOTHER

प्रार्थना और ध्यान

२ अगस्त १९१३

आज सवेरे जैसे ही मैंने यह पूछते हुए कि तेरी सेवा करने का सबसे अच्छा उपाय क्या है, इस महीने पर नजर डाली जो शुरू हो रहा है तो मैंने अपने अंदर नीरवता में मर्मर की तरह एक छोटी-सी आवाज सुनी और उसने मुझसे यह कहा, "देखो, बाहरी परिस्थितियों का महत्त्व कितना कम है। सत्य की अपनी कल्पना को पाने के प्रयास में इतना घोर परिश्रम और तनाव क्यों ? अधिक सुनम्य और अधिक विश्वस्त रहो। तुम्हें केवल एक ही चीज करनी चाहिये, अपने-आपको किसी चीज से परेशान न होने दो। अच्छी चीजें करने के लिये अपने-आपको कष्ट देना भी दुर्भावना जैसे बुरे परिणाम ही लाता है। सच्ची सेवा की एकमात्र संभावना गहरे जलों की निश्चलता में रहती है।"

और यह उत्तर इतना आलोकमय, इतना शुद्ध था, वह अपने अंदर ऐसी प्रभावकारी वास्तविकता लिये हुए था कि जिस स्थिति का वर्णन किया गया था वह बिना कठिनाई के मेरे अंदर संचारित हो गयी। मुझे ऐसा लगा कि मैं निस्तब्ध गहरे जलों में उतरा रही हूं। मैं समझ गयी, मैंने स्पष्ट देखा कि कौन-सी वृत्ति सबसे अच्छी है और मुझे तुझसे केवल यही याचना करनी है कि हे सर्वोच्च स्वामी, परम गुरु, मुझे वह बल और अतीन्द्रिय दृष्टि प्रदान कर जो अपने-आपको सदा इस स्थिति में बनाये रखने के लिये जरूरी है।

"बालक, अपने-आपको कष्ट न दे, नीरवता, शांति, शांति।"

—श्रीमां
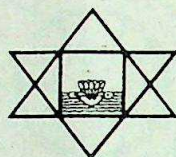
यह क्या है संलाप ?

हन्ता और हत के बारे में यह क्या है संलाप ?
तलवारों में हनन की नहीं धार, न कर सकते जलप्लावन
इस जाज्वल्यमान आत्मा का शमन। मरण और दुःख-ताप
केवल हैं एक महत्तर रंगमंच के नियम साधारण।

अपनी नियति से अनुगम्यमान जब कोई महानायक
गिरता है विशाल विश्व के उद्दारित खंभ के समान
भयपूरित मानवजाति के हृदय को करता हुआ कंपायमान,
तब सुख से वंचित चुपचाप बैठे रहते हैं दर्शक।

इसी बीच नेपथ्य में अभिनेता लेता है निरुद्विग्न
मुक्ति की गहरी सांस, अपने अभीतक के रूप का करता है परिहार
और बात करता मित्रों से जो कर रहे थे उसका इंतजार
अथवा पार्श्व रंग से अंतिम दृश्य की नीरवता का करता अवलोकन।

इसी प्रकार हत जनों की आत्माएं अक्षत
हमारे दर्शन से दूर जाकर रहती हैं पुनर्जीवित।

अनु० —अमृता भारती

—श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

सितंबर

१. रूपांतर वह परिवर्तन है जिसके द्वारा सत्ता के सभी तत्त्व और सभी गतिविधियां अतिमानसिक सत्य को अभिव्यक्त करने के लिये तैयार हो जाते हैं।

२. हर एक के लिये अपने चैत्य को ढूंढ़ना और उसके साथ निश्चित रूप से तादात्म्य पाना अनिवार्य है। चैत्य के द्वारा ही अतिमानस अपने-आपको अभिव्यक्त करेगा।

३. तुम्हें एक बात जान लेनी चाहिये और उसे कभी न भूलना चाहिये : रूपांतर के कार्य में जो कुछ सत्य और निष्कपट है उसे हमेशा रखा जायेगा, केवल जो मिथ्या और कपटपूर्ण है वह गायब हो जायेगा।

४. जो रूपांतर के लिये तैयार हैं वे उसे कहीं भी कर सकते हैं। और जो तैयार नहीं हैं वे चाहे जहां भी हों उसे नहीं कर सकते।

५. कठिनाइयों का पूर्वानुमान करना उन्हें आने में सहायता देता है।
परम कृपा में पूर्ण विश्वास रखकर हमेशा अच्छे-से-अच्छे का पूर्वदर्शन करना धरती पर अतिमानसिक कार्य में प्रभावशाली रूप से सहयोग देना है।

६. तुम्हें अपनी इ़च्छा को विकसित और मजबूत बनाना चाहिये तब तुम्हारा समय व्यर्थ में बरबाद न होगा।

७. *प्रश्न*—मुझे प्रायः हर समय बुरा लगता है और मैं अवसाद में डूबा रहता हूं, मुझे इस बात का डर है कि इस तरह मैं दूसरों को बाधा पहुंचाता हूं।
उत्तर—यह बहुत प्रशंसनीय भाव है—लेकिन इस अवसाद से अपने-आपको बाहर निकाल लेना सबसे अच्छी बात होगी ताकि इसे दूसरों पर डालने का जोखिम ही न रहे।

८. यह सच नहीं है कि शारीरिक कार्य मानसिक कार्य से घटिया है। बुद्धि का घमंड ही ऐसा दावा करता है। भगवान् के लिये किये गये सभी काम समान रूप से भागवत होते हैं। अपने व्यक्तिगत विकास, ख्याति या मानसिक संतोष के लिये किये गये मानसिक कार्य की अपेक्षा भगवान् के लिये किया गया शारीरिक कार्य अधिक दिव्य है।

९. यह उपयोगिता का प्रश्न बिल्कुल नहीं है यद्यपि जब तुम लग कर करते हो तो तुम्हारा काम बहुत उपयोगी होता है। काम साधना का अंग है और साधना में उपयोगिता का प्रश्न नहीं उठता—यद्यपि बाहरी सामान्य जीवन में भी उपयोगिता ही एकमात्र माप नहीं है। प्रश्न है भगवान् के प्रति अभीप्सा का, क्या वह तुम्हारे जीवन का केंद्रीय लक्ष्य है, वह तुम्हारी आंतरिक आवश्यकता है या नहीं।

१०. योग का आधार यह है कि चेतना के परिवर्तन में ही जीवन के सच्चे आधार को पाया जा सकता है, वस्तुतः उसका नियम है "भीतर से बाहर की ओर"; लेकिन भीतर का अर्थ ऊपरी सतह से एक इंच नीचे नहीं है। तुम्हें गहराई में जाकर अंतरात्मा को, अपने-आपको, अपने अंदर दिव्य यथार्थता को पाना चाहिये, तभी हमारा जीवन, हम अभी जो हैं उस अपूर्ण और अपर्याप्त वस्तु के अंधे और बार-बार चक्कर लगाते हुए अस्तव्यस्त धब्बे न रहकर हम जो हो सकते हैं उसकी सच्ची अभिव्यक्ति बन सकते हैं। चुनाव है पुराने गड़बड़झाले में इस आशा से ठोकरें खाते हुए भटकने में कि हम किसी आविष्कार पर आ टकरायेंगे या पीछे हट कर अपने भीतर तबतक प्रकाश खोजने में जबतक हम अपने अंदर और बाहर परम देव को खोज न लें और उनकी रचना न कर सकें।

११. इस योग में हम सच्चाई पर बहुत अधिक बल देते हैं और इसका अर्थ है समस्त सत्ता को एकमात्र सत्य, एकमेव भगवान् की ओर सचेतन रूप से खुला रखना।

१२. योग का मार्ग लंबा है। जमीन के इंच-इंच को बहुत प्रतिरोध का सामना करके जीतना होगा और साधक के लिये धैर्य और ऐकांतिक अध्यवसाय के साथ ऐसी श्रद्धा से बढ़कर किसी गुण की जरूरत नहीं है जो सब कठिनाइयों, विलंबों और आभासी असफलताओं में दृढ़ बनी रहे।

१३. तुम्हारे अंदर धीरज और अध्यवसाय होना चाहिये।

१४. मात्र एक सच्ची अभीप्सा द्वारा हम अपने अंदर का मुहरबंद द्वार खोल सकते हैं और पा सकते हैं . . . वह 'कोई' चीज जो जीवन की सारी सार्थकता को बदल देगी, हमारे सारे प्रश्नों का उत्तर दे देगी, सारी समस्याओं का हल कर देगी और हमें उस पूर्णता और सद्‌वस्तु तक ले जायेगी जिसके लिये हम अनजाने अभीप्सा करते हैं, केवल वही हमें संतुष्ट कर सकती है और स्थायी उत्फुल्लता, संतुलन, बल और जीवन दे सकती है।

१५. तुम और लोगों के साथ अपने संबंध के ब्योरों पर ध्यान देने की जगह अपने-आपको भगवान् के प्रति समर्पण के लिये ज्यादा मजबूत बनाने में लगाओ।

१६. *प्रश्न*—मैं आज सवेरे से बेचैनी, थकान और उदासी का अनुभव कर रहा हूं। मैंने बहुत-सा समय जड़ता में गंवाया। मैं निष्कपट नहीं हूं और बेचैन हूं।
उत्तर—बाहरी प्रकृति हमेशा अपूर्णता से भरी रहती है जबतक कि भागवत उपस्थिति उसका रूपांतर न कर दे। लेकिन इन बातों से उदास होना गलत है।

१७. पूरी तरह सच्चे होने का अर्थ है केवल भागवत सत्य की कामना करना। अपने-आपको अधिकाधिक दिव्य जननी के अर्पित करना, इस एकमात्र अभीप्सा के सिवा सभी निजी मांगों और कामनाओं को त्याग देना, जीवन की हर क्रिया को भगवान् के अर्पित करना और अहंकार को बीच में लाये बिना, दिये हुए काम के रूप में करना। वही दिव्य जीवन का आधार है।

१८. अधीरता हमेशा भूल होती है। वह सहायता नहीं, बाधा देती है। साधना के लिये स्थिर, प्रसन्नचित श्रद्धा और विश्वास सबसे अच्छे आधार हैं। बाकी के लिये, ऐसी अभीप्सा के साथ जो तीव्र हो सकती है पर सदा अचंचल और स्थिर हो, ग्रहण करने के लिये अपने-आपको सदा खुला रखो। पूर्ण यौगिक सिद्धि एकदम नहीं आती। वह आधार की लंबी तैयारी के बाद आती है जिसमें बहुत समय लग सकता है।

१९. किसी कठिनाई द्वारा अपने-आपको परेशान या हतोत्साह न होने दो। शांति और सरलता के साथ अपने-आपको माताजी की शक्ति की ओर खोलो और उसे अपने अंदर परिवर्तन लाने दो।

२०. निष्कपट हृदय संसार की समस्त असाधारण शक्तियों से श्रेष्ठ है।

२१. माताजी की शक्ति केवल ऊपर, सत्ता के शिखर पर ही नहीं होती; वह तुम्हारे साथ और तुम्हारे निकट भी है और जब कभी तुम्हारी प्रकृति उसे काम करने दे वह क्रिया करने को तैयार रहती है। यहां हर एक के साथ यही बात है।

२२. जो लोग पूरी सचाई के साथ माताजी के लिये काम करते हैं वे काम के द्वारा ही सम्यक् चेतना के लिये तैयार किये जाते हैं, चाहे वे ध्यान के लिये न भी बैठें और योग के लिये कोई विशेष अभ्यास न भी करें . . . अगर तुम अपने काम में और सारे समय सच्चे रहो और अपने-आपको माताजी की ओर खोले रखो तो जिस किसी चीज की जरूरत होगी वह अपने-आप आयेगी।

२३. तुम्हें अंदर से काम करना सीखना चाहिये—अपनी आंतरिक सत्ता से जो भगवान् के साथ संपर्क में होती है। बाह्य को मात्र यंत्र होना चाहिये और उसे यह अनुभूति कभी नहीं देनी चाहिये कि वह तुम्हारी वाणी, विचार या क्रिया पर हुकुम चलाये या तुम्हें विवश करे।

२४. सब कुछ अंदर से शांति के साथ करना चाहिये—काम करना, बोलना, पढ़ना-लिखना सच्ची चेतना

के अंश के रूप में करना चाहिये—सामान्य चेतना के बिखरे हुए और अशांत क्रिया-कलाप या गतिविधि के साथ नहीं।

२५. अच्छा धनी आदमी वह है जो यह अनुभव करता है कि उसके पास जो धन है वह उसका संरक्षक मात्र है और वह उस धन का यथासंभव उत्तम तरीके से उपयोग करना चाहता है, तब केवल उसके चुनाव के प्रबुद्ध होने की आवश्यकता रह जाती है और वह निश्चित रूप से अपने धन को भागवत कार्य के लिये देगा।

२६. मनुष्य जो मूर्खतापूर्ण चीजें कर सकता है उनमें सबसे बढ़कर है भगवान् से मुंह मोड़ लेना और भागवत कृपा को अस्वीकार कर देना।

२७. हर एक अपने अंदर भगवान् को लिये रहता है और जरा-से प्रयास से वह उन्हें पा सकता है और वही बन सकता है।

२८. व्यर्थ में बोला गया प्रत्येक शब्द गपशप की खतरनाक क्रिया होती है।
तब हम दुर्भावना से भरी गपशप तथा निंदक शब्दों के लिये भला क्या कह सकते हैं ? जो व्यक्ति असंयम के इस रूप में रस लेता है, अपनी चेतना को नीचे गिराता है।
और जब इस असंयम के साथ भोंडे शब्दों में अभिव्यक्त कमीनेपन के झगड़े की आदत जुड़ जाये तो यह आत्महत्या के बराबर है, अपने अंदर आध्यात्मिक जीवन की हत्या।

२९. *प्रश्न*—पृथ्वी पर जीवन का क्या लक्ष्य है ?
उत्तर—भगवान् के प्रति सचेतन रूप से प्रगति करना।

३०. जीवन के प्रत्येक क्षण तुम एक ऐसा काम करते हो जो तुम्हें खुशी प्रदान करता है और दूसरे ऐसे जो तुम्हें बेचैन बना देते हैं। यह बोध बच्चे में किसी बड़े की अपेक्षा कहीं अधिक स्पष्ट होता है।
प्रत्येक सत्ता में, पृथ्वी में, विश्व में एक सत्य होता है। सत्ता, पृथ्वी और विश्व का इसी सत्य के द्वारा अस्तित्व है। यह अस्तित्व का आधार है। इस सत्य के बिना सत्ता, पृथ्वी और विश्व विलीन हो जायेंगे, क्षण भर के लिये भी टिक न पायेंगे।

—श्रीमातृवाणी से

——***——

कई जवान हैं जो बूढ़े हैं और कई बूढ़े हैं जो जवान हैं। अगर तुम प्रगति और रूपांतर की यह लौ अपने अंदर लिये चलो, अगर तुम सब कुछ अपने पीछे छोड़ने के लिये तैयार हो ताकि तुम चुस्त कदम से आगे बढ़ सको, अगर तुम एक नयी प्रगति के प्रति, नयी उन्नति के प्रति, नये रूपांतर के प्रति हमेशा खुले रहो तो तुम शाश्वत रूप से युवा रहते हो। लेकिन अगर तुम उसी चीज को लेकर संतोष के साथ बैठ जाओ जिसे तुमने चरितार्थ कर लिया है, अगर तुम्हें यह भान हो कि तुमने अपना लक्ष्य पा लिया है और तुम्हारे लिये अपने प्रयासों के फल का उपभोग करने के सिवाय और कोई काम नहीं है तो तुम्हारा आधे से ज्यादा शरीर कब्र में पहुंच चुका है, यह क्षय की अंतिम अवस्था और सच्ची मृत्यु है।

जो कुछ कर लिया गया है वह हमेशा उसकी तुलना में कुछ नहीं है जो करना बाकी है। पीछे मत देखो, आगे देखो, हमेशा आगे। और हमेशा आगे बढ़ते चलो।

—माताजी

तादात्म्य तथा विभाजन

सत्ता का पहला सत्य है तादात्म्य, विभाजन दूसरा सत्य है। समस्त विभाजन एकत्व में विभाजन है। एक सत् है जो अपने-आपको बहुत-सी आत्मविभक्त इकाइयों से देखता है और यह समान और असमान आत्मविभक्त इकाइयों को भी विभाजन के साधन से देखता है।

सत् एक है, विभाजन एक साधन या चेतना की गौण अवस्था है। लेकिन चेतना का प्राथमिक सत्य भी ऐक्य और तादात्म्य का सत्य है। सत् की आत्मनिष्ठ प्रकृति है चेतना की अनेक आत्म-विभाजित इकाइयों में व्यवस्थित एकमेव चेतना।

चेतना का वस्तुनिष्ठ पहलू है शक्ति क्योंकि चेतना सत् की एक शक्ति है। इस शक्ति का शाश्वत प्राथमिक कार्य है अपनी चेतना के लिये अपनी सत्ता के रूप या आकार बनाना।

समस्त शक्ति अंतर्निहित रूप में सचेतन शक्ति है। सत्ता के प्रत्येक व्यष्टिगत और वैश्व रूप में निवास करती और उन्हें सहारा देती हुई सत्ता की कोई सचेतन शक्ति होती है और होनी चाहिये। लेकिन सचेतन शक्ति में अपने-आपको अपने कार्यों और रूपों में तन्मय कर देने की क्षमता होती है, चेतना में आत्म-विस्मृति की शक्ति होती है। भौतिक जीवन का प्राथमिक तथ्य है यह आत्म-विस्मृति, लेकिन जैसे सोते हुए या मूर्च्छित या आत्म-विस्मृत मनुष्य में एक अंतर्लीन आत्मा होती है जो न तो सोती है न अपने-आपको भूलती है और न अचेत होती है उसी तरह जो सत्ता की असचेतन शक्ति या सामर्थ्य द्वारा परिचालित असचेतन रूप मालूम होता है उसमें ज्ञान का विस्तार करने से एक सचेतन शक्ति पायी जा सकती है और वह एकमेव सत् की सत्ता की सचेतन शक्ति का भाग होनी चाहिये।

अपने बारे में अभिज्ञ अपनी समस्त चेतना और शक्ति पर अधिकार किये हुए सत्ता की प्रकृति है अपनी निजी सत्ता का अंतर्निहित आनंद। क्योंकि अनुभव बतलाता है कि आत्मा पर पूर्णाधिकार आनंद है। केवल अपूर्ण अधिकार ही आनंद की अपूर्णता या प्रतीयमान अभाव पैदा करता है। लेकिन एकमेव सत्ता अपनी सत्ता के सभी वैश्व रूपों और आकारों में समान आनंद लेती है और यही आनंद व्यक्तिगत और वैश्व सत्ताओं का कारण और अवलंब है। इसी कारण समस्त सृष्टि और शक्ति की क्रियाओं का गुप्त या प्रत्यक्ष प्रथम हेतु है आनंद, आनंद की खोज या उसका कोई आकर्षण। भले ही उस क्रिया का लक्ष्य या उद्देश्य कुछ और प्रकार का ही क्यों न प्रतीत होता हो।

ये सत्य हमें पूरी तरह से नहीं दिखायी देते क्योंकि हम विभाजन से शुरू करते हैं, परंतु जब हम वस्तुओं के नीचे फैली सचेतन एकता के प्रति खुली हुई विशालतर चेतना तक पहुंच जायें या एक सचेतन सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित कर लें तो ये सत्य स्वतः-सिद्ध हो जाते हैं।

एकमात्र सत् हम उसे चाहे भगवान्, ब्रह्म, पुरुष या कोई और नाम दे लें, अपनी प्रकृति में अनंत सत्ता है जो अपने बारे में और अपनी सत्ता के शाश्वत आनंद से अभिज्ञ होता है। और अगर हम विभाजन और विश्लेषण की भाषा में न बोलें तो वह अविच्छिन्न एकता में सच्चिदानंद है।

*

शाश्वत की प्रकृति है अनंत सत्ता, सत्ता की प्रकृति है आत्मज्ञान और सर्व-अभिज्ञता या परम चेतना, सचेतन सत्ता की प्रकृति है ऐसी शक्ति और उसकी क्रिया जो अपने बारे में अभिज्ञ है, सचेतन आत्म-अभिज्ञता की प्रकृनि है अनंत आनंद।

*

ब्रह्म के आनंद को, परम आनंद को, शाश्वतता कहा जा सकता है। ब्रह्म की प्रकृति में इन दो अवस्थाओं में कोई विरोध या असंगति नहीं है। वहां आनंद शांति का तीक्ष्ण शिखर और मर्म है। वहां शांति आनंद का अंतर्तम मर्म और सारतत्त्व है। ब्रह्म की सत्ता में कोई अस्त-व्यस्तता या विक्षोभ नहीं है। उसके आत्म-संतुलन में उसकी अनिर्वचनीय मार्मिकता शाश्वत होती है।

परम आत्मा के अंदर स्थित अपने उच्चतम स्तर से चेतना के अवरोहण का अनिवार्य चिह्न है सच्चिदानंद की शक्ति का निरंतर ह्रास, उसकी शक्ति की तीक्ष्णता, सत्ता की शक्ति, चेतना की शक्ति और आनंद की शक्ति का ह्रास। परम श्रेष्ठतम स्थिति में इन तीनों की तीव्रता अनिर्वचनीय होती है। अतिमानस में चेतना की तीव्रता सदा ज्योतिर्मय और अक्षुण्ण रहती है, अधिमानस में वह घटी हुई और छितरी हुई होती है। अधिमन के वैभव की तुलना में मन की उच्चतम तीव्रता भी क्षीण वस्तु है। और वह घटती चली जाती है जबतक उस शून्य का आभास नहीं देती जिसे हम निश्चेतना कहते हैं।

हमारे मानव मापदंड से मन, प्राण और शरीर दुःख-दर्द की जितनी मात्रा और परिणाम सह सकते हैं वह काफी अधिक है लेकिन हर्ष के लिये उनकी क्षमता बहुत सीमित, तीव्रता में फीकी और घटिया है। हम जिसे परमानंद कहते हैं वह किसी देव को हास्यास्पद रूप से पतला, मंद और नीरस मालूम होगा, उसके रहने की अवधि भी दयनीय रूप में संक्षिप्त और क्षणिक (क्षणों में गिनी जा सकनेवाली) होती है।

—श्रीअरविंद

मानसिक रचनाएं

१२ मार्च, १९५१

प्राण-जगत् में शक्तियां विद्यमान रहती हैं : क्या मानसिक जगत् में मानसिक आकार होते हैं ?

हां, एक यथार्थ मानसिक जगत् है और वहां मानसिक आकार हैं जो प्राणिक शक्तियों से नहीं मिलते-जुलते बल्कि उनका अपना विधान है। वहां बहुत-से, असंख्य मानसिक आकार हैं। वे लगभग अविनश्वर हैं; हम केवल इतना कह सकते हैं कि वे आकार और संबंध बदलते हैं, यह कुछ ऐसी चीज है जो बहुत तरल है और सारे समय हिलती-डुलती रहती है।

> (श्रीमाताजी दूसरे विषय पर चली जाती हैं) : *"... तुम केवल वही समझ सकते हो जिसे तुम अपने आंतरिक स्वरूप में पहले से ही जानते हो। किसी पुस्तक में वही बात तुम्हें प्रभावित करती है जिसे तुम अपने अंदर गहराई में पहले ही अनुभव कर चुके हो . . . । जो ज्ञान तुम्हें बाहर से आता हुआ दिखायी देता है वह तो उस ज्ञान को बाहर ले आने का केवल एक अवसर है जो कि तुम्हारे अंदर ही है।"*
>
> —वार्तालाप (१९२९)

कोई-कोई विषय इतने अधिक कठिन क्यों होते हैं ?

ऐसा बहुत-सी चीजों के कारण होता है—मस्तिष्क की बनावट के कारण, पूर्वजों की प्रवृत्ति के कारण, शिक्षा के प्राथमिक वर्षों के कारण, विशेषकर पूर्वजों की प्रवृत्ति के कारण। परंतु इसमें एक बहुत ही

मजेदार बात है; प्रत्येक नवीन प्रत्यय (Idea) मस्तिष्क में एक प्रकार की छोटी-सी कुंडली बना देता है, और उसमें थोड़ा समय लगता है। हां, तो तुमसे कोई बात कही जाती है जिसे तुमने पहले कभी नहीं सुना था; तुम सुनते हो, परंतु वह तुम्हारी समझ में आने योग्य नहीं होती, वह तुम्हारे सिर में नहीं घुसती। परंतु तुम यदि थोड़े दिन बाद उसी बात को दूसरी बार सुनते हो तो उसका कुछ अर्थ समझ में आता है। इसका कारण यह है कि नवीन प्रत्यय के आघात ने तुम्हारे मस्तिष्क में थोड़ा-सा काम किया है और समझने के लिये जो कुछ आवश्यक था ठीक उसे तैयार कर दिया है। और वह केवल अपने-आपको गढ़ता ही नहीं, बल्कि अपने-आपको पूर्णत्व भी प्रदान करता है। यही कारण है कि यदि तुम कोई कठिन पुस्तक पढ़ो तो छः मास या एक वर्ष के बाद तुम उसे पहली बार पढ़ने के समय की अपेक्षा अनंतगुना अच्छे रूप में, और, कभी-कभी बहुत भिन्न रूप में, समझोगे। यह कार्य तुम्हारी सक्रिय चेतना के हिस्सा लिये बिना तुम्हारे मस्तिष्क में होता है। मानव-सत्ता अभी जिस ढंग से निर्मित है, काल-तत्त्व को भी सर्वदा ध्यान में रखना चाहिये।

जो वस्तु आघात उत्पन्न करती है वह मस्तिष्क है या विचार की उपस्थिति ?

नहीं, वह चीज चेतना है। अधिकतर लोगों को इसका पता नहीं होता, पर वह प्रत्येक व्यक्ति के अंदर सारे समय काम करती रहती है।

(श्रीमाताजी पढ़ना शुरू करती हैं) : *"... हम जो कुछ कहते हैं वह बहुत स्पष्ट होता है, पर जिस रूप में लोग उसे समझते हैं उसे देखकर स्तंभित रह जाना पड़ता है ! प्रत्येक व्यक्ति उसमें कुछ ऐसी ही बात देखता है जो कहनेवाले के अभिप्राय से भिन्न होती है अथवा यहांतक कि वह उसमें कोई ऐसी चीज मिला देता है जो उसके आशय के सर्वथा विपरीत होती है। यदि तुम किसी बात को यथार्थ रूप में समझना और इस प्रकार की भ्रांति से बचना चाहो तो तुम्हें उस कथन की ध्वनि और उसके शब्दों के स्पंदन के पीछे जाकर उसे निश्चल-नीरवता में सुनना सीखना चाहिये।"*

(वही)

हम निश्चल-नीरवता में सुनना कैसे सीख सकते हैं ?

यह ध्यानपूर्वक सुनने का विषय है। यदि तुम अपने ध्यान को उस बात पर एकाग्र करो जो कही जा रही है और उसे ठीक-ठीक समझने का संकल्प भी बनाये रखो तो निश्चल-नीरवता आपने-आप उत्पन्न हो जाती है—हमारा ध्यान ही निश्चल-नीरवता को पैदा करता है।

क्या "मानसिक किले" से बाहर आना संभव है ?

परंतु ऐसे लोग हैं जो किले से बाहर अवश्य निकल आते हैं ! यहांतक कि मनुष्य एक समूची सेना को किले से बाहर निकाल सकता है !

नहीं, वास्तव में उस स्थान का प्रधान बाहर नहीं जाता, वह तो अपने किले से चिपका रहता है : वह तो सैनिकों को बाहर जाने का आदेश देता है। वह अपने किले को महत्त्वपूर्ण समझता है क्योंकि वास्तव में यही वह चीज है जो उसे अपने अस्तित्व की भावना और एक व्यक्ति होने की धारणा प्रदान करती है।

ओह, परंतु तुम्हें सावधान रहना चाहिये ! जबतक तुम किले के बिना रहने में समर्थ न हो जाओ,

तबतक उनसे पिंड छुड़ाने की कोशिश न करो। यह ऐसी बात है जिसे करना अनंतगुना अधिक कठिन है। साधारणतया मनुष्य बहुत प्रयास करके और पर्याप्त मात्रा में कष्ट उठाकर — जिससे उन्हें ऐसा लगता है कि वे बड़े वीर पुरुष हैं —अपने किले को ध्वस्त कर देते हैं . . . पर करते हैं केवल तुरंत ही एक दूसरे किले में प्रवेश करने के लिये ! सत्य की दृष्टि से उससे बहुत अधिक अंतर नहीं पड़ता, परंतु इससे उनपर यह छाप पड़ती है कि उन्होंने एक महान् प्रगति कर ली है, क्योंकि पुराना किला नेस्त-नाबूद हो चुका है और उन्होंने दूसरा निर्मित कर लिया है।

किले के बिना रहना अत्यंत कठिन है —लोगों को ऐसा लगता कि वे जी ही नहीं रहे हैं, उनके व्यक्तित्व का निर्माण ही नहीं हुआ है, वे बस, इधर-उधर बह रहे हैं। मनुष्य के लिये किसी ऐसी चीज में रहना अत्यंत कठिन है जो अनंततः विशाल, सचल, सतत परिवर्तनशील, नित्य प्रगतिशील हो, वह किसी ऐसी चीज द्वारा धारित न हो जिससे वह चिपक सके और कह सके, "मैं यह हूं; मेरे विचार करने का तरीका यह है।" यह बहुत कठिन है, बहुत शीघ्र ऐसा करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिये; कुछ लोगों का मन इसके कारण विक्षिप्त हो जाता है!

वह कौन-सी चीज है जो मानसिक रचना करती है ?

वह मानसिक अहंकार है जो रचना करता है और वह तीव्र रूप में उससे चिपक जाता है।

क्या 'मैं' और अहं एक ही चीज हैं ?

सामान्य रूप में एक ही चीज हैं।

ऐसे लोग होते हैं जो सोचते तो एक बात हैं और कहते दूसरी हैं। यह कैसे घटित होता है ?

हां, ऐसा बहुधा घटित होता है। वे सोचते एक बात हैं और जब वे बोलना आरंभ करते हैं तो वे ठीक उससे उल्टा बोलते हैं। यदि विचार जीभ को संयमित करे तो बहुत-सी मूर्खताओं से बचा जा सकता है। तुम संयम को खो देते हो और आवेश में आकर किसी भी प्रकार की निरर्थक बात बोल जाते हो; उस समय जीभ एक मशीन की तरह होती है और केवल बोलने के सुख के लिये बोलना आरंभ करती है। वह सब निरर्थक-सा लगता है, पर ऐसा सारे समय घटित होता रहता है; बहुत थोड़े-से लोग ही ऐसे होते हैं जो इससे बचते हैं। वे सब प्रकार की बातें कहते हैं और पूछते हैं, "यह सब मैंने क्यों कहा है ?" उन्हें इतना भी मालूम नहीं होता कि वे क्यों कहते हैं। मैं कुछ लोगों को जानती हूं जो सदा वही बात कहते हैं जिसे दूसरा सुनना चाहता है। जिस व्यक्ति के साथ वे बातचीत करते हैं वह अपने-आपसे कहता है, "यह व्यक्ति मुझसे यह या वह बात कहेगा," अथवा वह शंकित होकर कहता है, "मैं आशा करता हूं कि यह मुझसे वह बात नहीं कहेगा," और दूसरा, एक छोटी-सी पुतली की तरह, उसे कहना आरंभ करता है, बहुत शांति के साथ और यह जाने बिना कहता है कि आखिर वह क्यों कह रहा है !

क्या ऐसा संकल्प-शक्ति के अभाव के कारण होता है ?

नहीं, यह एक प्रकार की मानसिक विकृति है। उसमें संकल्प-शक्ति अधिक नहीं होती। यदि संकल्प-

शक्ति हस्तक्षेप करती तो यह सब शायद कम निरर्थक होता।

नहीं, ये सब मानसिक क्रियाएं हैं, मन की एक रचना हैं, एक मानसिक शक्ति है जो सारे समय चंचल रहती है, जो आती है और जाती है, पिंजरे में बंद गिलहरी की तरह जो बार-बार चारों ओर दौड़ती है और यह नहीं जानती कि क्यों दौड़ रही है।

तो फिर, क्या यह एक विश्वव्यापी खेल है?

नहीं, बहुत विश्वव्यापी नहीं है; यह केवल मानवजाति में है, यह बहुत मानवीय है। भला कितने मनुष्यों में अपना कोई निजी विचार होता है? मुझे पूरा विश्वास है कि साधारण मानसिक बनावटवाली सामान्य मनुष्यजाति में एक व्यक्ति भी नहीं है। भला कितने मनुष्यों का विचार उनके चिंतन का परिणाम होता है? बहुत कम लोगों का, और यदि उनका विचार ऐसा होता है तो वे भयानक रूप में कठोर या अलौकिक रूप से बुद्धिमान् या स्वेच्छाचारी या प्रभुत्वशाली माने जाते हैं—वे सब प्रकार की प्रशंसाओं से ढके रहते हैं। और ऐसा केवल इस कारण होता है कि उनके चिंतन की एक सुनिश्चित शैली होती है।

कोई एक साधारण प्रत्यय ले लो; उदाहरणार्थ, "क्या यह जगत् अनंतकाल तक टिका रहेगा?" अथवा, "क्या इसका प्रारंभ और अंत है?" कौन व्यक्ति इस विषय में सुनिश्चित विचार रखता है? अथवा, फिर यह कि "पृथ्वी का प्रारंभ कैसे हुआ और पृथ्वी पर मनुष्यजाति का प्रादुर्भाव कैसे हुआ?" मन इस प्रश्न को सुलझाने में असमर्थ है। वह अपने सामने अनंत संभावनाओं को उपस्थित देखेगा और यह नहीं समझेगा कि चुनाव कैसे किया जाये। फिर, यह करता क्या है, यह कैसे चुनाव करता है?—व्यक्तिगत अभिरुचि के अनुसार, उस विचार के अनुसार जो उसे कोई रमणीय, सुखकर अनुभव प्रदान करता है; वह कहता है, "हां, यही वह चीज होगी।" परंतु तुम यदि एकदम ईमानदार और विवेकशील व्यक्ति होओ और अपनी अभिरुचि को क्रियाशील न होने दो तो तुम किस प्रकार निर्णय करोगे? यह मनुष्य के लिये काफी गूढ़ विषय है और इसमें वह मुश्किल से दिलचस्पी ले सकता है, ठीक है न? अंततोगत्वा, पृथ्वी उसका क्षेत्र है। हां, तो तुम यदि एक पुस्तक पढ़ो तो वह तुम्हें एक बात बतायेगी; यदि दूसरी पढ़ो तो वह तुम्हें दूसरी बात बतायेगी। फिर सभी धर्म अपने सिद्धांतों के साथ आकर इस प्रश्न को अपने हाथ में लेते हैं और, इसके अतिरिक्त, वे तुमसे कहते हैं कि बस अमुक प्रत्यय ही "पूर्ण सत्य" है और तुम्हें अवश्य इसे स्वीकार करना चाहिये, अन्यथा तुम्हें नरक की प्राप्ति होगी! तुम वैज्ञानिकों की पुस्तकें पढ़ो—वे तुम्हें वैज्ञानिक बातें बतायेंगे। तुम दार्शनिकों के ग्रंथ पढ़ो—वे तुम्हें दार्शनिक बातें बतायेंगे। तुम अध्यात्मवादियों के लेख पढ़ो, वे तुम्हारे सामने अध्यात्म की थालियां परोस देंगे और . . . तुम ठीक उसी बिंदु पर बने रहोगे जहां से तुमने आरंभ किया था। परंतु कुछ लोग ऐसे होते हैं जो अपने मन में एक प्रकार की स्थिरता बनाये रखना पसंद करते हैं (ये ठीक वे ही लोग होते हैं जो "किले" बनाते हैं—वे किले में रहना बहुत अधिक पसंद करते हैं, यह चीज उन्हें सुख-चैन का बोध प्रदान करती है), अतएव वे चुनाव करते हैं, और यदि उनमें पर्याप्त मानसिक बल होता है तो वे चुनाव करते हैं विचारों की एक बहुत बड़ी संख्या में से; फिर वे उसे तुम्हारे लिये काट-छांटकर तैयार करते हैं, प्रत्येक वस्तु को, जिसे वे उसका समुचित स्थान समझते हैं वहां रखकर एक सुंदर दीवाल खड़ी करते हैं (अर्थात् सभी चीजों को इस प्रकार सजाकर रखते हैं जिसमें कि बहुत-सी अत्यधिक विरोधी वस्तुएं पास-पास न आ जायें नहीं तो वे परस्पर टकरायेंगी! वह सब एक समुचित संगठन होना चाहिये) और तुमसे कहते हैं, "अब मैं जानता हूं!"—वे एकदम कुछ नहीं जानते!

यह बड़ी मजेदार बात है, क्योंकि मनुष्य का मन जितना ही अधिक सक्रिय होता है उतना ही अधिक

वह इस छोटे-से खेल में व्यस्त रहता है। और ऐसे विचार होते हैं जिनसे मनुष्य चिपक जाता है ! उनके साथ इस प्रकार अपने को बांधे रखता है मानों सारा जीवन उन्हीं पर निर्भर करता हो ! मैंने ऐसे लोगों को देखा है जिन्होंने अपनी रचना के अंदर एक केंद्रीय भावना को दृढ़ता के साथ स्थापित कर दिया था और कहते थे, ''बाकी सभी चीजें नष्ट-भ्रष्ट हो जायें, मैं कोई परवाह नहीं करता, पर यह भावना अवश्य बनी रहेगी; बस, यही सत्य है।'' और जब वे योग करने आते हैं (बड़े मजेदार ढंग से), बस यही भावना निरंतर, सदा-सर्वदा, आक्रांत होती है ! सभी घटनाएं, सभी परिस्थितियां आती हैं और उसपर चोट करती हैं जबतक कि वह नष्ट-भ्रष्ट होना आरंभ नहीं कर देती; और फिर एक ऐसा दिन आता है जब वे निराश होकर कहते हैं, ''आह, मेरी भावना समाप्त हो गयी।''

किसी ने कुछ-कुछ कवित्वपूर्ण भाषा में कहा है, ''मनुष्य को यह अवश्य जानना चाहिये कि सब कुछ पाने के लिये सब कुछ कैसे खोया जाता है।'' और यह सच है, विशेषकर मन के लिये, क्योंकि यदि तुम यह नहीं जानते कि सब कुछ कैसे खोया जाता है तो तुम कुछ भी प्राप्त नहीं कर सकते।

—श्रीमातृवाणी, खंड ४ से

श्रीअरविंद के साथ बातचीत

(पिछले कर्म, मृत्यु के बाद आदि)

१८-८-१९२६

(श्रीअरविंद ने एक अखबारी समाचार का उल्लेख किया जिसमें कहा गया था कि पंजाब में एक छह वर्ष के बच्चे ने विस्तार के साथ अपने पहले जन्म की बातें बतलायीं और खोज-बीन पर वे सच्ची निकलीं।)

शिष्य—अगर इस घटना को सच्चा मान लिया जाये तो इसे किस रूप में लिया जाये ?

श्रीअरविंद—मुझे इसकी एक ही व्याख्या संभव मालूम होती है। उस लड़के के साथ किसी प्राणिक सत्ता के बहुत घनिष्ठ संबंध हैं और वह सत्ता उसे अपने पुराने जन्मों की बातें याद दिला रही है।

शिष्य—व्यक्ति के मर जाने के बाद भी प्राणिक सत्ता संबंध कैसे बनाये रह सकती है ?

श्रीअरविंद—शायद व्यक्ति अपनी मौत के बाद प्राण-लोक के परे नहीं गया। उसके पास विश्राम-लोक में जाकर आत्मसात् करने लायक कोई विशेष अनुभव न थे।

(यहां 'क' ने किसी बच्चे की बात की जो मरकर तुरंत अपनी मां के गर्भ में आ गया।)

श्रीअरविंद—चूंकि बच्चा बहुत छोटी अवस्था में मर गया था इसलिये उसके पास आत्मसात् करने के लिये कोई खास अनुभूतियां न थीं, इसलिये उसका जल्दी ही लौट आना बहुत संभव है। कई चीजें मनुष्य को जन्म लेने के लिये खींचती हैं परंतु मनुष्य एक शरीर छोड़कर तुरंत दूसरे शरीर में नहीं आ जाते। यह केवल कीड़े-मकोड़ों के लिये ही संभव है।

विश्राम-स्थल पर गत आत्मा केवल अपने पिछले जन्म की अनुभूतियों को ही आत्मसात् नहीं करती। उसके सभी पिछले जन्मों की सभी अनुभूतियां मिलकर निश्चय करती हैं कि वह किस तरह का जन्म लेगी।

*

शिष्य—क्या हमारे सभी दुःख-दर्द हमारे पिछले कर्मों द्वारा निश्चित होते हैं ?

श्रीअरविंद—तुम्हारे प्रश्न का अर्थ क्या है ? एक अर्थ में हमारे जीवन का सब कुछ हमारे पिछले जन्मों के द्वारा निश्चित होता है।

शिष्य—मेरा मतलब साधारण कर्म-भोग से है कि अगर कोई आदमी किसी को कष्ट या हानि पहुंचाता है तो अगले जन्म में उसे भी वैसा ही कष्ट या नुकसान पहुंचेगा।

श्रीअरविंद—तुमने बहुत-सी मछलियां खायी हैं। तो क्या तुम्हें मछली बनकर मछलियों द्वारा खाया जाना पड़ेगा ?

शिष्य—लोक-व्यवहार में कुछ ऐसी ही मान्यता है।

श्रीअरविंद—यह लोक-प्रचलित मूर्खता है।

(कुछ कहानियां सुनायी गयीं कि कैसे आदमी को अपने पिछले कर्मों के अनुसार दण्ड और पुरस्कार मिलता है।)

श्रीअरविंद—यह थियोसोफिस्ट मत है। पुरस्कार और दण्ड का विचार मानव मूर्खता है। होता यह है कि जब कोई कर्म किया जाता है तो कोई ऊर्जा प्रक्षिप्त होती है और कर्म करनेवाले पर उसकी प्रतिक्रिया होती है। अगर आदमी अपने कार्य समुचित वृत्ति के साथ करे, जैसा गीता में कहा गया है उस तरह निष्काम कर्म करे, प्रकृति को अपने कार्य करने दे और अपने-आपको उसके साथ एक न करे तो कोई प्रतिक्रिया नहीं होती।

प्राणिक स्तर पर किया गया सकाम कर्म लौटकर कर्ता पर आता है। अगर तुम अपनी नैतिक सत्ता को विकसित करना चाहते हो तो तुम्हें नैतिक नियमों का अनुसरण करना चाहिये। अन्य सत्ताओं के साथ भी यही बात है। पुरस्कार और दण्ड का कोई प्रश्न ही नहीं। अंतरात्मा अनुभूतियां जुटाती है, जीवन की सब तरह की अवस्थाओं से जुटाती है। ऐसी बात नहीं है कि केवल पापी ही कष्ट पाते हैं, मूर्ख भी कष्ट पाते हैं, निर्दोष भी भोगते हैं। तुम्हें जान सकना चाहिये कि कौन-सी शक्तियां काम कर रही हैं और उनके अनुसार अपने जीवन को ढालना सीखना चाहिये। जब आदमी अपने-आपको इस तरह की शक्तियों के अनुकूल नहीं बना सकता तो वह कष्ट पाता है और इन कष्टों से ही वे अनुभूतियां आती हैं जिनसे वह आत्मा ऊपर जाती है।

*

शिष्य—जगदीशचन्द्र बसु ने कहा है कि मृत्यु की घड़ी सुखद होती है।

श्रीअरविंद—अधिकतर मृत्यु लम्बी बीमारी के बाद आती है और निश्चय ही बीमारी कष्टदायक होती है। लेकिन अगर आत्मा को शरीर छोड़ने की छूट दी जाये तो निश्चय ही वह शान्तिमय होती है। वस्तुतः कभी-कभी मृत्यु से पहले आत्मा शरीर से पृथक् हो जाती है।

(साधक के लिये गुरु की आवश्यकता के बारे में बात चली।)

श्रीअरविंद—साधारणतः गुरु का स्पर्श आवश्यक है लेकिन यह अनिवार्य नहीं है। मुझे ही ले लो, मेरे लिये गुरु का कोई स्पर्श न था। मुझे एक आंतरिक स्पर्श मिला और मैं योग करने लगा। एक ऐसी स्थिति आयी जब मैं और आगे न बढ़ सकता था तब लेले ने कुछ सहायता की। जब मैं पांडिचेरी आया तो मेरी साधना के लिये अंदर से एक कार्यक्रम मिल गया। मैंने उसे अपने-आप कार्यान्वित किया परंतु औरों की सहायता कैसे की जाये इस बारे में कोई प्रगति न कर सका। तब माताजी आ गयीं और उनकी सहायता से मैंने उसे पा लिया।

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित :

सूचक

भारत में हुए महत्त्वपूर्ण पुनर्जागरण के विषय की हम विस्तार से चर्चा कर रहे हैं। पिछले लेख में हमने देखा था कि भारत में पुनर्जागरण के समय पहले बौद्धिक काल आया जिसमें स्वभावतः बुद्धिजीवी शीर्ष स्थान पर बैठे, क्योंकि पहले मनुष्य बुद्धि के प्रभाव तले चिन्तन-मनन करके ही किसी चीज को आत्मसात् करने की कोशिश करता है, ऐसे काल में बुद्धिवादी लोगों का पलड़ा हमेशा भारी रहता है। मानस के साथ-साथ व्यक्ति का विकास होता है। इस वैयक्तिक प्रगति के बाद आती है सामूहिक प्रगति अर्थात् व्यक्ति के साथ-साथ देश का विकास। अपनी राष्ट्रीय भव्यता को पुनः प्राप्त करना भारतीयों का प्रमुख कार्य था। कवि, लेखक, चित्रकार, शिल्पी इत्यादि का इसमें बहुत योगदान रहा। इन्होंने आङ्गल प्रेरणा को पुरा राष्ट्रीय प्रकाश में देखा और उस प्रेरणा को भारतीयता की ज्योति से प्रकाशित किया। सच पूछा जाये तो वर्तमान समय में कुछ एक बुद्धिवादी लोग ही ऐसे हैं जो दुराग्रह के साथ पूरी तरह पाश्चात्य बने रहना चाहते हैं, लेकिन अधिकतर संख्या तो ऐसे लोगों की है जो अर्वाचीन विचारों को निरन्तर प्राचीन प्रकाश से उद्भासित करने के प्रयास में लगे हैं। वे रूप तथा आकार पर नहीं बल्कि उसके अंदर की भावना पर कहीं अधिक जोर दे रहे हैं। हमने देखा कि पुनर्जागरण के इस युग में हर दिशा में पहले केंद्रीय विचार तो आधुनिक प्रकार का रहा लेकिन उसने अपने चारों ओर पुरा भावों को जुटाकर उसमें पुरा तात्त्विक आत्मा का रंग घोल दिया और धीरे-धीरे वह रंग अंदर-अंदर होता हुआ केंद्रीय आधुनिक विचार पर भी चढ़ गया और विचार, भावना सब कुछ उसी में रच-बसकर पूरी तरह से भारतीय बन गये—यह हुआ पश्चिम तथा पूर्व का अद्भुत समन्वय। साहित्य में तो यह बहुत स्पष्ट है। आधुनिक साहित्य के दो महान् कवि तथा लेखक हैं बंकिमचन्द्र चैटर्जी तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर—इनकी कृतियां इस संक्रमणकाल की विभिन्न अवस्थाओं का विशद रूप से वर्णन करती हैं।

इसके साथ-साथ एक और धारा भी प्रबल रूप से बह रही है, वह है उस सबको आंखें मूंदकर स्वीकार कर लेना जो भारतीय हो, वह भी केवल इसलिये कि उसपर भारतीयता की मुहर लगी है; और जो कुछ पश्चिम का है उसे एकदम से परे कर देना। यह तो स्पष्ट है कि इस तरह की संकीर्ण विचारधारा हमें बहुत दूर तक नहीं ले जा सकती—जबतक समन्वय न हो हम विस्तार की ओर कदम नहीं बढ़ा सकते—अंगर ये दोनों धाराएं अलग-अलग बहती रहें तो हम बड़े बेतुके बन जायेंगे—ऐसी पोशाक पहन लेंगे जो आधी यूरोपीयन तो आधी भारतीय होगी—जैसी कि हमारी वर्तमान अवस्था है—और एक तरह से देखें तो यह अवस्था भी प्रगति का चिह्न है क्योंकि संक्रमण-काल हमेशा आनेवाले नये युग का सूचक होता है।

—वन्दना

——***——

समय और सफलता की चिंता न करो। अपनी भूमिका निभाते रहो, चाहे उसमें सफलता मिले या असफलता।

—श्रीमां

परीक्षा

जैसा कि हम पहले देख आये हैं श्रीअरविंद ने अपने काम की पूरी जिम्मेदारी माताजी को दे दी। आश्रमवासियों की संख्या १९२६ में २५ थी और १९३७ में १४० हो गयी तथा १९४२ में ३५० तक जा पहुंची और इनके अतिरिक्त दर्शक तो रहते ही थे जिनकी संख्या दर्शन के तीन अवसरों पर (२१ फरवरी, १५ अगस्त और २४ नवम्बर) काफी बढ़ जाती थी।

माताजी अपने आश्रम में न तो ऐश-इशरत का राज्य चाहती थीं और न तंगहाली का। उन्होंने आश्रम की आवश्यकताएं पूरी करने और आश्रमवासियों को काम में लगाने के लिये बहुत-से विभाग खोले जिनकी देख-रेख वे स्वयं किया करती थीं। आश्रम की कोई भी चीज, अच्छी हो या बुरी, उनकी नजर से बच न सकती थी।

माताजी का काम ऐसा था मानों किसी चौखूंटे को गोल बनाना हो। उन्हें सारी मानवजाति पर परीक्षण करने थे। उन्हींके शब्दों में, "आश्रम उनकी प्रयोगशाला था जिसमें सब प्रकार के नमूने इकट्ठे किये गये थे।" आश्रम खड़ा करने के लिये, आश्रमवासियों की आवश्यकताएं पूरी करने के लिये और आश्रम को अपने पैरों पर खड़ा करने के लिये नाना प्रकार के साधनों, नानाविध व्यवसायों को बढ़ाने की जरूरत थी। यहां लोहार भी थे और बढ़ई भी, कवि भी थे और कारीगर भी, संगीतज्ञ थे और कलाकार भी और इनमें से हर एक के काम में एक आंतरिक प्रेरणा काम करती थी। प्रायः सभी विभागों में श्रीअरविंद का एक वाक्य लिखा दिखायी देता था, "हमेशा ऐसे व्यवहार करो मानों माताजी तुम्हारी ओर देख रही हैं क्योंकि वास्तव में वे हमेशा उपस्थित रहती हैं।" इसकी व्याख्या करते हुए श्रीअरविंद ने किसी को लिखा था, "हर समय हर साधक के साथ माताजी का निर्गत अंश रहता है। यह अंश माताजी का प्रतिनिधि नहीं स्वयं उनका अंश होता है। वे अपने शरीर से बंधी नहीं होतीं, वे जिस तरह चाहें निर्गत हो सकती हैं।" एक और पत्र में श्रीअरविंद बतलाते हैं, "सेक्स के बारे में बहुत अधिक सोचना, चाहे वह उसे दबाने के लिये ही क्यों न हो, स्थिति को ज्यादा खराब बना देता है।"

आश्रम में रहते हुए भी ऊट-पटांग चीजें मनुष्य के अंदर क्यों घुस आती हैं, इसका उत्तर देते हुए श्रीअरविंद ने कहा, "विरोधी स्वभाव का एक रूपायण आश्रम में चक्कर लगाता रहता है और एक के बाद दूसरे को पकड़ता है और उससे कहता है, "तुम यहां ठीक से न जम सकोगे, तुम योग के लिये उपयुक्त नहीं हो, इससे तो मर जाना या यहां से चले जाना ज्यादा अच्छा है।" और कुछ नहीं तो कम-से-कम तुम इन सुझावों से निराश तो हो ही जाते हो। समझदारी की बात यही है कि ऐसे सुझावों को एक लात लगाओ, उन्हें अपने अंदर घुसने ही न दो और उनसे कहो, "मैं यहां सफल होने के लिये आया हूं, निराश होने के लिये नहीं।"

आश्रम के आरंभ से ही यहां विरोधी शक्तियां अपना जोर आजमाती रही हैं। इसके बारे में श्रीअरविंद कहते हैं कि जब कभी यज्ञ या योग आरंभ होता है, विरोधी शक्तियां वहां इकट्ठी हो जाती हैं और उसे किसी-न-किसी तरह बंद करने या उसमें विघ्न-बाधा डालने की कोशिश करती हैं। यह जानी हुई बात है कि उच्चतर और निम्नतर दो प्रकार की प्रकृतियां हैं जो अपनी-अपनी दिशा में खींचती हैं। शुरू में निम्न प्रकृति में बहुत अधिक बल होता है और बाद में उच्चतर शक्ति ज्यादा बलवान् हो जाती है।

विरोधी शक्तियां निम्नतर प्रकृति पर कब्जा करके योग या यज्ञ को नष्ट-भ्रष्ट करने की कोशिश करती हैं, इसीलिये योग-मार्ग को क्षुरस्य धारा कहा गया है। श्रीअरविंद कहते हैं, "निम्नतर प्रकृति की कमजोरी का

होना एक बात है और विरोधी शक्तियों को बुलाना एक और बात है। जो भी दूसरा काम करता है वह सीधा विरोधी-शिविर में प्रवेश करता है। विरोधी शक्ति के चिह्न हैं भगवान् के लिये तिरस्कार, माताजी के विरुद्ध विद्रोह और घृणा, योग के प्रति अविश्वास, भगवान् के विरुद्ध अहंकार का समर्थन, सत्य की अपेक्षा मिथ्यात्व को पसंद करना, मिथ्या देवों की खोज और शाश्वत को अस्वीकार करना।

आयंगार कृत 'ऑन द मदर' पुस्तक के आधार पर

प्राण की लगाम मजबूत रखो

९ सितंबर, १९५३

"हर बार जब भागवत सत्य और भागवत शक्ति का कोई अंश धरती पर प्रकट होने के लिये नीचे आता है तो धरती के वातावरण में कुछ परिवर्तन होता है। इस अवतरण के लिये जो लोग ग्रहणशील हैं वे उसकी किसी प्रेरणा, किसी स्पर्श, किसी दृष्टि के आरंभ की ओर खुल जाते हैं। अगर वे जो पाते हैं उसे धारण करने और व्यक्त करने में सक्षम हों तो वे कहेंगे : "एक महान् शक्ति नीचे उतरी है। मेरा उसके साथ संपर्क है और मैं उससे जो समझ पाया हूं वह तुम्हें बताऊंगा।" लेकिन उनमें से अधिकतर इसके योग्य नहीं होते, क्योंकि उनके मन छोटे होते हैं। वे आलोकित होते हैं और मानों अधिकृत हो जाते हैं और चिल्ला उठते हैं : 'मैंने भगवान् को पा लिया है। वह पूरी तरह, समग्र रूप से मेरे अधिकार में हैं . . .'

"यहां सभी सत्ताओं में एक ही भागवत चेतना काम कर रही है। इन सभी अभिव्यक्तियों में से अपना रास्ता बना रही है। आज वह पहले किसी भी काल की अपेक्षा अधिक सफल रूप में काम कर रही है। कुछ लोग किसी प्रकार या कुछ अंश में उसका स्पर्श पा लेते हैं; लेकिन वे जो पाते हैं उसे विकृत कर वे उसमें से कुछ अपनी ही चीज गढ़ लेते हैं। कुछ और लोग स्पर्श को अनुभव तो कर लेते हैं, पर उस शक्ति को सह नहीं सकते और उसके दबाव से पागल हो जाते हैं। लेकिन कुछ लोगों में उसे ग्रहण करने और सहन करने की क्षमता होती है, और यही लोग हैं जो पूर्ण ज्ञान के पात्र, चुने हुए यंत्र और प्रतिनिधि बनते हैं।"

प्रश्न और उत्तर १९२९ (९ जून)

भागवत शक्ति उस यंत्र को कैसे चुनती है जिसमें वह अपने-आपको अभिव्यक्त करना चाहती है ?

अनुरक्ति के द्वारा। क्योंकि भागवत क्षेत्र से चेतना का गुण और स्वभाव दिखायी देता है। उसमें एक विशेष प्रकाश और विशेष स्पंदन होता है और इसे देखा जा सकता है। तो जहां अनुरक्ति (कभी-कभी केवल अनुरक्ति, और कभी तादात्म्य—सत्ता की पूर्णता की अवस्था के अनुसार) होती है शक्ति वहीं जाती है। जो अभी रचना की प्रक्रिया में है, लेकिन जिनकी चैत्य सत्ता काफी विकसित है वे दिखायी देते हैं, उनके स्पंदन दिखायी देते हैं, वहां की सत्ता दिखायी देती है और उसके अनुसार अभिव्यक्ति की मात्रा निश्चित की जाती है, अभिव्यक्ति की ठीक दिशा निश्चित की जाती है, अभिव्यक्ति का महत्त्व और उसकी अवस्था का निर्णय किया जाता है। अंतर्दृष्टि में यह सब आ जाता है।

लेकिन हो सकता है कि यंत्र न समझ सके, क्योंकि कभी-कभी जिस आदमी में शक्ति का अवतरण होता है वह उसे धारण नहीं कर पाता और पागल हो जाता है।

यह हो सकता है। सब कुछ संभव है। परंतु साधारणतः . . . मैंने तुमसे अभी उस दिन कहा था, जब मैंने चैत्य सत्ता के पुनर्जन्म की बात की थी, मैंने तुमसे कहा था वे अपने लोक से अमुक स्पंदन, अमुक प्रकाश देखती हैं और जान लेती हैं कि उन्हें वहां जाना चाहिये। लेकिन जब वे नीचे गिरती हैं तो उनमें से अधिकतर अचेत हो जाती हैं और, कम-से-कम उस समय के लिये, अपनी क्षमताएं खो बैठती हैं। अंत में वे अपने बारे में सचेतन हो जायेंगी; लेकिन उन्हें ठीक होने में समय लगता है। जैसे-जैसे प्रगति होती है वैसे-वैसे उत्तरोत्तर प्रकाश के द्वारा वे अपने बारे में सचेतन होती हैं।

प्राणिक सत्ता और मानसिक सत्ता के बीच साधारणतः कौन-सी ज्यादा जल्दी प्रगति करती है ?

यह लोगों पर निर्भर है। जिनका प्राण अधिक मजबूत है उनमें प्राण और जिनका मन अधिक बलवान् है उनमें मन। तुम्हारा मलतब है एक ही व्यक्ति में ? यह पूरी तरह इस पर निर्भर है कि कौन-सी सत्ता ज्यादा सक्रिय और ज्यादा बलवान् है। किस तरह ? हर एक व्यक्ति में संयोजन अलग तरह का होता है; इसलिये कोई सामान्य नियम नहीं बनाया जा सकता, यह नहीं कहा जा सकता कि इस तरह होना चाहिये। हम यह कह सकते हैं कि अमुक प्रकार के लोगों में इस प्रकार है और दूसरों में उस प्रकार।

लेकिन सच्ची बात तो यह है कि मैं नहीं मानती कि अगर दोनों साथ न चलें, एक एक दिशा में खींचे और दूसरा दूसरी में तो अधिक प्रगति हो सकती है। यह हमेशा कठिन होगा। और साधारणतः, यह ज्यादा अच्छा होता है कि मन का परिवर्तन पहले हो, क्योंकि मन के अंदर सत्ता के दूसरे भागों को संगठित करने की शक्ति होनी चाहिये।

(माताजी अचानक रुकती हैं और शिष्यों पर नजर डालती हैं।) अभी यहां से किसी ने एक मानसिक रचना भेजी है जिसने . . . तुम कह सकते हो, एक नीले कागज का रूप लिया है, जिस पर कुछ लिखा हुआ है। वह तेजी से चक्कर काटता हुआ तुममें से किसी पर गिरा है। तो मैं जानना चाहूंगी कि किसी के अंदर अचानक कोई सनसनीदार उत्तर आया है ? . . . कोई नहीं ? . . . मैं ठीक पकड़ नहीं सकी कि वह तुममें से कौन था, क्योंकि वह फिरकता हुआ गिरा था . . . *(मौन)*। जाने भी दो। लेकिन वह तुममें से किसी पर गिरा था। वह नीला कागज था। उसने नीले कागज़ का रूप लिया था। और उसपर कोई मजेदार उत्तर था। किसी को नहीं मिला ? क्या अचानक कोई विचार तुम्हारे सिर में घुसा ? नहीं घुसा ?

(कोई भी उत्तर नहीं देता)

अगर प्राण परिवर्तित न हो और मन को विश्वास हो ?

तो तुम सारा जीवन अपने-आपसे लड़ते हुए काटते हो ! एक तुम्हें एक ओर खींचता है और दूसरा तुम्हारा अच्छा सलाहकार बनना चाहता है, परंतु तुम उसकी नहीं सुनते। अतः तुम्हें ऐसा लगता है मानों तुम सब ओर से खींचे जा रहे हो। तुम जानते हो कि तुम्हें क्या नहीं करना चाहिये, पर करते हो कुछ और; और चूंकि तुम बेवकूफी-भरी चीजें करते हो इसलिये तुम दुःखी होते हो। इस तरह दो चीजें हैं, तुम दो कारणों से दुःखी रहते हो : पहले तो उन मूर्खता-भरी चीजों के कारण जो तुमने की हैं और उनके कारण आनेवाले पछतावे की बजह से। यह कुछ दुःखद स्थिति है . . .।

क्या प्राण को बदला नहीं जा सकता ?

प्राण को बदलना ? जरूर, यह किया जा सकता है। यह एक कठिन काम है, लेकिन यह किया जा सकता है। अगर यह न किया जा सकता तो कोई आशा न रहती। लेकिन साधारणतः केवल मन काफी नहीं है। मैंने ऐसे बहुत-से लोग देखे हैं जो बहुत स्पष्ट रूप से देख सकते थे, अच्छी तरह समझ सकते थे, मानसिक रूप में उन्हें पूरा विश्वास था, असाधारण चीजें कह सकते थे और उनका वर्णन कर सकते थे, दूसरों को बहुत अच्छे पाठ पढ़ा सकते थे, परंतु उनका प्राण सब प्रकार की चालाकियों पर तुला रहता था और उनकी बातों पर कभी कान न देता था। वह कहता था : "मेरे लिये सब बराबर है। तुम जो मरजी कह लो, जहांतक मेरा सवाल है, मैं अपनी राह चलूंगा !"

केवल तभी जब चैत्य के साथ संबंध स्थापित हो जाये, तभी वह सब कुछ बदल सकता है—बुरे-से-बुरे अपराधी को भी—क्षण में बदल सकता है : ये ऐसी "ज्योतियां" हैं जो तुम्हें पकड़ लेती हैं और तुम्हें पूरी तरह उलट देती हैं। उसके बाद सब कुछ ठीक चलता है। समायोजन की कुछ छोटी-मोटी कठिनाइयां हो सकती हैं, फिर भी सब कुछ ठीक चलता है।

लेकिन मन एक बड़ा उपदेशक है। उसका यह स्वभाव है, वह भाषण और उपदेश देता है जैसे गिरजाघरों में दिये जाते हैं। इससे प्राण धीरज छोड़ देता है और मन को उत्तर देता है (बहुत सभ्य तरीके से नहीं) : "तुम एक मुसीबत हो, तुम जो कुछ कहते हो वह तुम्हारे लिये बहुत अच्छा है, लेकिन मेरे लिये . . . नहीं, उससे काम न चलेगा।" या ज्यादा अच्छी तरह, जब मन विशेष क्षमताओं से संपन्न, प्रतिभाशाली हो और प्राण भी जरा ऊंचे स्तर का हो, वह कह सकता है : "ओह, यह कितना सुंदर है जो तुम कर रहे हो (कभी-कभी ऐसा होता है) । लेकिन देखो, मैं यह करने में असमर्थ हूं। यह बहुत सुंदर है, पर मेरी क्षमता के परे है।"

लेकिन यह प्राण एक विचित्र जीव है, यह आवेग, उत्साह और स्वभावतः कामना का जीव है। लेकिन, उदाहरण के लिये, यह किसी सुंदर चीज पर उत्साह से भर सकता है, अपने से अधिक महान् और उदात्त वस्तु को देखकर उसकी सराहना कर सकता है। और अगर वास्तव में सत्ता में कोई असाधारण मूल्य की गति हो या क्रिया हो तो वह उत्साह में आ सकता है। वह अपने-आपको पूर्ण निष्ठा के साथ दे सकता है—ऐसी उदारता के साथ, जो उदाहरण के लिये, मानसिक या भौतिक क्षेत्र में नहीं पायी जाती। उसके अंदर क्रिया की वह पूर्णता होती है जो उमंग में आकर अपने-आपको पूरी तरह निःशेष भाव से, जो कुछ वह कर रहा है उसमें, डाल देने से आती है। वीर पुरुष हमेशा प्रबल प्राणवाले होते हैं। जब प्राण किसी बात पर उमंग में आ जाये तो वह तर्क-बुद्धि का उपयोग करनेवाला न रहकर योद्धा बन जाता है। वह पूरी तरह अपने काम में डूब जाता है और असाधारण चीजें कर सकता है, क्योंकि वह हिसाब-किताब नहीं करता, युक्ति नहीं करता, यह नहीं कहता : "इसमें सावधानी बरतनी चाहिये, हमें यह नहीं करना चाहिये, वह नहीं करना चाहिये।" वह समझदार नहीं होता, वह भड़क उठता है, जैसा कि लोग कहते हैं। वह अपने-आपको पूरी तरह दे डालता है। इसलिये अगर उसे ठीक मार्ग-दर्शन मिले तो वह शानदार चीजें कर सकता है।

परिवर्तित प्राण सर्वसमर्थ यंत्र है। और कभी-कभी वह किसी असाधारण रूप से भौतिक या नैतिक सुंदर चीज से परिवर्तित हो जाता है। उदाहरण के लिये, जब वह पूर्ण आत्म-त्याग, निःस्वार्थ आत्म-निवेदन के दृश्य देखता है—ये उन चीजों में से हैं जो बहुत ही विरल हैं, पर हैं विस्मयजनक रूप से सुंदर—तो वह बह जाता है। महत्त्वाकांक्षा भी उसे पकड़कर ऐसे ही काम करवा सकती है। वह शुरू होता है महत्त्वाकांक्षा से और उसका अंत होता है समर्पण में।

केवल एक चीज है जिससे प्राण घृणा करता है, वह है मंद, एकरस, धूमिल, स्वादहीन, निर्जीव जीवन। वह सामने आ जाये तो इसे नींद आ जाती है, वह तम में जा गिरता है। उसे बहुत उग्र चीजें पसंद हैं, यह

ठीक है, वह बहुत अधिक दुष्ट, बहुत अधिक क्रूर, बहुत अधिक उदार, बहुत अधिक अच्छा और बहुत अधिक वीर हो सकता है। वह हमेशा सीमा तक जाता है, चाहे इस ओर हो या उस ओर, हां, जिधर की हवा हो।

और यह प्राण, यदि तुम उसे बुरे वातावरण में रख दो तो वह बड़ी उग्रता के साथ और बहुत बड़ी हद तक बुरे परिवेश की नकल करेगा। अगर तुम उसे किसी अद्‌भुत रूप से सुंदर, उदार, महान्, उदात्त, दिव्य वस्तु के साथ रख दो तो वह उसमें बह जायेगा। बाकी सब को भूलकर अपने-आपको समर्पित कर देगा। वह सत्ता के और किसी भी भाग की अपेक्षा ज्यादा पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण करता है, क्योंकि वह हिसाब-किताब नहीं करता। जब उसमें कामनाएं होती हैं तो उसकी कामनाएं उग्र, मनमानी होती हैं, वह दूसरों के भले-बुरे का हिसाब नहीं करता, उसे जरा भी परवाह नहीं होती। लेकिन साथ ही जब वह अपने-आपको किसी सुंदर चीज को देता है तब भी कोई हिसाब नहीं करता। वह अपने-आपको पूरी तरह दे देगा, यह जाने बिना दे देगा कि इससे उसका भला होगा या बुरा। यह एक मूल्यवान् यंत्र है।

यह एक शुद्ध जाति के घोड़े की तरह है। अगर वह मार्गदर्शन करने दे तो वह सभी घुड़दौड़ों में जीतेगा, सभी जगह पहला आयेगा। अगर वह अनसधा हो तो वह लोगों को कुचल देगा, बरबादी कर डालेगा और अपने ही पैर या पीठ तोड़ लेगा। वह ऐसा है। जानने लायक बात यह होती है कि वह किस ओर मुड़ेगा। उसे विरल, असाधारण रूप से चीजें प्रिय होती हैं—असाधारण रूप से अच्छी या असाधारण रूप से बुरी। उसे साधारण जीवन पसंद नहीं आता। वह मंद पड़ जाता है, वह आधा जड़ बन जाता है। और अगर उसे एक कोने में बंद कर दिया जाये और कहा जाये : "वहां चुप बैठे रहो, "तो वह वहां बना रहेगा, और अधिकाधिक जीर्ण-शीर्ण होनेवाली चीज के जैसा हो जायेगा और अंत में केवल ममी के जैसा हो जायेगा, उसमें कोई जान न रहेगी, वह सूख जायेगा, और फिर व्यक्ति जो करना चाहता है वह करने की जान न रहेगी उसमें। व्यक्ति में सुंदर विचार होंगे, बहुत अच्छे इरादे होंगे, पर उन्हें कार्य-रूप देने की शक्ति न होगी।

तो अगर तुम्हारा प्राण सबल है तो रोओ-धोओ मत, मजबूत लगाम रखो और उसे दृढ़ता से पकड़ो। तब चीजें ठीक चलेंगी।

—श्रीमातृवाणी, खंड ५ से

'मृत्यु अनिवार्य नहीं है'

[हमारे एक पाठक ने 'मृत्यु अनिवार्य नहीं है' श्रीअरविंद के इस कथन पर कुछ प्रश्न उठाये थे। उनकी इस जिज्ञासा को संतुष्ट करने के लिये हमने श्रीअरविंद और माताजी के अनुसार विभिन्न कोणों से इस जटिल प्रश्न का उत्तर देने का प्रयास किया है। —सं०]

वर्तमान जगत् में मृत्यु अनिवार्य दीखती है लेकिन साथ ही मृत्यु अनिवार्य नहीं रह जायेगी यह विचार अधिकाधिक जोर पकड़ता जा रहा है—खास कर विज्ञान के क्षेत्र में। आजकल जैव-शास्त्री यह कहने लगे हैं कि सचमुच बुढ़ापा एक बीमारी है, और अमरीका के किसी स्थान में मानव शरीर के कोषाणुओं को क्षय से रोकने के लिये शोधकार्य चल रहे हैं ताकि बुढ़ापे को रोका जा सके। यह तो हुई भौतिक शरीर की बात। लोगों का मत है कि प्रत्येक भौतिक वस्तु उपयोग से विघटित होने लगती है, उसका धीरे-धीरे ह्रास होने लगता है, शरीर भी, चूंकि वह भौतिक उपकरणों से बना है, वर्षों के उपयोग से धीरे-धीरे घिसने लगता है, लेकिन आधुनिक वैज्ञानिकों की प्रवृत्ति अधिकाधिक इस मत को मानने लगी है कि मानव शरीर भौतिक होते हुए भी कुछ अलग किस्म का है, इसके कोषाणु पुनर्नवीकृत होते रहते हैं, अतः क्षय का नियम

इस पर लागू नहीं होना चाहिये, फिर भी शरीर का क्षय होता ही रहता है अतः इसके अन्य कारण भी हैं। हम श्रीअरविंद के विचारों के द्वारा बुढ़ापे को समझने की कोशिश करें—

श्रीअरविंद के अनुसार हमारा शरीर काफी सहनशील है, वह काफी कुछ झेल सकता और उसके अंदर अपने-आपको स्वस्थ रखने की सहज क्षमता भी होती है, लेकिन हमारा प्राण उस बिचारे शरीर पर अपनी हुकूमत चलाने की कोशिश करता है और सामान्य मानव के शरीर में बहुत हद तक सफल भी हो जाता है, प्राण आवेश, कामना, क्रोध इत्यादि आवेगों के साथ-साथ उत्साह, स्फूर्ति, सौंदर्य-प्रियता इत्यादि का भी आगार है, जब मनुष्यों में क्रोध, काम इत्यादि के आवेश उठते हैं और शरीर को अपने काबू में कर लेते हैं तो मानव शरीर पर उसका क्या असर पड़ता है ? मनुष्य अपना आप नहीं रह जाता क्योंकि बह आपे से बाहर हो जाता है, उसका बाहरी रूप भी विकृत हो जाता है—आंखें क्रोध से लाल, चेहरा पसीने से सराबोर, नथुने फूले हुए, शरीर क्रोध की लहरों से कांपता हुआ और दिमाग आग की भट्टी। क्रोध की मूर्ति बना ऐसा मनुष्य अपने शरीर पर जो जुल्म ढाता है उसका अनुमान लगाया है कभी आपने ? यह क्रोध, ये आवेग और अन्य आवेश उसके शरीर को थका देते हैं, उसके कोषाणुओं को दुर्बल बना देते हैं और सच पूछा जाये तो यह है बुढ़ापे की ओर धीरे-धीरे कदम बढ़ाना। हमारे पूर्वज, बड़े-बूढ़े संयम से रहने की जो हिदायत हमें पग-पग पर देते रहते हैं वह निराधार नहीं है। प्राण जहां आवेगों का भंडार है वहां उत्साह, सौंदर्य-भावना इत्यादि भी उसमें कूट-कूटकर भरे हैं; अगर प्राण इन चीजों को प्रकट करे तो वही शरीर जो क्रोध में थरथराने लगता है, सद्भावनाओं के आते ही प्रकाश फैलाने लगता है—ऐसे स्पंदनों को अपने से बाहर भेजता है कि सारा वातावरण उस शांति और सौंदर्य से स्पंदित हो उठता है और तब शरीर के कोषाणुओं में भी शांति उतर आती है और उनमें नवजीवन का संचार हो जाता है। अतः प्राण जहां शरीर के लिये घातक है तो दूसरी तरफ उसका सहायक भी है।

अधिकतर मनुष्य प्राणप्रधान होते हैं, अतः प्राण ही मन तथा शरीर पर शासन करता है, सुखद जीवन बिताने के लिये सबसे पहले हमें प्राण को प्रशिक्षित, सुशिक्षित करना होगा, शरीर और मन उसका अनुसरण करेंगे। वस्तुतः सुखद जीवन ही दीर्घायु जीवन है।

और यह बात भी सौ फीसदी सच है कि प्राण को जितना अधिक शुद्ध किया जाये शरीर उतना ही अधिक कांतिमय हो उठता है। शुद्ध प्राण शरीर की नींव, उसको सहारा देनेंवाला एक सुदृढ़ स्तंभ है, नींव जितनी गहरी होगी इमारत उतनी ही मजबूत होगी।

कई शरीरों से इतनी स्पष्ट चमक, ऐसी कांति निकलती है कि सामान्य व्यक्ति भी उसका भौतिक रूप से अनुभव कर सकता है—यह सचमुच शुद्धीकृत प्राण की कांति होती है।

हमारे शरीर में प्राण प्रमुख है, कभी वह ऊधमी हो उठता है तो कभी प्रेरक बन जाता है, लेकिन प्राण के साथ-साथ जीवन के नाटक में मन भी मुख्य अभिनेताओं में से एक है। मन है मनन-चिंतन, विवेचन इत्यादि का गढ़, शरीर में अपनी भूमिका निभाने के लिये उसे प्राण के माध्यम की आवश्यकता होती है और कितनी बार मन और प्राण एक सुर में बजते हैं ? शायद बहुत कम, अधिकतर तो एक दूसरे से बेसुरा ही होता है। प्राण उत्तर की ओर जाना चाहे तो मन दक्षिण की ओर भागता है—इस रस्साकशी का परिणाम फिर बिचारे शरीर को भुगतना पड़ता है। मन टूट जाये तो वह भी प्राण की तरह हड़ताल कर बैठता है और शरीर के दरवाजे आधि-व्याधि के लिये भी खोल देता है। विशेष रूप से स्वप्नसेवी, जो मानसिक क्षेत्रों में विचरते हैं, उनके साथ अगर उनका प्राण विद्रोह कर बैठे तो वे तन-मन से टूट जाते हैं।

और अगर कभी मन, प्राण और शरीर साथ-साथ मिलकर चलने का प्रयास भी करें फिर भी समस्याओं का हमेशा के लिये अंत नहीं हो जाता क्योंकि मनुष्य अधकचरा, पूर्णता की ओर बढ़ता हुआ एक जटिल प्राणी है। कुछ सचेतन होकर वह अपने मन, प्राण को कुछ हद तक संयम में कर ले फिर भी वह अपने

बाहर के प्रभावों के प्रति खुला रहता है, बिना दस्तक दिये कितने ही विचार, प्रभाव, आवेग, संवेदन निरंतर उसके अंदर घुसते ही रहते हैं, वह मानसिक रूप से उन्हें खदेड़ने का प्रयास करता है तो कई बार वे किसी और चोर-मार्ग से मनुष्य के गहरे तहखाने, उसकी अवचेतना में जा घुसते हैं क्योंकि वह केवल उन्हें मानसिक रूप से निकालता है, अगर उन आवेगों को चेतना से निकाल बाहर फेंके तब वे समूल नष्ट हो सकते हैं, लेकिन खंदक में गये अप्रिय विचार, आवेग इत्यादि तो मनुष्य के सोते ही या असावधानी के समय चोरों की तरह बाहर निकल कर हुल्लड़ मचाते हैं, सारे किये-कराये पर पानी फेर देते हैं और मनुष्य को फिर से नयी सलेट पर लिखना शुरू करना होता है, लेकिन कौन है जो जीवन के इन थपेड़ों से थक नहीं जाता, कई अंत में हार मानकर मन, प्राण के सामने हथियार डाल देते हैं और कह बैठते हैं :

लायी हयात आये कज़ा ले चली चले
अपनी खुशी न आये न अपनी खुशी चले।

लेकिन वह व्यक्ति ही क्या जो जूझे नहीं ? मन, प्राण और शरीर को ऊपर से लीपा-पोती, रंग-रोगन करके उन्हें कुछ समय के लिये भले बाहरी चमक दे दी जाये लेकिन स्थायी सहायक बनने के लिये हमें उन्हें पूरी तरह से रूपांतरित करना होगा—रूपांतर यानी आमूल परिवर्तन। यह कठिनतम कार्यों में से है लेकिन सिद्ध हो जाये तो मधुरतम बन सकता है। और यह व्यक्ति-व्यक्ति का कार्य है। इस पृथ्वी पर कितने करोड़ इंसान हैं और हर इंसान पृथ्वी पर किसी कार्य-विशेष के लिये उतरा है—कितने हैं जो इससे अभिज्ञ हैं ? लेकिन यह सच है कि विश्व की इस विराट् स्वर-संगति में हर एक एक सुर है। पहले तो हमें पता लगाना चाहिये कि हमारा स्थान उसमें कहां है ? इसके लिये हमें सच्चे हृदय के साथ भगवान् को पुकारना होगा, सबसे पहले हमें अपने चैत्य से नाता जोड़ना होगा क्योंकि तभी मन और प्राण हमारे रास्ते की बाधा न बनेंगे, चैत्य ही है सचमुच भगवान् का अमृत पुत्र, वही हमें उनके पास ले जाने का माध्यम है। और भगवान् ही बता सकते हैं कि हमारा कार्य-विशेष इस धरती पर क्या है—दिन-रात हमारी सचेतन व्यस्तता यही खोज बन जाये, तब प्राण और मन जो सुझाव दें उन्हें नेति-नेति करके हमें उनसे आगे बढ़ने की कोशिश करनी चाहिये। कहते हैं कि सच्चे हृदय से की गयी प्रार्थना हमेशा परिणाम लाती है—यह खोज ही व्यक्ति के लिये आनंददायी बन सकती है।

यह खोज शरीर की अमरता का आरंभ-बिंदु है। हमें शरीर में रहते हुए योग करना है तो शरीर की शाश्वतता के उत्स को भी खोजना होगा। इस उत्स तक पहुंचने का मार्ग भले बीहड़ हो, घटाटोप अंधेरे से आच्छादित हो, और आज के आधुनिक जगत् के ढर्रे में ऐसा लगे कि इस अनजान जंगल को पार करने में न जाने कितने जन्म लग जायें लेकिन यह जन्मों की बात नहीं, दृढ़-निश्चय का सवाल है। और दृढ़-निश्चय की मशाल में अग्नि को हमेशा धधकाने के लिये हैं हमारे पास श्रीअरविंद तथा माताजी के वचनों का घृत। उन्होंने हमें अमरता का संदेसा दिया है, "मृत्यु अनिवार्य नहीं है" का बीज उन्होंने धरती की मिट्टी में बो दिया है।

श्रीअरविंद और माताजी के इस बीज की कोंपलें पहले-पहल विज्ञान के क्षेत्र में फूटीं और उसने भी साहस के साथ आगे बढ़कर कहा कि मृत्यु अनिवार्य नहीं है, बुढ़ापा तो एक बीमारी है। एक तरफ से अध्यात्म तथा दूसरी तरफ से विज्ञान एक दूसरे की ओर बढ़ते आ रहे हैं—उनका मिलन-बिंदु होगा मृत्यु पर मनुष्य की पहली विजय। और तबतक प्रत्येक मनुष्य को अपने अंदर मृत्यु पर विजय के इस विचार को अधिकाधिक सींचना होगा और अपना निजी युद्ध तबतक लड़ते रहना होगा जबतक वह यह न जान ले कि उसे इस धरती पर किस कार्य-विशेष के लिये उतारा गया है। तो इस तरह श्रीअरविंद का कहना कि "मृत्यु अनिवार्य नहीं है" पूरी तरह सच है, लेकिन उसे चरितार्थ करने में समय लगेगा।

—अनुबेन

माताजी और श्रीअरविंद के साथ

एक युवा साधक का पत्र-व्यवहार

पढ़ते समय भी भगवान् को कैसे याद रखा जा सकता है ?

यह जरा कठिन है।

तुम शुरू में याद कर सकते हो और अपना पढ़ना भगवान् को अर्पित कर सकते हो और फिर अंत में भी याद कर लो। चेतना की एक ऐसी स्थिति है जिसमें उसका एक भाग ही पढ़ता या काम कर रहा होता है और उसके पीछे सदा भगवान् की चेतना बनी रहती है।

२८ जून १९३३ —श्रीअरविंद

क्या कहानी की किताबों और उपन्यासों से योगी को नुकसान पहुंच सकता है ?

योगी को किसी चीज से आसानी से नुकसान नहीं पहुंच सकता है। लेकिन कहानियां और उपन्यासों के अतिरिक्त और भी तो बहुत-सी पुस्तकें हैं।

मैं कौन-सी पुस्तकें पढ़ सकता हूं ?

जो पुस्तकें तुम समझ सको और ज़ो तुम्हारे मन के विकास में सहायता दें।

१ जुलाई १९३३ —श्रीअरविंद

योगी और साधक में क्या फर्क है ?

योगी वह है जो अपनी सिद्धि में प्रतिष्ठित हो चुका है—साधक वह है जो अभी सिद्धि पा रहा या पाने की कोशिश कर रहा है।

२ जुलाई १९३३ —श्रीअरविंद

मुझे अपनी फ्रेंच की पढ़ाई के लिये क्या करना चाहिये ? मैं प्रगति नहीं कर रहा।

ब्यौरे की बातों पर ज्यादा ध्यान दो। जब भूलें सुधारी जायें तो उन्हें ध्यान से देखो ताकि फिर से वही या वैसी ही भूलें न हों।

जो शांति आती है वह ज्यादा समय नहीं रहती।

शुरू में कभी नहीं रहती—बाद में उसकी अवधि बढ़ती है।

३ जुलाई १९३३ —श्रीअरविंद

क्या मासिक पत्र पढ़ने चाहियें ?

यह मासिक पत्रों पर निर्भर है।
४ जुलाई १९३३ —श्रीअरविंद

'ख' ने मुझसे कहा कि अनुशासन बहुत जरूरी नहीं है, किन्हीं अवस्थाओं में हमें अनुशासन भंग करना चाहिये क्योंकि यह केवल एक मानसिक नियम है। क्या यह सच है ?

नहीं। अनुशासन माताजी ने लगाया है—उसे भंग करना माताजी की आज्ञा भंग करना है।

हम मन, प्राण और शरीर में भय से कैसे छुटकारा पा सकते हैं ?

इन्हें वाहियात समझो और भागवत रक्षण पर श्रद्धा रखो।

सच्चा ध्यान क्या है ?

मन को पूरी तरह भगवान् की ओर मोड़ना।
५ जुलाई १९३३ —श्रीअरविंद

क्या यह ज्यादा अच्छा न होगा कि हमारे मन में ऐसे प्रश्न न आयें कि मैं योग क्यों कर रहा हूं ?

यह ज्यादा अच्छा होगा।

चैत्य पुरुष सामने कैसे आता है ?

माताजी के लिये भक्ति, उनकी आज्ञा मानने और उनके प्रति समर्पण से।

सचाई या निष्कपटता क्या है ?

केवल भगवान् का अनुसरण करना, अहंकार का या भगवान् के सिवा किसी और का नहीं।

गलत गतिविधियां, ठीक गतिविधियों में कब बदल सकती हैं ?

नहीं बदल सकतीं। उन्हें गायब होना होगा और उनके स्थान पर ठीक गतिविधियों को आना होगा।
५ जुलाई १९३३ —श्रीअरविंद

क्या योग का ज्ञान अपने-आप नहीं आता ?

हां, सच्चा ज्ञान भगवान् के स्पर्श से अपने-आप अंदर से आता है।

अगर ऐसा है तो क्या पढ़कर ज्ञान पाने की जगह यही ज्ञान पाना ज्यादा अच्छा नहीं है ?

पढ़ना मन को तैयार करने में थोड़ी-सी सहायता दे सकता है लेकिन सच्चा ज्ञान पढ़ने से नहीं आता। कुछ तैयारी सहायता करती है—लेकिन मन को बहुत ऊपरी ढंग से सक्रिय न होना चाहिये या केवल उत्सुकता के लिये जानने की कोशिश न करनी चाहिये।
६ जुलाई १९३३ —श्रीअरविंद

मैं ध्यान कैसे करूं ?

अपने मन को अभीप्सा पर जमा दो और बाकी चीजों को दूर भगा दो।

अगर विचार आयें तो मैं क्या करूं ?

उन्हें दूर भगा दो।

आजकल पता नहीं लगता कि क्या लिखूं। मुझे जो कुछ जानने की जरूरत होती है वह आप अंदर से बता देती हैं। मुझे किस तरह सुनना चाहिये ?

सारी सत्ता की, मन, प्राण और शरीर की—पूर्ण निश्चल नीरवता में।
६ जुलाई १९३३ —माताजी

उदारता क्या है ?

वह गुण जो कृपण नहीं है।
८ जुलाई १९३३ —माताजी
(बुलेटिन अप्रैल ८२ से)

मन और अतिमन

यहां लिखा है : "किसी का असमय में ही यह कहना कि उसे अतिमन या उसका स्वाद मिल गया है बहुत बेवकूफी का काम है।" इसमें अतिमन के पूर्वास्वाद का क्या मतलब है ?

यह कल्पना करना और भी बेवकूफी-भरा है कि वह तुम्हें मिल गया है। बस, यही। क्योंकि जैसे ही कुछ लोग किसी पुस्तक में, किसी शिक्षा में कोई वाक्य पाते हैं कि तुरंत यह कल्पना कर लेते हैं कि उन्होंने उसे पा लिया है। इसलिये, जैसे ही श्रीअरविंद ने अपने लेखों में अतिमानस के बारे में कहना शुरू किया कि तुरत हर एक ने उन्हें लिखा : "मैंने अतिमानस की 'ज्योति' देखी है, मुझे अतिमानस का अनुभव हुआ है!" तो ज्यादा अच्छा यह है कि हम "अतिमानस" शब्द को बाद के लिये रखें। अभी हम उसके बारे में बात न करें।

कहीं पर श्रीअरविंद ने उन सब मानसिक क्रियाओं के बारे में विस्तार से लिखा है जो मनुष्य की पहुंच में

हैं। हां तो, इसे पढ़ने पर हम देखते हैं कि केवल मानसिक क्षेत्र की उच्चतम सीमाओं तक पहुंचने के लिये ही इतनी अवस्थाएं हैं जिन्हें हम अभी तक पार नहीं कर पाये हैं, कि अभी हमें अतिमानस के बारे में बात करने की जरूरत नहीं।

जब वे मन की उच्चतर श्रेणियों की बात करते हैं, तो हमें पता लगता है कि हम कभी-कदास ही उन स्थानों पर रहते हैं। चेतना की उस अवस्था में रहना बहुत ही विरल है। उसके विपरीत, हम साधारण मनुष्य के मन में, जिसे वे बिल्कुल सामान्य मन कहते हैं, उसमें निवास करते हैं। और सामान्य चेतना को लगता है कि तर्क-बुद्धि बहुत ऊंचे क्षेत्र की चीज है; और उनकी दृष्टि से तर्क-बुद्धि मानव मन की एक औसत क्षमता है। इससे बहुत ऊंचे-ऊंचे मन के क्षेत्र हैं जिनका उन्होंने विस्तार से वर्णन किया है। यह बिल्कुल निश्चित है कि इन पत्र-लेखकों को यदि अनुभूतियां हुई हैं . . .। वे एकाएक कह उठें कि उन्हें आश्चर्यजनक अतिमानसिक अनुभूतियां हो रही हैं, क्योंकि विरल रूप से ही आदमी तर्क-बुद्धि के परे के क्षेत्रों में जाता है, वे प्रत्यक्ष बोध, अंतर्भास और इसी तरह की अंतर्भास की अन्य क्षमताओं के क्षेत्र हैं जो तर्क-बुद्धि से बहुत परे होते हुए भी हैं मन ही के क्षेत्र, उनका अतिमन से कोई संबंध नहीं।

माताजी, आपने कहा है कि मन और अतिमन के बीच बहुत-सी अवस्थाएं हैं। यहां लिखा है कि प्रकृति के विकास का अगला न्यायसंगत कदम है अतिमानस। तो ऐसी जाति क्यों नहीं जो . . .

(बीच में) मध्यवर्ती ? हम बाद में देखेंगे।

क्या इसका मतलब यह है कि हम मध्यवर्ती अवस्थाओं से गुजरे बिना मन से सीधे अतिमन में जा सकते हैं ?

मैंने यह नहीं कहा कि ये मन और अतिमानस के बीच में हैं। मैंने कहा था कि ये मन के बाहर निकले बिना स्वयं मन के ही क्षेत्र हैं, और ये क्षेत्र अधिकतर मनुष्यों की पहुंच के बाहर हैं। मैंने मन और अतिमानस के बीच नहीं कहा। तुम्हारा मतलब है आज या किसी और दिन ? तुम कब की बात कर रहे हो, मैंने आज कहा था या किसी और दिन कहा था ?

आज ही, आप कह रही थीं . . .

नहीं, तुमने सुना नहीं। मैंने कहा था स्वयं मन के अंदर। मन की अंतिम सीमा तक पहुंचने से पहले बहुत सारे क्षेत्र हैं, मानसिक क्रिया-कलाप हैं जो अधिकतर मनुष्यों की पहुंच से बाहर हैं। और जो वहां तक पहुंच भी पाते हैं वे हमेशा उन क्षेत्रों में निवास नहीं करते। उन्हें वहां पहुंचने के लिये एकाग्रता का प्रयास करना पड़ता है, और फिर भी, हमेशा नहीं पहुंच पाते। श्रीअरविंद ने ऐसे क्षेत्रों का वर्णन किया है जहां विरले व्यक्ति ही पहुंच पाते हैं, फिर भी वे उन्हें मन के क्षेत्र ही कहते हैं। वे उनके लिये "अतिमन" शब्द का प्रयोग नहीं करते।

यह जरूर हो सकता है—इसके अलावा, जब उन्होंने अतिमानस की बात की है तो उन्होंने कहा है कि स्वयं अतिमानस की बहुत-सी श्रेणियां हैं। और, स्वभावतः, आरंभ में पहली, सबसे निचली श्रेणियां ही अभिव्यक्त होंगी—ऐसा हो सकता है कि बीच में सत्ता की ही और भी कई मध्यवर्ती अवस्थाएं हों, यह संभव है—मध्यवर्ती चरण हों।

निश्चय ही, पूर्ण जाति एकदम सहज रूप से नहीं आ जायेगी। बहुत संभव है कि ऐसा न होगा। लेकिन वर्तमान मानव की तुलना में पहले प्रयास में ही . . . बहुत ज्यादा अंतर होगा, इतना अधिक कि वह चमत्कार मालूम हो।

ऐसा अवश्य हो सकता है कि पहली अतिमानसिक अभिव्यक्तियां एकदम अपूर्ण हों। लेकिन इनमें भी, आज का मनुष्य बिल्कुल स्थूल और घटिया लगेगा। विश्व विकास में कहीं विराम नहीं है, और जो चीज एक समय बिल्कुल पूर्ण और परिष्कृत मालूम होती है वह भी भावी अभिव्यक्तियों के लिये एक चरणमात्र होती है। लेकिन बहुधा मनुष्य बैठकर कहना चाहते हैं : "बस, मुझे जो करना था सो कर लिया।"

लेकिन विश्व ऐसा नहीं है; वह बैठ नहीं जाता, वह आराम नहीं लेता, वह चलता चला जाता है। तुम कभी नहीं कह सकते : "बस, खत्म, अब मैं द्वार बंद किये देता हूं, बस, हो लिया।" तुम दरवाजा बंद कर सकते हो पर तब तुम अपने-आपको वैश्व गति से काट लेते हो। अभिव्यक्तियां हमेशा सापेक्ष होती हैं। ऐसी पहली सत्ता जो मानव-पशु न होकर दिव्य मानव या दिव्य मनुष्य होना शुरू करेगी, वह नयी जाति के पूरे नमूने की दृष्टि से चाहे कितनी भी अधूरी क्यों न हो, एकदम से अद्‌भुत चीज मालूम होगी। तुम्हें सतत गति में निवास करने का अभ्यस्त होना चाहिये। शायद क्रिया को आसान बनाने की दृष्टि से यह जरूरी हो, कोई चीज ऐसी होती है जो एक लक्ष्य निश्चित करके कहती है : "यह सचमुच अंत है," यह बिल्कुल नहीं। "यह पूर्णता है" लेकिन—निरपेक्ष पूर्णता है ही नहीं। सभी चीजें सदा सापेक्ष होती हैं और सदा ही बदलती रहती हैं।

तो, ऐसी बात है। मेरा ख्याल है कि इतना काफी है। कोई जरूरी प्रश्न तो नहीं है ? ठीक है ?

—श्रीमातृवाणी, खंड ६ से

गैर्वाणी :

किकी

पुरा आसीत् श्रीमातुः सकाशे किकी-नामधेयः अतिविशेषः कश्चित् बिडालः। जातः सः अस्माकम् आश्रमे एव। नितरां सविशेषः आसीत् सः बिडालः।

तदानीम् आश्रमिकाणां दलमेकं नियमतः श्रीमात्रा सह ध्यानार्थं समागच्छति स्म। तत्र कक्षे अवर्तत एका सुखासन्दी। किकी अन्येषाम् आगमनात् उपवेशनात् च पूर्वमेव तस्यां कुण्डलीभूय उपविशति स्म। अन्यान् नैव प्रतीक्षते स्म, तेषां ध्यानारम्भात् पूर्वमेव सः गभीरध्यानं प्रविशति स्म। ध्याने अवसिते गच्छत्सु अपि जनेषु किकी समाधिस्थः एव अतिष्ठत्। निमीलितनेत्रः किमपश्यत् सः ? सम्भवतः चन्द्रं नक्षत्रं वा गिरिं समुद्रं वा। किं वा स्वर्णमये तडागे रौप्यमयीः अप्सरसः निरैक्षत !

श्रीमाता एव तं सुमन्दं बहिरानयति स्म समाधेः, परिवेषितमपि भोजनं सः न अगृह्णात्। न, सः भोजनं नैव ऐच्छत्। सम्भवतः ध्यानेन लब्धानन्दः सः क्षुधां नैव अजानात्। पुनरपि सुखासन्द्यां सः ध्यानावस्थितः भवति स्म।

किन्तु एषः बुद्धिमान् बिडालः किकी आसीत् क्रीडाप्रियोऽपि। खेलं भृशमरोचयत सः किन्तु न सूत्रकन्दुकसदृशैः सामान्यपदार्थैः अपि तु सर्वदा चलपदार्थैः।

एकदासौ खेलति स्म बृहत्केन केनापि कालवृश्चिकेन ! एतद् दृष्ट्वा श्रीमाता तमुत्थाप्य सङ्कटात् न्यवारयत्।

तस्मिन् क्षणे रक्षितः सः किन्तु अचिरमेव तस्य क्रीडापरा प्रकृतिः पुनरपि प्राकटत्।

तदानीं श्रीमाता समीपे नासीत्। खेलन् किकी वृश्चिकेन दष्टः। दारुणा आसीत् तस्य स्थितिः, किन्तु सविशेषोऽयं बिडालः अजानात् निजकरणीयम्। धावन् मातरमुपगम्य तस्यै दष्टं पादमदर्शयत्, सर्वथा तत्स्थानं यत् दष्टमासीत्। पादस्तु तावत् शूनः एव आसीत्। किं कृतं मात्रा ?

"अहं स्वकीयं परमप्रियं लघुबिडालम् आदाय एकस्मिन् पटले स्थापयित्वा श्रीअरविन्दम् आह्वयम् तस्मै न्यवेदयं च—'किकी वृश्चिकेन दष्टः, रक्षणीयः सः।' बिडालः ग्रीवां वितत्य श्रीअरविन्दम् अपश्यत्, बिडालस्य नेत्रयोः ईषत् निष्प्राणता व्याप्ता आसीत्। श्रीअरविन्दः अपि तस्य सम्मुखे उपविश्य तमपश्यत्। परमस्माभिः दृष्टं यत् एषः लघुबिडालः शनैः शनैः जीवनं लभमानः प्रायः होरामितेन कालेन पादाभ्यां कूर्दमानः सर्वथा नीरोगः ततः अधावत्।"

किकी

बहुत पहले की बात है, माताजी का एक बहुत विशेष बिलौटा था। वह आश्रम में ही पैदा हुआ था और उसे किकी नाम दिया गया था। वह बहुत ही विलक्षण था।

उन दिनों कुछ लोग नियमित रूप से ध्यान के लिये माताजी के चारों ओर इकट्ठे हुआ करते थे, उस कमरे में एक आराम-कुरसी थी। औरों के आने से पहले किकी आकर उसपर जम जाया करता था। वह औरों के आने से पहले ही गहरे ध्यान में पहुंच जाता था। ध्यान का समय समाप्त होने पर लोग उठ-उठकर चले जाते थे लेकिन किकी गहरी समाधि में रहता था। वह अपनी बंद आंखों के नीचे क्या देखता था ? शायद चंद्र, नक्षत्र या पर्वत और सागर। शायद वह एक सुनहरे तालाब में चांदी की परियां देखा करता था !

माताजी को बड़ी कोमलता के साथ उसे गहरी समाधि में से जगाना पड़ता था। उसे कुछ खाद्य दिया जाता तो वह इंकार कर देता था, नहीं उसे जरूरत न थी। शायद वह अपने ध्यान में इतना रमा रहता था कि उसे भोजन की जरूरत ही न मालूम पड़ती थी। वह लौटकर अपनी कुरसी पर चला जाता और फिर ध्यान करने लगता था।

लेकिन यह बुद्धिमान् किकी विनोदी भी था। उसे खेलने में मजा आता था, रस्सी से बनी गेंद जैसी सामान्य चीजों से नहीं—वह किसी भी हिलने-डुलनेवाली चीज से खेलना पसंद करता था।

एक बार वह एक बहुत बड़े काले बिच्छू से खेल रहा था ! माताजीने उसे देख लिया और उठाकर हानि के मार्ग से दूर रख दिया, लेकिन वह फिर से वह-का-वही खिलाड़ी बन गया।

इस बार माताजी कहीं आस-पास नहीं थीं। किकी ने बिच्छू से खेलना शुरू किया और बिच्छू ने उसे अच्छी तरह डंक मार दिया। उसकी हालत खराब हो गयी लेकिन किकी सामान्य बिलौटा न था। वह जानता था कि क्या करना चाहिये। वह माताजी के पास आया और अपना पैर उन्हें दिखाया, ठीक वह जगह दिखायी जहां डंक लगा था। पैर काफी सूज गया था। तब माताजी ने क्या किया ?

"मैंने अपने छोटे-से बिलौटे को—जो बहुत ही सुंदर था—उठाकर मेज पर रख दिया और फिर श्रीअरविंद को बुलाया। मैंने उनसे कहा, 'किकी को बिच्छू ने डंक मारा है, इसे ठीक करना होगा।' बिलौटे ने अपनी गरदन लंबी की और श्रीअरविंद की ओर देखने लगा। उसकी आंखें निर्जीव-सी होने लगी थीं। श्रीअरविंद उसके सामने बैठे और उसे देखने लगे। फिर हमने इस प्यारे बिलौटे को धीरे-धीरे ठीक होते देखा। एक घंटे के अंदर-अंदर वह पूरी तरह स्वस्थ होकर धमा-चौकड़ी मचाने लगा।"

—वन्दना

पुस्तक-परिचय

राजपाल एंड सन्स, कश्मीरी गेट, दिल्ली—११०००६ के प्रकाशन

समांतर रेखाएं—विष्णु प्रभाकर हमारे जाने-माने लेखक हैं, कहानी, नाटक, उपन्यास, जीवन-चरित्र, सभी विद्याओं में उन्होंने कुछ-न-कुछ लिखा है और खूब लिखा है। इस पुस्तक में बहुत-से ऐसे लोगों का परिचय है जिन्होंने इतिहास में नाम नहीं पाया है फिर भी विष्णुजी की लेखनी ने उन्हें बहुत महत्त्वपूर्ण बना दिया है। उनकी लेखनी द्वारा चित्रित एक सज्जन का शब्द-चित्र देखिये। "कंधे पर गमछा डाले, कमीज, धोती और साफे से लैस, मानव रूप धारी जंतु . . . नयन अनुपात में हाथी के नयन के समान संकुचित और भावहीन, मुंह पतला पर उसीकी तरह दिल की बात बताने में असमर्थ, गरदन कुछ चील की तरह कोण बनाती हुई, टांगें बगुले की तरह लंबी, चाल ऊंट की तरह धीर-गंभीर, बिल्ली की भांति अतिशय विनम्र" . . . इसी तरह मनुष्यों का हो या दृश्यों का चित्रण करते और पाठक में उनके लिये रस पैदा करते चलते हैं विष्णुजी। एक को पढ़कर दूसरे को पढ़ने की इच्छा होती है। इस तरह के १६ लेख हैं इस पुस्तक में। दाम आजकल के हिसाब से कम ही यानी ३५ रुपये है।

बन्दिनी—ले० विष्णु प्रभाकर; दाम ३० रु.।

लीजिये विष्णु जी का एक नाटक जिसका अनेक मंचों पर मंचन हो चुका है। रवींद्रनाथ ठाकुर के 'देव' के आधार पर प्रभात कुमार मुखोपाध्याय ने लिखी 'देवी' और उसके आधार पर विष्णु जी ने तैयार कर दिया यह नाटक। तीन-तीन प्रतिभाओं का मेल है इसमें! आज भी ऐसा माननेवालों की कमी नहीं है कि इस पर माता आयी है, उस पर देवी आयी है, इससे यह लाभ हुआ है, उससे यह हानि हुई है। आप इन घटनाओं को मानें या न मानें उनमें एक रोचकता अवश्य होती है।

अज्ञेय—ले० प्रभाकर माचवे; ३० रुपये।

अज्ञेय का सारा जीवन एक अजूबा था। उन्होंने कितने रंगरूप बदले इसका हिसाब लगाना कठिन है। उनके पिता पुरातत्त्व-वेत्ता थे और इसका कुछ अंश अपने बेटे को देते गये। इनके जीवन का आरंभ हुआ क्रांति से और अपने समय के क्रांतिकारियों में उनका ऊंचा स्थान था। आर्य समाजी होने के नाते शुद्ध हिंदी और संस्कृत पर उनका अच्छा अधिकार था, गुजराती, बंगला, फ्रेंच और जर्मन में अच्छा प्रवेश था। साइकिल, मोपेड, कार, जीप, ट्रक के अतिरिक्त घोड़ा, हाथी, ऊंट की सवारी के भी शौकीन थे। अज्ञेय बड़े अच्छे कवि थे, वात्स्यायन अच्छे आलोचक, वे अलग-अलग विषयों पर अलग-अलग नामों से लिखा करते थे।

अज्ञेय बड़े अच्छे संपादक भी थे; उन्होंने बहुत-सी पत्रिकाओं और पुस्तकों का सफल संपादन किया। नेहरु अभिनंदन ग्रंथ का इसमें विशेष स्थान है।

इस पुस्तक की सहायता से अज्ञेय हमारे लिये कुछ-कुछ ज्ञेय हो जाते हैं; माचवेजी की यह अच्छी सफलता है।

एक और अहल्या—ले० भगवती शरण मिश्र; मूल्य ६० रुपये।

इस पुस्तक के लेखक ने बहुत सारी पुस्तकें लिखी हैं और भारत के वर्तमान समाज का अच्छा चित्रण किया है, परंतु हम उनके बारे में और कुछ न कहकर उनकी कुछ पंक्तियां उद्धृत करके ही संतोष कर लेंगे, "यद्यपि जिस अंधी गली में वे राह ढूंढ़ने को विवश थे वह दहेज की उस खाई तक पहुंचती है जहां से कोई माता-पिता भले वापिस आ जाये पर लड़की अगर वापिस आ भी जाती है तो लाश बनकर, झुलसी चमड़ियों और जले-अध-जले मांस पिंड का एक ढेर बनकर ही।"

अक्तूबर १९९० से सितंबर १९९१ तक के

मुख्य लेखों की सूची

एक शिष्य का पत्र-व्यवहार, दीप-से-दीप जले (८-९१); श्रीअरविंद के साथ बातचीत, मृत्यु अनिवार्य नहीं है (अनुबेन), माताजी और श्रीअरविंद के साथ एक युवा साधक का पत्र-व्यवहार (९-९१)।

कहानियां—सूअरों से मुठभेड़, जीवट, गिलहरी की दास्तान (११-९०)।

'नयी कोंपलें'—अभावों को . . . (कविता) (आनंद अग्र०), कृपा (दिनेश चेनानी) (१०-९०)।

'गैर्वाणी'—आह्वानम् (१०-९०); कश्चित् विचारः (११-९०); कृपादृष्टिः (१२-९०); को भाग्यशाली (१-९१); शेखसादी (२-९१); श्रमस्य सौरभम् (३-९१); निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् (४-९१); उद्यानरक्षा (५-९१); बिडाल्यः (६-९१); खेलप्रियाः बिडालशावाः (७-९१); सम्भ्रान्तमहिला (८-९१); किकी (९-९१)।

दैनन्दिनी तथा 'प्रार्थना और ध्यान' हर महीने गये।

You have no right to dispense with morality unless you submit yourself to a law that is higher and much more rigorous than any moral law.

THE MOTHER
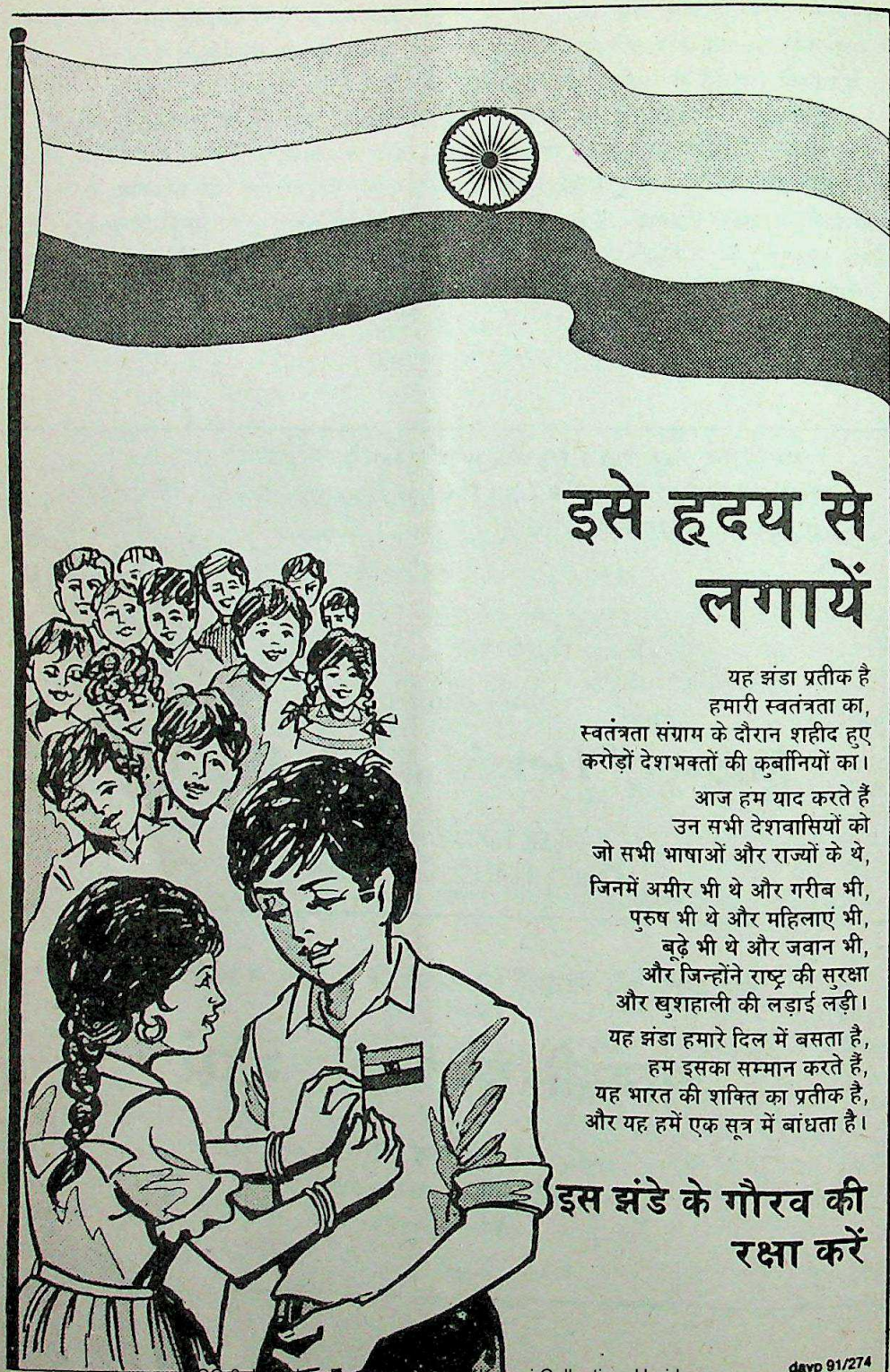
इसे हृदय से लगायें
यह झंडा प्रतीक है
हमारी स्वतंत्रता का,
स्वतंत्रता संग्राम के दौरान शहीद हुए
करोड़ों देशभक्तों की कुर्बानियों का।
आज हम याद करते हैं
उन सभी देशवासियों को
जो सभी भाषाओं और राज्यों के थे,
जिनमें अमीर भी थे और गरीब भी,
पुरुष भी थे और महिलाएं भी,
बूढ़े भी थे और जवान भी,
और जिन्होंने राष्ट्र की सुरक्षा
और खुशहाली की लड़ाई लड़ी।
यह झंडा हमारे दिल में बसता है,
हम इसका सम्मान करते हैं,
यह भारत की शक्ति का प्रतीक है,
और यह हमें एक सूत्र में बांधता है।
इस झंडे के गौरव की रक्षा करें
davp 91/274

जब हम अपना दृष्टिकोण आध्यात्मिक रखें और समय के साथ खिलते चलें तब हम यह जान लेते हैं कि हमारे साथ जो कुछ होता है वह सदा हमारे भले के लिये होता है।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.
THE MOTHER

प्रार्थना और ध्यान

१५ अगस्त १९१३

इस ढलते झुटपुटे में तेरी शांति अधिक गहरी और अधिक मधुर हो जाती है, मेरी सत्ता को जो नीरवता भरती है उसमें तेरी आवाज ज्यादा स्पष्ट और प्रत्यक्ष हो उठती है।

हे दिव्य स्वामी, हमारा जीवन, हमारे विचार, हमारा प्रेम, हमारी सत्ता तेरे लिये ही हैं। अपनी निजी चीज पर फिर से अधिकार कर ले क्योंकि तू ही हमारी सच्ची सत्ता में हमारा स्व है।

—श्रीमां
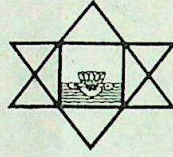
विज्ञान और अज्ञेय

मनुष्य का विज्ञान अपने नीरस और संक्षिप्त सारांशों का करता निर्माण
और जीवन्त समग्र को सूत्रों में कर देता है खंडित।
यह है एक हाथ, एक मस्तिष्क अन्तरात्मारहित,
एक आंख जो बाहर से उत्कीर्णित भित्तिचित्र का करती है परीक्षण,

गहराइयों के प्रति अंध, रहस्यमय उद्गम अप्रकट।
अदृश्य के भीतर प्रच्छन्न है दृश्य का आधार;
और अदृश्य है प्रहरी, इसके प्रतीकों में अभिव्यक्त
सत्य का, अदृश्य की और भी गहरी अज्ञेयता के भीतर।

वह नहीं है उन पदार्थों का रूप जिन्हें हम करते हैं प्रमाणित।
आकार के रूप में हर एक है शक्तियों का समवाय अवगुंठित
जिसके किनारों को तो हम पकड़ लेते हैं पर अन्तर्रेखाएं छूटकर
खो जातीं मन के प्रतिमान से परे अथाह चैतन्य के भीतर।

मन की अन्वीक्षक दृष्टि पाती है केवल अतल
अंतहीन, पंथहीन, अवाक्, अज्ञेय, निश्चल।

अनु० —अमृता भारती

—श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

नवंबर

१. प्रेम के दिव्य स्वामी, शाश्वत गुरु, तू हमारे जीवनों को राह दिखाता है। केवल तेरे लिये और तेरे अंदर हम रहना चाहते हैं; हमारी चेतना को प्रदीप्त कर, हमारे चरणों को मार्ग दिखा और वर दे कि हम जो कुछ कर सकते हैं उसे अधिक-से-अधिक कर सकें, अपनी समस्त ऊर्जाओं का उपयोग एकमात्र तेरी सेवा के लिये करें।

२. मेरे अंदर जो कुछ सचेतन है वह अबाध रूप से तेरा है और मैं थोड़ा-थोड़ा करके और हमेशा ज्यादा अच्छी तरह से, अभी तक अंधेरी आधारशिला, अवचेतना को जीतने की कोशिश करूंगी।

३. ऐसी कोई तुच्छ वस्तु नहीं है जिसमें मैं तुझे चमकते न देखती होऊं, तेरी इच्छा के प्रति ऐसी कोई आभासी विरोधी सत्ता नहीं है जिसमें मैं तुझे निवास करते, कार्य करते और प्रसारित होते हुए न देखती होऊं।

४. हे मेरे मधुर स्वामी, शाश्वत दीप्ति, मैं तेरे साथ केवल नीरवता और शांति में ही यह कहते हुए युक्त हो सकती हूं कि प्रत्येक ब्योरे में और समग्र में तेरी इच्छा पूरी हो। अपने राज्य पर अधिकार कर ले, तेरे विरुद्ध जो भी विद्रोह करे उसका दमन कर दे, उन आत्माओं का उपचार कर जो तुझे नहीं जानतीं और उन बुद्धियों को स्वस्थ कर दे जो तेरे आगे झुकना और तुझे समर्पण नहीं करना चाहतीं। हमारी सुस्त ऊर्जाओं को जगा, हमारे साहस को उत्तेजित कर, हे प्रभो, हमें प्रबुद्ध कर और मार्ग दिखा।

५. प्रेम की एक विशाल तरंग सभी चीजों पर उतरती है और सभी चीजों में प्रवेश करती है।

६. हे प्रकाश, प्रेम, अकथनीय शक्ति, सभी अणु तुझे पुकार रहे हैं कि तू उनमें प्रवेश करे और उन्हें रूपांतरित कर दे . . .।
सभी को सायुज्य का परम आनंद प्रदान कर।

७. हे मधुर स्वामी, परम रूपांतरकारी, सभी अवहेलनाओं का अंत कर, समस्त आलस्य-भरी निष्क्रियता का अंत कर, हमारी सभी ऊर्जाओं को एक साथ इकट्ठा कर, उन्हें एक अदम्य, अप्रतिरोध्य इच्छा बना दे।

८. "ऐसी कृपा कर कि जो लोग दुःखी हैं वे सब सुखी हो जायें, कृपा कर कि दुष्ट अच्छे बन जायें और रोगी स्वस्थ हो जायें।" . . . आनंद से आनंद की ओर, सौंदर्य से सौंदर्य की ओर बढ़ना, क्या यह हमेशा दुःख सहन करने और अनिच्छा के साथ अज्ञानमय संघर्ष में से गुजरने की अपेक्षा ज्यादा स्वाभाविक और फलप्रद नहीं है ? अगर तू हृदय को अपने दिव्य स्पर्श से खुलकर खिलने दे तो यह रूपांतर सरल है और अपने-आप आ जाता है।
हे प्रभो, क्या तू अपनी दया की प्रतिज्ञा-स्वरूप यह वरदान न देगा ? . . .

९. समस्त अभिव्यक्त विश्व तेरे वैभव का बखान करने और तेरे अद्भुत चमत्कारों की बात कहने के लिये पर्याप्त नहीं है, और काल की अनंतता में वह अधिकाधिक और अधिक-से-अधिक अच्छे रूप में, सनातन रूप से यही करने की कोशिश कर रहा है।

१०. हे प्रभो, मेरी भुजाएं अनुनय-विनय में तेरी ओर फैली हुई हैं, मेरा हृदय पूरी तरह तेरी ओर खुला हुआ है ताकि तू उसे अपने अनंत प्रेम का जलाशय बना सके।
"सभी चीजों में, सब जगह और सभी सत्ताओं में मुझसे प्रेम कर" यह था तेरा उत्तर। मैं तेरे आगे साष्टांग प्रणत होकर तुझसे याचना करती हूं कि मुझे वह शक्ति प्रदान कर।

११. हे मेरे मधुर स्वामी, मुझे अपने प्रेम का यंत्र बनना सिखा।

१२. तू उर्वर बनानेवाली वृष्टि के रूप में एक-एक बूंद करके अपने सर्वशक्तिमान् प्रेम की जीवंत और मुक्त करनेवाली ज्वाला बरसने देता है। जब शाश्वत ज्योति की ये बूंदें कोमलता के साथ अंधेरे अज्ञान के हमारे इस जगत् पर बरसती हैं तो हम कह सकते हैं कि निराशाजनक अंधेरे आकाश से धरती पर एक-एक सुनहरे तारों की वर्षा हो रही है।
इस चिरनवीन चमत्कार के आगे सब मूक भक्ति में घुटने टेके हुए हैं।

१३. वर दे कि सभी तुझे जान सकें, तेरे साथ प्रेम कर सकें, तेरी सेवा कर सकें, सभी परम उत्सर्ग पा सकें!

१४. हे प्रेम, दिव्य प्रेम, सारे जगत् में फैल जा, जीवन को पुनरुज्जीवित कर, बुद्धि को प्रदीप्त कर, अहंकार की बाधाओं को तोड़ डाल, अज्ञान की बाधाओं को छितरा दे, पृथ्वी के राजाधिराज की तरह देदीप्यमान होकर चमक।

१५. हे प्रभो, प्रभो, वर दे कि तेरी परम शक्ति अभिव्यक्त हो; वर दे कि तेरा कार्य चरितार्थ हो और तेरा सेवक पूरी तरह से तेरी सेवा के लिये ही समर्पित हो।
वर दे कि 'अहं' हमेशा के लिये गायब हो जाये, रह जाये केवल एक यंत्र।

१६. प्रभो, बड़ी नम्रता के साथ मैं तुझसे प्रार्थना करती हूं कि मैं अपने कार्य के उपयुक्त बनूं, मेरे अंदर कोई भी चीज, सचेतन या अचेतन रूप से, तेरे पवित्र लक्ष्य की सेवा की उपेक्षा करके तुझे धोखा न दे।

१७. मौन भक्ति में मैं तुझे नमन करती हूं . . .।

१८. प्रभो, हम तेरे सामने उपस्थित हैं ताकि तेरी इच्छा पूरी हो। हमारे विचार में से सभी विघ्न-बाधाओं, संदेहों, सभी दुर्बलताओं, सीमाओं को और उन सबको दूर कर जो हमारे ज्ञान पर पर्दा डालती हैं और हमारी समझ को धुंधला करती हैं।

१९. हे प्रभो, मुझे पूर्ण निःस्वार्थता की शांति प्रदान कर, ऐसी शांति जो तेरी उपस्थिति को प्रभावकारी बनाये, तेरे हस्तक्षेप को प्रभावकारी बनाये, ऐसी शांति दे जो समस्त दुर्भावना और समस्त अंधकार पर सदा विजेता होती है।

२०. तेरे परम प्रकाश की दीप्ति उस समस्त अंधकार में से फूट पड़े जो समस्त पृथ्वी पर छा गया है।

२१. प्रभो . . . अपनी दया की बलवान् भुजाओं में इस दुःखी धरती को लपेट ले, अपने अनंत प्रेम के हितकर उद्‌गार से उसमें प्रवेश कर।

२२. हे प्रभो, धरती कराहती और कष्ट सहती है; अस्त-व्यस्तता ने पृथ्वी को अपना घर बना लिया है। अंधेरा इतना घना है कि केवल तू ही उसे भगा सकता है। आ, अपने-आपको अभिव्यक्त कर ताकि तेरा काम पूरा हो सके।

२३. सभी चीजों में तू ही विशुद्ध सुख है, धन्य सुख-शांति है . . . लेकिन सुख-शांति तभी पूरी होती है जब वह संपूर्ण हो—अत्यंत बाहरी अभिव्यक्तियों से लेकर अधिक-से-अधिक अथाह गहराइयों तक में।

२४. हे दिव्य जननी, बाधाओं को जीत लिया जायेगा, शत्रुओं को शांत कर दिया जायेगा; तू अपने परम प्रेम के साथ सारी पृथ्वी पर छा जायेगी और प्रत्येक चेतना तेरी प्रशांति से आलोकित हो उठेगी। यह तेरी प्रतिश्रुति है।

२५. हमारी तीव्र कृतज्ञता और हमारे संपूर्ण समर्पण की भेंट स्वीकार कर।

२६. हे प्रभो, तूने मुझे शक्ति में शांति प्रदान की है। कर्म में प्रशांति, सभी परिस्थितियों के हृदय में अविकारी सुख प्रदान किया है।
२७. हे प्रभो, तेरे प्रकाश की पूर्णता के लिये हम तेरा आह्वान करते हैं। हमारे अंदर वह शक्ति जगा जो तुझे प्रकट करे।
२८. . . . मेरा हृदय शांत है, मेरा विचार अधीरता से मुक्त है और मैं अपने-आपको बच्चे के मुस्कुराते हुए विश्वास के साथ तेरी इच्छा के सुपुर्द करती हूं।
वर दे कि सभी पर तेरी शांति का राज्य हो . . .।
२९. प्रभो, हे प्रभो, सारी धरती पर उथल-पुथल है; वह कराहती और दुःख पाती है, वह संताप में है . . . यह समस्त दुःख जो उस पर उतर आया है व्यर्थ नहीं होना चाहिये; वर दे कि यह सारा रक्तपात सौंदर्य, प्रकाश और प्रेम के बीजों का अधिक तेज अंकुरण हो, ये खिलकर सारी पृथ्वी को अपनी भरपूर फसल से ढक दें। अंधकार के इस रसातल की गहराइयों से पृथ्वी की समस्त सत्ता तुझे पुकारती है कि तू उसे वायु और प्रकाश दे; उसका दम घुट रहा है, क्या तू उसकी सहायता के लिये न आयेगा ?
३०. हमारी प्रार्थना पर कान दे; हमारी पुकार का उत्तर दे : आ, हे प्रभो !

('प्रार्थना और ध्यान' से संकलित)

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित :

विभिन्न धार्मिक प्रवृत्तियां

वर्तमान अव्यवस्था कब समाप्त होगी और आज के ये प्रयास, ये प्रवृत्तियां किस नये सृजन के पूर्व चरण हैं इसका पूरा-पूरा खाका खींचना तो अभी असंभव-सा जान पड़ता है क्योंकि घटनाएं कब कौन-सी दिशा ले लेंगी यह पूरे विश्वास के साथ अभी नहीं कहा जा सकता क्योंकि अभी तो साज को सुर में मिलाया जा रहा है, वह कौन-सी मधुर धुन बजायेगा इसका अनुमान यंत्र को सुर में बिठाने के समय कदापि नहीं लगाया जा सकता। हां, हम इधर-उधर मोटे अनुमान, अटकलें लगा सकते हैं, लेकिन वे भी होंगे प्रथम संकेत ही और हमें यह भली-भांति ज्ञात होना चाहिये कि ये अनुमान केवल परिकल्पनाएं हैं, भविष्य अपने गर्भ में क्या-क्या छिपाये हुए है इसका अनुमान हमारी बुद्धि नहीं लगा सकती। यह बात सभी क्षेत्रों में सच है, चाहे वह धर्म हो, आध्यात्मिकता हो, चिन्तन-मनन का क्षेत्र हो, विज्ञान का हो या काव्य, कला, समाज अथवा राजनीति का। हर जगह अभी जो परिवर्तन आ रहे हैं वे संक्रमण-काल के प्रथम आरंभों का आरंभ हैं।

लेकिन हर हालत में एक चीज निश्चित मालूम होती है और वह है भारत के अतीत की तरह उसके भविष्य में भी आध्यात्मिक प्रेरक ही उसका मौलिक तथा प्रधान राग होगा। लेकिन आध्यात्मिकता से हमारा मतलब किसी दूरस्थ पराभौतिक मानसिकता से या फिर क्रिया करने के स्थान पर मात्र स्वप्न लेने से कतई नहीं है। प्राचीन भारत अपनी ऊर्जस्विता के भव्य काल में कभी केवल स्वप्नसेवी नहीं रहा—भले भारतीय संस्कृति के कुछ आलोचकों या भाष्यकारों का यह मत रहा हो—और न ही भावी भारत कल्पना के घोड़े पर सवार केवल गगनचारी रहेगा। निस्सन्देह पराभौतिक चिन्तन उसकी मानसिकता का प्रबल तत्त्व रहेगा और यह आशा की जाती है कि उस दिशा में वह अपनी महान्, प्रभुतासंपन्न शक्तियों को कभी न गंवायेगा, लेकिन हमें यह न भूलना चाहिये कि भारतीय तत्त्वमीमांसा वह नहीं है जो कभी फ्रेंच या जर्मन विचारकों

की रही है—विचारों की तकली कातना या फिर यूरोप में एक समय जैसी रही है, भौतिक विज्ञान को दर्शन का नाम देकर उसे तत्त्वमीमांसा की संज्ञा दे देना। भारतीय पराभौतिकता अपने तात्त्विक अंशों में हमेशा आध्यात्मिक उपलब्धि की ओर बौद्धिक उपगमन रहा है। यद्यपि बाद के काल में वह जीवन से बहुत हट गयी लेकिन वह उसका मौलिक स्वभाव बिलकुल न था चाहे वह वैदान्तिक काल में हो या फिर उसके बाद के विकास-कालों में—उदाहरणार्थ गीता के काल में—यह काल भारत की बौद्धिक मौलिकता तथा सर्जन का श्रेष्ठतम काल था। स्वयं बौद्ध-धर्म—ऐसा दर्शन जिसने पहले जीवन की सारता पर बहुत संदेह किया, देखा जाये तो यह केवल उस धर्म की बौद्धिक प्रवृत्ति रही, अपने सक्रिय भागों में, अपनी नैतिक पद्धति तथा आध्यात्मिक प्रक्रिया में उसने जीवन के नये मानदंड प्रदान किये और वे ऊर्जा से भरपूर थे, साथ-साथ उनमें मानव जीवन के लिये एक ऐसा आदर्श भी था जिसमें क्रिया को तिलांजलि नहीं दे दी गयी थी, इसी कारण कला के साथ-साथ राजनीति तथा जीवन में भी वह काल सर्जनात्मक रहा। आत्मा के भाव के साथ घनिष्ठ रूप से एक होकर उससे अपने जीवन को गढ़ने का प्रयास करना हमेशा से भारतीय मानस की सहजप्रवृत्ति रही है और इसके लिये उसे हमेशा अपने स्रोत अर्थात् स्वस्थ विकास, महानता तथा ऊर्जस्विता के कालों तक उठना होता है।

भारत में जीवन के समस्त महान् क्रिया-कलाप किसी नये आध्यात्मिक विचार तथा सामान्यतः किसी नयी धार्मिक क्रिया द्वारा शुरू हुए। इससे अधिक आश्चर्यजनक तथा सांकेतिक तथ्य और क्या हो सकता है कि नवीन यूरोपीय प्रभाव भी, जो बौद्धिक, तर्कसंगत, बहुधा धर्म-विमुख प्रभाव था और जिसने अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दियों के निरन्तर बढ़ते हुए सार्वभौमिक, सांसारिक तथा धर्मनिरपेक्षवादी विचार के सामने भारत को अपने आदर्शवाद से इतना परे हटा दिया, भारत में सर्वप्रथम धर्मसुधार के प्रयास के रूप में घुसा और इसने कितने नये धर्मों को जन्म दिया। भारत की तो सदा से यही वृत्ति रही है कि अगर किन्हीं नये विचारों को या समाज में परिवर्तन को लाना हो तो उसका आधार आध्यात्मिक ही होना चाहिये और उसे आरंभ से धार्मिक हेतु तथा रूप अपनाना चाहिये। उदाहरण के लिये ब्रह्म समाज के मूल में एक सार्वभौमिक विचार था, वह तो हर दिशा से लेने को उत्सुक था, उसने पहली प्रेरणा पायी वेदान्त से, वह बाहरी रूप में तथा कुछ अपने स्वभाव में भी अंग्रेज ऐक्यवाद से सादृश्य रखता था, उसका कुछ पुट ईसाइयत का भी था और साथ-साथ थी धार्मिक तर्कसंगति तथा बौद्धिकता की तीव्र मात्रा। सच कहा जाये तो इसका आरंभ हुआ वेदान्त के कथन को पुनः प्रसारित करने के प्रयास से, लेकिन अंत हुआ ज्ञान, भक्ति तथा कर्म की तीन धाराओं में। उधर पंजाब में आर्य समाज ने वेदों के सत्य को नयी व्याख्याओं में उतार कर जीवन के प्राचीन वैदिक सिद्धांतों को आधुनिक अवस्थाओं में प्रयुक्त करने का प्रयास किया। रामकृष्ण तथा विवेकानन्द जैसे महान् लोगों ने प्राचीन धार्मिक प्रेरकों तथा आध्यात्मिक अनुभूतियों तथा प्राचीन वैराग्य तथा मठवाद के आदर्शों को पुनः स्थापित किया लेकिन उसमें नये सुर भी जोड़े, साथ ही लोकोपकारवाद तथा धर्मप्रचारकता भी उस समय अपने उत्कर्ष पर थे। और फिर कट्टर हिन्दुत्व के पुनर्जागरण का दौर भी आया। इन महान् विभिन्न धार्मिक गतिविधियों का प्रभाव न्यूनाधिक रूप में सारे भारत पर अपने-अपने तरीके से हुआ। बंगाल के धार्मिक मानस में वैष्णव प्रवृत्ति घर कर गयी अर्थात् इधर-उधर फिर से सुलगती हुई इन धार्मिक मशालों ने भारत की प्राचीन आध्यात्मिकता तथा धार्मिकता को नये-नये रूपों में प्रज्ज्वलित कर दिया। लेकिन क्या इन्हीं मशालों के प्रकाश में भारत अपना भावी मार्ग खोजेगा या ये मील के पत्थर हैं इसकी चर्चा हम अगले लेख में करेंगे।

—वन्दना

पत्राचार

इस शताब्दी के दूसरे दशक के अंत और तीसरे के प्रारम्भिक वर्षों को पत्राचार का काल कहा जा सकता है। माताजी के कमरे की ओर ले जानेवाली सीढ़ियों के ऊपर एक किश्ती रखी रहती थी और जो भी माताजी या श्रीअरविंद को पत्र भेजना चाहता था वह अपना पत्र उस किश्ती में रख देता था। लोग अपनी दैनिक समस्याओं और काम के बारे में प्रश्न, योग-संबंधी पूछताछ के लिये चिट्ठियां लिखकर उस किश्ती में रख देते थे। कुछ लोग चिट्ठियों की जगह कापियों में लिखते थे। चम्पकलाल इस किश्ती को उठाकर श्रीअरविंद के कमरे में ले जाते थे। माताजी और श्रीअरविंद इस सारे पत्र-व्यवहार को पढ़ते और उसका उत्तर देते थे। उत्तर अधिकतर श्रीअरविंद ही लिखा करते थे। माताजी पत्र को लिफाफे में रखकर उस पर पानेवाले का नाम लिख दिया करती थीं और सवेरे नलिनीकान्त गुप्त या उन दिनों की भाषा में 'भागवत डाकिये' ये पत्र बांटने के लिये निकल पड़ते थे।

उन दिनों श्रीअरविंद को कितना पत्र-व्यवहार करना होता था इसका अन्दाज उनकी एक दिन की दिनचर्या से लग सकता है :

शाम के ४ से ६.३० तक दोपहर का पत्र-व्यवहार और समाचार-पत्र
७ से ९ तक शाम की चिट्ठियां
९ से १० तक ध्यान
१० से आधी रात तक पत्र-व्यवहार
१२ से २.३० तक स्नान, भोजन, विश्राम
२.३० से ५ या ६ तक पत्र-व्यवहार

उन दिनों न तो डिक्टाफोन थे न स्टेनोटाइपिस्ट। सब कुछ हाथ से लिखा जाता था और वह भी शिष्य की कापी में, उसकी चिट्ठी पर या इधर-उधर कागज के टुकड़ों पर। इस तरह शाम और रात के लगभग आठ-दस घंटे पत्र-व्यवहार में लग जाते थे। कुछ पत्र बाहर से, देश-विदेश से भी आते थे।

प्रश्न उठता है कि श्रीअरविंद और माताजी इतना कष्ट किसलिये उठाया करते होंगे। बाहर के बहुत-से लोग तो केवल परीक्षा उत्तीर्ण करने के लिये, शादी-ब्याह के लिये, धन या सन्तान के लिये ही प्रार्थना किया करते होंगे। उनके लिये इतना कष्ट उठाने की क्या जरूरत थी ? कहीं पर श्रीअरविंद ने इसका उत्तर भी दिया है। उनका कहना है कि साधारण आदमी आर्त या अर्थार्थी के रूप में ही भगवान् के पास आता है। अगर उसकी कामना पूरी हो जाये तो वह भगवान् की ओर ज्यादा आकर्षित होता है और इस तरह धीरे-धीरे भगवान् के साथ उसका संपर्क बढ़ता जाता है और वह उनका निःस्वार्थ आह्वान करना भी सीख जाता है, वह भगवान् को भगवान् के लिये चाहने लगता है और वह धीरे-धीरे भगवान् के साथ एक होना सीखने लगता है। यदि शुरू में ही उसे भगवान् से अवहेलना मिलती तो उसका भविष्य कभी न बन पाता।

स्वयं श्रीअरविंद कहते हैं कि यह एक ऐसा तथ्य है जिसे सैंकड़ों, हजारों उदाहरणों द्वारा पुष्ट किया जा सकता है कि बहुत-से लोगों के लिये अपनी कठिनाइयों को ठीक-ठीक रूप से हमें लिख देना ही सबसे बड़ा बल्कि कई बार तात्कालिक उपचार होता है। यह तरकीब सबसे अधिक सफल तब होती है जब पत्र लिखनेवाला अपनी बात को यथार्थ और निष्पक्ष रूप से साक्षी बनकर लिख सके, लेकिन अगर लिखते समय लेखनी प्राण के वश में आ जाये, उसके विद्रोह, संदेह, अवसाद, निराशा आदि के वश में हो जाये

और उनका समर्थन करने लगे तो बात और ही हो सकती है। कभी यह रेचन का कार्य करता है जिससे अंदर सफाई हो जाती है और किसी-किसी में यह कमजोरी आवर्तक दशमलव की तरह वापिस भी जाती है। पत्र-लेखक को सच्चा लाभ तभी हो सकता है जब साधक गुरु के प्रति पूरी तरह खुला हो। माताजी और श्रीअरविंद के पत्रों ने अनगिनत लोगों को उनके तमस् में से जगाया है, कइयों के अंदर आध्यात्मिक अनुभूतियों की बाढ़ आ गयी है और वे घोर अंधकार में से निकल कर प्रकाश में आ सके हैं। जिन लोगों ने पत्र लिखकर प्रकाश या दिलासे की आशा की थी उनमें से अधिकतर ने लाभ पाया है और आज भी पा रहे हैं। बहुतों के जीवन में इन पत्रों ने ध्रुवीय ज्योति का काम किया है और करते जा रहे हैं।

—आयंगार कृत 'ऑन द मदर' पुस्तक के आधार पर

मोना के साथ माताजी की बातचीत

एक सलाह

अगर कभी तुम्हें कोई प्राणिक आवेश पकड़ ले, चाहे वह क्रोध हो या काम-वासना, घमंड या और किसी प्रकार की तुच्छता या नीचता या और किसी प्रकार की गतिविधि तो तुम्हें एकदम उग्रता के साथ प्रतिक्रिया करनी चाहिये और जोर से कह देना चाहिये, "भाग जाओ। ऐसी गन्दी चीजें माताजी के बालक के अंदर नहीं आ सकतीं।" वह फिर भी बनी रहे तो तुम्हें उस पर प्रहार करना चाहिये, वास्तविक शारीरिक प्रहार (संकेत) हवा में तब तक प्रहार किये जाओ जब तक यह गतिविधि गायब न हो जाये।

या फिर तुम मुझे बुलाओ, "मां आओ, मेरी सहायता करो और मेरे अंदर शांति उतारो।" और तब तुम तुरंत इन प्राणिक गतिविधियों से मुक्त हो जाओगे।

मस्तिष्क और हृदय

मैं तुम्हें एक रहस्य बतलाती हूं। तुम इसका अनुसरण करो तो तुम्हें जीवन में बहुत मदद मिलेगी। हमेशा अपने मन के अनुसार नहीं हृदय के अनुसार कार्य करो। तुम देखोगे कि हर चीज किसी और रूप में दिखायी देती है। अगर तुम इसे व्यवहार में ला सको तो यह एक अच्छा पाठ है। यह मनोवृत्ति तुम्हें जीवन में बहुत कुछ सिखायेगी, बहुत पुरस्कार देगी, क्या समझे ?

हां माताजी, लेकिन कभी-कभी मैं दोनों में फर्क नहीं कर पाता।

क्या ? तुम हृदय और मन में भेद नहीं कर पाते : तुम यहां इतने वर्षों से रहते हो। तुम्हें विद्यालय में क्या सिखाया जाता है ? ये चीजें नहीं ?

पर माताजी, ये चीजें तो हमें अपने-आप सीखनी पड़ती हैं।

तब तुम्हें प्रयास करना चाहिये था। मैं भली-भांति समझ सकती हूं, पश्चिम में या यूरोप में बच्चे को जो

पहली चीज सिखायी जाती है वह है बाहरी जीवन। उससे कहा जाता है कि उसके इर्द-गिर्द जो कुछ है वही उसका जीवन है। उसे सभी हितों से लाभ उठाना चाहिये और उनके चारों ओर जो कुछ है उसका रस लेना चाहिये। लेकिन यहां एकदम विपरीत है। तुमसे कहा जाता है कि एकमात्र चीज जिसका अस्तित्व है वह तुम्हारे अंदर है, तुम्हारे जीवन का यही एकमात्र लक्ष्य है—भगवान् को पाना।

शिथिल होना (सुस्ताना) सीखना

तुम्हें सुस्ताना सीखना चाहिये, तब तुम थक नहीं सकते, दिनभर काम करने के बाद, तुम्हें सुस्ताना चाहिये, कुछ भी सोचे बिना शाश्वत में प्रवेश करो। तब तुम सब प्रकार की थकान से स्वास्थ्य लाभ कर सकते हो। लेकिन तुम्हें सुस्ताना जानना चाहिये, (माताजी ऐसा संकेत करती हैं मानों वे हाथ फैलाये हुए लेटी हैं और ऊपर देख रही हैं) और प्रभु से कहो, "मैं तेरा हूं" और तुम हिले-डुले बिना, चुपचाप रहो। तब तुम परिणाम देखोगे। तुम्हें कभी थकान का अनुभव न होगा।

पथ-प्रदर्शन पाना

. . . यह न मान लो कि मैं तुम्हारे लिये सब कुछ कर दूंगी।

लेकिन माताजी मैं इसी के लिये तो अभीप्सा कर रहा हूं कि आप पूरी तरह मुझे अपना लें और मेरे द्वारा काम करें।

आह ! यह और बात है। एक बार तुम अपना पूरा प्रयास कर लो और अपने-आपको मेरे प्रति खोल सको तो मैं तुम्हारे लिये सब कुछ कर दूंगी, व्यक्तिगत रूप से तुम्हारे लिये नहीं बल्कि 'उनके' लिये जो तुम्हारे अंदर हैं (हृदय की ओर संकेत) और तब वही चीज होगी जो वे करेंगे परंतु तुम्हारे द्वारा मैं काम करूंगी।

१९६६

तुमने यह देखा है ?

नहीं माताजी।
(माताजी मुझे एक कार्ड देती हैं जिस पर यह संदेश लिखा है)

नाटकीय उषा
सारी खलबली के बावजूद सत्य की विजय होगी।

यह १९६६ के वर्ष का आरंभ है। 'नाटकीय उषा' की तरह यह अचानक होगा, इसकी अभिव्यक्ति निश्चित है। यह इतनी अचानक और इतनी जल्दी प्रतिष्ठित होगा—जैसे कि तुम कार्ड पर देख सकते हो। कोई भी उसे देख न पायेगा या बहुत कम लोग ही देख सकेंगे। अभी क्षणभर पहले सारा अंधकार था और अचानक ऐसा हो जायेगा (कार्ड दिखाते हुए) एकदम प्रकाशमान।

और तब तुम यह देखते हो—सत्य—वह 'नाटकीय उषा' के बाद प्रतिष्ठित होगा, शायद वर्ष के अंत में या उससे जरा पहले, परंतु निःसंदेह इसी वर्ष। चाहे जितनी कठिनाइयां हों, उथल-पुथल हो, सत्य का राज्य स्थापित हो जायेगा। इस वर्ष सत्य प्रतिष्ठित होगा।

एकाग्रता

(माताजी मुझे चेतना का फूल और नवजन्म (मरुआ) के फूलों का गुच्छा देती हैं)

यह लो चेतना और नवजन्म।

बुद्धि को विकसित करने, हमारे अंदर की जन्मजात क्षमताओं को विकसित करने के लिये एकाग्रता।

एकाग्र होने का अर्थ है अपने-आपको पाना, यह खोज है, अनुसरण करने के लिये साधन है। यह किसी भी चीज को पाने के लिये सबसे छोटा मार्ग है। तुम्हें बस बहुत भीतर गहराई में एकाग्र होना होगा और तुम उस चीज को पा लोगे। शब्द, विचार, अनुभूति, तुम जिस चीज को पाना चाहते हो, चेतना के स्तर, सब कुछ को पा लोगे। और अध्यवसाय के साथ, सतत प्रयास के साथ अपनी आत्मा और अपनी अंतरात्मा को भी तुम पा सकते हो। अंतरात्मा को पाने के लिये एकाग्र होना होगा। एकाग्रता की सहायता से तुम सब कुछ प्राप्त कर सकते हो।

लेकिन तुम्हें एकाग्र होना जानना चाहिये और हर स्तर पर चेतना का स्तर अलग होता है। कैसे एकाग्र हुआ जाये यह जानना है अपनी वांछित वस्तु को छोड़कर बाकी सबसे अपने-आपको अलग कर लेने की क्षमता और शक्ति रखना।

क्या तुम जानते हो कि तुम्हें क्या करना चाहिये ? प्रारंभ में तुम किसी दीवार के सामने बैठते हो और अपने-आपसे कहते हो, "मेरा मन इस दीवार जैसा सफेद हो जाये।" फिर अगर तुम दीवार पर एक काला बिन्दु देखो तो इस बिन्दु पर एकाग्र होओ, बहुत ही तीव्रता के साथ एकाग्र होओ, किसी भी अन्य विचार को अपने अंदर न आने दो, जरा भी हिलो-डुलो मत, मानों तुम इस बिन्दु को अपनी सम्मोहक दृष्टि से घेर लेना चाहते हो। तब तुम देखोगे कि इस बिन्दु के साथ तुम्हारा कोई संबंध बनना शुरू होता है और फिर किसी चीज का अस्तित्व नहीं रहता। केवल वह बिन्दु होता है और तुम होते हो, मानों चुम्बक द्वारा आकर्षित। तुम्हारे अंदर भेदती हुई दृष्टि होती है। थोड़ी देर में, जरा-जरा करके काले बिन्दु का अस्तित्व तुम्हारी दृष्टि में नहीं रहता। तुम बहुत जोर से त्राटक करते हो लेकिन काले बिन्दु की जगह सफेद बिन्दु आ जाता है। मानों हर चीज एक अलग तरीके से दिखायी दे रही है। काला बिन्दु चमकदार बिन्दु बन गया है और इस चमकदार बिन्दु के चारों ओर अलग गतिविधियां दिखायी देती हैं। फिर केवल चमकदार बिन्दु दिखायी देता है और उसके चारों ओर कुछ नहीं, मानों एक तरह का संबंध जुड़ रहा है। तुम प्रयास करके देखो और मुझे बतलाओ।

इसके बाद अगर तुम और भी अच्छी तरह एकाग्र होना सीख लो तो तुम देखोगे कि स्वयं तुम एकाग्र नहीं हो रहे, कि अहंकार का कहीं अस्तित्व ही नहीं है बल्कि एक पूरी तरह अनासक्त इच्छा-शक्ति, जिसमें कोई विचार नहीं है, जो निष्कम्प रिक्तता के होते हुए अभीप्सा द्वारा सहारा पाती है, वह तथाकथित आत्मा या स्व में से काम कर रही है। आत्मा छिपी हुई मालूम होती है लेकिन एकाग्रता वहां भीतर (माताजी चैत्य केंद्र, हृदय की ओर इशारा करती हैं) सुनिर्दिष्ट और गहराई में पैठी हुई है जिसे बाहरी घटनाएं क्षुब्ध नहीं कर सकतीं, वह उन सुख के लोकों का पता लगाती है जहां भागवत माधुर्य का राज्य है। तुम एक के बाद

दूसरे चेतना के स्तरों का पता लगाते हो और एक के बाद एक सूक्ष्म शरीर को छोड़ते जाते हो। यहां तक कि कहीं कोई प्रतिरोध नहीं बचता और अंतरात्मा अपने-आपको हमारे आगे बिना किसी बिचौलिये के, बिना किसी विजातीय सहारे के प्रकट करती है। अगर तुम इस भांति जीना शुरू करो तो तुम सदा एक नव-जीवन में रहना शुरू करते हो। हर क्षण तुम एक नया जीवन, एक नयी अभीप्सा, नया प्रकाश और नया प्रेम पाते हो। तुम हमेशा कुछ-न-कुछ नया पाने के लिये आगे उछलते हो। यही जीवन है।

तुम्हें भीतर गहराई में जाकर एकाग्र होना जानना चाहिये, भीतर जाकर वह स्थान जानना चाहिये जहां तुम्हें अधिकाधिक अभीप्सा करनी चाहिये और साथ ही उस सबको अस्वीकार करना चाहिये जो गड़बड़ पैदा करता है, जैसे आवेश, संवेदन और विचार। वह सब जो हमारा अपना नहीं है अस्वीकार कर दिया जाना चाहिये ताकि हम अपने-आपका दिव्य चेतना के साथ तादात्म्य साध सकें। तीन अवस्थाएं हैं जो एक-दूसरे की सहायता करती हैं : एकाग्र होना, त्यागना और भगवान् के साथ तादात्म्य के लिये अभीप्सा करना।

भक्ति

(माताजी एक थाली में तुलसी (भक्ति) के पत्ते लिये आती हैं और ऐसे टेर लगाती हैं मानों नीलाम कर रही हों।)

कौन चाहता है भक्ति ? कौन भक्ति चाहता है ? जो मांगेगा उसी को दूंगी, कौन चाहता है ?

तुम चाहते हो ? क्या तुम इन सब चीजों के लिये परवाह करते हो ? क्या इसका तुम्हारे लिये कुछ अर्थ है या ये सब केवल शब्द ही हैं ? देखो ! कोई परिणाम नहीं। वह तो पत्थर का टुकड़ा बना बैठा है, कोई प्रतिक्रिया नहीं, क्यों, तुम्हें कुछ चाहिये ? कोई जरूरत नहीं ? नहीं न ?

परंतु माताजी क्या आपने अनुभव नहीं किया, आपने नहीं सुना कि मैं क्या चाहता हूं ?

तुम चालाक नन्हे। लो, क्या तुम बोल नहीं सकते ? तुम किस चीज से बने हो ?

पता नहीं, पर यह आपका दोष है।

मेरा दोष, क्यों ?

क्योंकि आपने ही मुझे ऐसा बनाया है, आपनें बनाया है इसलिये आप सब जानती हैं।

लेकिन मैंने तुम्हें कुछ भी मांगने के लिये मना तो नहीं किया।

हां, आपने मना किया है।

कब ?

जब आपने मुझसे कहा कि जब व्यक्ति मेरे सामने चुप रहता है तब वह ज्यादा अच्छी तरह पाता है।

आह ! सचमुच तुम . . . (माताजी पीछे की ओर मुड़कर कमरे की ओर चली जाती हैं।)

अभीप्सा

शुभ दिवस !

शुभ दिवस, मधुर मां।

आह, आज कुछ विशेष है और ये दोनों फूल बहुत बढ़िया हैं। 'अभीप्सा में एकाग्रता'। लेकिन क्या तुम अभीप्सा करना जानते हो ? क्या तुम कुछ अभीप्सा करते हो ?

हां मां, पर खास परिणाम नहीं होता।

आहा, तुम अभीप्सा करना जानने से पहले ही परिणाम चाहते हो।

नहीं मां, लेकिन . . .

क्या तुम जानते हो कि अभीप्सा क्या है ?

जी हां, मां।

और तुम कहां से अभीप्सा करते हो ?

हृदय से मां।

ठीक है, लेकिन क्या तुम वहां पर किसी चीज के बारे में अभिज्ञ हो ?

बहुत अस्पष्ट रूप में, ठीक-ठीक नहीं, कभी-कदास।

क्या तुम जानते हो कि अभीप्सा कहां से आती है ?

जी हां माताजी, हृदय से और चैत्य से।

हां मेरे नन्हे, सच्ची अभीप्सा चैत्य से आती है, लेकिन आरंभ हृदय से होता है। क्या तुम्हारा अपने चैत्य के साथ संपर्क है ?

नहीं माताजी।

नहीं! यह अजीब बात है, मेरा ख्याल था कि तुमने कम-से-कम इतना तो सीखा ही होगा। सीखने के लिये बहुत कुछ बाकी है। शुरू में जब तक तुम उसके संपर्क में न आओ तुम मन से ही अभीप्सा कर सकते हो, तुम कह सकते हो, मां, मां, मां और फिर कहो कि ठीक-ठीक तुम क्या चाहते हो, जैसे शान्ति, मेरे अंदर शान्ति स्थापित हो जाये। तब तुम चुपचाप एकाग्र होओ और खुले रहो, तुम देखोगे कि तुम्हारे अंदर शांति की बाढ़ आ रही है।

तब तुम हृदय में एकाग्र होते और ज्वाला के साथ संपर्क में आने की अभीप्सा करते हो, चैत्य ज्वाला के साथ, यह शुद्धि की ज्वाला है। तुम वहां जाओ, बहुत गहराई में जाओ और इस तरह निश्चल नीरव बने रहो (माताजी अपने सिर पर हाथों को फूल की मुद्रा में खोलती हैं)। उसे पाने के लिये तुम्हें बहुत प्रयास करना पड़ता है लेकिन एक बार वहां पहुंच जाओ तो तुम केंद्रीय सत्ता के साथ संपर्क में आ जाते हो, सभी चीजें नीरव हो जाती हैं और तुम्हें ऐसा लगता है कि भगवान् तुम्हारे लिये सब कुछ कर रहे हैं। तब एक निर्विकार आनंद, शांति और स्वाधीनता तुम्हें पकड़ लेती हैं। तब उस अभीप्सा के सिवा, जो तुम्हें भगवान् के साथ मिलाती है, तुम्हें दुनिया भर की किसी चीज में रस नहीं रहता।

रूपान्तर

सुप्रभात।

सुप्रभात, मधुर मां।

यह लो चार रूपांतर के फूल। यह है मन के रूपांतर के लिये, यह प्राण के लिये, यह शरीर के लिये और अंतिम चैत्य के लिये है। यह सत्ता के सारे भिन्न-भिन्न भागों को रूपांतरित करने का पूर्ण कार्यक्रम है। तुम जानते हो कि मैं केवल शरीर के अंदर शांति उतार लाने के प्रयास से संतुष्ट नहीं हूं। भगवान् का अनुभव कर लेने से भी नहीं, तुम्हारी चेतना को उच्चतर चेतना में बदल देना भी काफी नहीं है। सत्ता के हर एक अंग का आमूल रूपांतर जरूरी है। उन्हें बदलना भी काफी नहीं है। मैं केवल परिवर्तन नहीं चाहती। मैं पूर्ण रूपांतर चाहती हूं, उससे कम कुछ नहीं। नवीन चेतना, अतिमानसिक चेतना को नीचे सत्ता में, शरीर के अंदर हर जगह लाना और हर अंग-प्रत्यंग को रूपांतरित करना मुझे अभीष्ट है—इस सारे को (माताजी शरीर दिखाती हैं) में रूपांतरित करना चाहती हूं।

शाश्वत यौवन और शाश्वत मुस्कान

सुप्रभात।

सुप्रभात, मधुर मां।

लो, मैंने कोई चीज बहुत संजोकर तुम्हारे लिये रखी है। आज सबेरे जैसे ही ये फूल मेरे पास आये कि मैंने

तुम्हारे बारे में सोचा, "ये मोना के लिये होंगे जब वह आयेगा।" मैंने उन्हें अलग करके रख लिया। क्या तुम इनका अर्थ जानते हो ?

जी हां, माताजी।

यह है शाश्वत यौवन और यह है शाश्वत मुस्कान। ये दोनों फूल एक दूसरे के पूरक हैं, ऐसे फूल हैं जो पूर्ण जीवन के लिये बहुत आवश्यक हैं।

अगर तुम हमेशा युवक रह सको और हमेशा मुस्करा सको तो तुम रूपांतर की ओर एक बड़ा कदम ले सकोगे। जब तुम अहंकार की बेड़ियों, कामना की बेड़ियों के ऊपर हो तो तुम मुस्कराना शुरू करते हो और जब तुम प्रगति के लिये सतत अभीप्सा रख सको तो तुम युवक रह सकते हो। लक्ष्य तक पहुंचने के लिये ये दो निश्चित साधन हैं। समय नष्ट न करो, आशावादी बनो और सीधे मार्ग का अनुसरण करो। सोचने की कोई जरूरत नहीं।

फूल जैसे बनो

सुप्रभात।

सुप्रभात, मधुर मां।

यह लो, क्या तुम जानते हो कि यह क्या है ?

जी हां, माताजी यह है 'सुरुचिपूर्ण सौंदर्य' का फूल।

कैसा कोमल और ताजा है।

मां, क्या आप मुझे यह फूल इसलिये दे रही हैं कि मैं अपने अंदर सुरुचिपूर्ण सौंदर्य पैदा करूं या इसलिये कि यह मेरे अंदर के किसी भाग के साथ मेल खाता है ?

जब मैं कोई फूल देती हूं तो वह तुम्हारी सत्ता की गहराई में से आती हुई अभीप्सा के जवाब में होता है। यह आवश्यकता होती है या अभीप्सा, यह व्यक्ति पर निर्भर है। यह तुम्हारी किसी रिक्तता को भर सकता है या प्रगति के लिये प्रेरणा दे सकता है या फिर यह आंतरिक सचेतनता पाने में सहायक हो सकता है ताकि शांति स्थापित हो सके। समझे ?

फूल जैसे बनो। तुम्हें फूल जैसा खुला हुआ, स्पष्ट, समान, उदार, और दयालु होना चाहिये। तुम इसका अर्थ समझे ?

ठीक-ठीक नहीं, मां।

फूल अपने चारों ओर की हर चीज के लिये खुला होता है : प्रकृति, प्रकाश, सूर्य की किरणों, वायु सबके

प्रति। अपने चारों ओर की सभी चीजों पर वह एक सहज प्रभाव डालता है। वह आनंद और सौंदर्य का प्रसारण करता है।

वह स्पष्ट होता है, वह अपने सौंदर्य में से कुछ भी नहीं छिपाता, अपने अंदर से सब कुछ खुले तौर पर प्रवाहित होने देता है। उसके अंदर जो कुछ है, उसकी गहराइयों में जो कुछ है वह उस सबको बाहर आने देता है ताकि हर एक उसे देख सके।

वह समान है, उसमें कोई पसंद नहीं है। हर एक बिना किसी प्रतियोगिता के उसकी सुन्दरता और सुगंध का आनंद ले सकता है। वह हर एक के लिये समान है। इसमें कहीं कोई भेद नहीं है।

फिर वह बिना किसी शर्त या रोकथाम के उदार है। वह प्रकृति को अपना रहस्यमय सौंदर्य और अपनी सुगंध दे देता है। वह हमारे सुख के लिये अपनी बलि दे देता है। वह अपने जीवनतक को इस सौंदर्य को और अपने अंदर जुटाई हुई चीज के रहस्य को प्रकट करने के लिये न्योछावर कर देता है।

और फिर कृपालु : उसमें इतनी कोमलता होती है, इतनी मधुरता होती है, वह हमारे इतने समीप और इतना प्रेम-भरा होता है। उसकी उपस्थिति हमें आनंद से भर देती है। वह हमेशा प्रसन्न और सुखी होता है।

सुखी है वह मनुष्य जो अपने गुणों को फूलों के वास्तविक गुणों के साथ बदल सकता है। अपने अंदर उनके परिष्कृत गुणों को पैदा करने की कोशिश करो।

मैं तुम्हें फूल इसलिये देती हूं ताकि तुम अपने अंदर उन दिव्य गुणों को विकसित कर सको जिनके वे प्रतीक हैं। और वे सीधे चैत्य में वे सब चीजें —जो उनमें होती हैं—शुद्ध, अमिश्रित रूप में पहुंचा देते हैं। उनके अंदर एक बहुत सूक्ष्म, गहरी शक्ति होती है और प्रभाव होता है। समझ रहे हो ? मुझे ऐसा लगता है कि तुम एक फूल जैसा बनना चाहते हो या उनके गुण अपने अंदर पैदा करना चाहते हो। और तुम जानते हो कि हर फूल पृथ्वी के किसी पक्ष, किसी अभीप्सा, प्रगति या निस्सरण का प्रतीक होता है।

मैं यहां हूं

(१९५८ तक माताजी सलामी लेने के लिये हर शाम को खेल के मैदान में आया करती थीं। यह बातचीत १९५९ में हुई। १९६२ तक माताजी दर्शन के दिनों पर, प्रतियोगिताओं के आरंभ में और २ दिसंबर को सलामी लेती थीं।)

सुप्रभात, मधुर मां।

सुप्रभात, मेरे नन्हे। मैं तुमसे कुछ कहना चाहती थी।

क्या माताजी ?

अब मुझे याद नहीं है, मेरी स्मृति से निकल गया। मैं तुमसे काफी लम्बे समय से कहना चाहती थी। जब तुम यहां मेरे सामने नहीं होते तब मुझे बात याद रहती है और जब जरूरत हो . . .

लेकिन वह है क्या माताजी, अगर आप उसके बारे में जरा सोंचें . . .

हां, लो। मुझे बात याद आ गयी। मैं तुमसे कहना चाहती थी, तुम जानते हो, हर रोज शाम को जब तुम मार्चिंग के लिये आज्ञाएं देते हो तो मैं सुन सकती हूं। तुम्हारी आवाज बहुत स्पष्ट होती है। जब मैं जरा ध्यान से सुनूं तो स्पष्ट रूप से सुन सकती हूं। मैं प्रायः हर रोज सुनती हूं। कभी-कभी मैं वृन्द-वाद्य भी सुनती हूं। यह अजीब बात है। हर शाम को मैं अपने-आपसे कहती हूं, "मुझे उससे इस बारे में कहना चाहिये कि मैं उसकी आवाज यहां इस कमरे से सुनती हूं।" और जब तुम मार्चिंग करवाते हो तो मैं तुम्हारी आज्ञाएं स्पष्ट रूप से सुनती हूं।

अच्छा, माताजी ?

हां, यह सच है।

हो सकता है कि हवा इस तरफ की होती है। इसलिये ऐसा होता है।

संभव है, लेकिन मैं तुम्हें देखती भी हूं। ऐसा लगता है मानों सब कुछ नियमित रूप से चल रहा है।

जी हां, माताजी, लेकिन फर्क यह है कि आप वहां पर उपस्थित नहीं होतीं।

लेकिन मैं हर शाम को सलामी लेने के लिये वहां होती हूं। तुमसे किसने कहा कि मैं वहां नहीं होती ? हां, शारीरिक रूप से मैं वहां नहीं होती पर एक और शरीर में, एक और रूप में होती हूं। मैं और एक रीति से निर्देश देने के लिये रहती हूं और जो देख सकते हैं या जिन्हें देखने की इच्छा होती है वे मुझे स्पष्ट रूप से देख सकते हैं, ठीक उसी तरह जैसे मैं तुम्हारे सामने यहां हूं। इस भ्रम में न रहो कि मैंने तुम्हें छोड़ दिया है, नहीं, हर शाम मैं तुम्हें देखती हूं। मैं अपने-आपसे मुस्कराकर कहती हूं, "संभवतः वह नहीं जानता कि मैं उसे देख रही हूं, ताक-झांक कर रही हूं।" फिर भी तुम इस विषय में अनभिज्ञ हो, निश्चेतना में डूबे मत रहो। मुझे देख सकने की क्षमता को विकसित करने की कोशिश करो। समय आ गया है जब तुम्हें जरा अपने भीतर जाना चाहिये।

मार्चपास्ट (१९५९)

माताजी, आजकल जब कि आप मार्चपास्ट के लिये नहीं आया करती हैं तब हमारा क्या मनोभाव होना चाहिये ?

वैसा ही जैसा तब होता था जब मैं शारीरिक रूप में उपस्थित होती थी, क्योंकि शारीरिक रूप से वहां होते हुए भी कह सकती हूं कि मैं वहां नहीं होती थी क्योंकि मेरी चेतना दुनिया भर में कुछ महत्त्वपूर्ण कामों में लगी हुई थी। मुझे सलामी दी जाती परंतु मुझे पता ही न होता कि क्या हो रहा है। हर रोज ऐसा नहीं होता था लेकिन अधिक समय यह होता ही रहता था क्योंकि मुझे कुछ जरूरी चीजें करने के लिये या कोई निर्णय लेने के लिये जाना पड़ता था।

लेकिन अब चीज एकदम भिन्न है क्योंकि मैं मार्चपास्ट के लिये हर रोज यहां उपस्थित रहती हूं। मैं उसे

कभी नहीं छोड़ती, क्योंकि एक बार मुझसे कहा गया है कि उस क्षण कोई चीज होती है और मेरी उपस्थिति जरूरी है। हर रोज मैं वह करती हूं जो करना जरूरी है ताकि मेरी चेतना का एक भाग, जिसे सूचना दी गयी है, जाग उठता है और अपने-आपको यांत्रिक रूप से अलग कर लेता है और सलामी लेने के लिये खेल के मैदान में जा पहुंचता है। यह सब सोचे बिना, याद किये बिना उस चेतना के द्वारा होता है जिसे यह काम सौंपा गया है और वह बिना भूल के वहां उपस्थित होती है। मैं इस तरह बिना किसी गड़बड़ के अपना काम नियमित रूप से किये जाती हूं।

तो फिर माताजी, क्या आप यहां अपनी पूरी चेतना के साथ नहीं होतीं, उसका केवल एक अंश ही होता है ?

मेरे नन्हे बच्चे, कितनी वार स्वयं को विभक्त किया जा सकता है . . . मेरी चेतना के प्रत्येक भाग में वही तीव्रता या शक्ति होती है जो मेरी सारी चेतना में होती है। विभक्त होने पर सत्य कम नहीं हो जाता और फिर मैं तो एक ही साथ सारी दुनिया में प्रत्येक परमाणु में उपस्थित होती हूं और अगर मुझे सूचना दे दी जाये तो मैं सचेतन रूप से उपस्थित रहती हूं। इसका मतलब तो यह हुआ कि मैं "दोहरे रूप" में उपस्थित होती हूं। समझे ?

जी हां, माताजी।

एक वह उपस्थिति जो हर जगह होती है और दूसरी सचेतन उपस्थिति जो बुलाने पर आती है। मैं तुम्हारे ऊपर निगाह रखने के लिये हमेशा रहती हूं और जब तुम आदेश दे रहे होते हो तो मैं स्पष्ट रूप से तुम्हारी आवाज सुनती हूं। अब मुझे बतलाओ, तुम्हारे यहां मार्चपास्ट कब शुरू होता है और ध्यान कब, ताकि मुझे ठीक समय का पता रहे।

मार्चपास्ट पौने सात बजे शुरू होता है और ध्यान पौने आठ।

हां, तो अब मैं न भूलूंगी। अब मैंने स्पष्ट रूप से समय उस चेतना में अंकित कर दिया है जिसे वहां रहना चाहिये। यह ठीक है, आज्ञा दे दी गयी है।

अपनी आंखें खुली रखना ताकि तुम मुझे देख सको। बिना किसी भूल के मैं वहां उपस्थित रहूंगी। अच्छा पुनरागमनाय। सबसे बढ़कर है चेतना। तुम्हें मुझे देखने का प्रयास करना चाहिये . . .। चलो देखें।

शारीरिक शिक्षण

माताजी, आज एक फुटबॉल मैच है . . .

तुम्हारे मैच खेलने या न खेलने में मुझे कोई आपत्ति नहीं है। खेलने के तथ्य के साथ मेरा कोई संबंध नहीं अगर वह तुम्हें सचेतन होने में सहायता न दे। अगर तुम उसमें हजारों बार एक ही भूल दुहराते जाओ और उसमें से जरा अधिक सचेतन होकर न निकलो। यही चीज है जिस पर मैं बहुत आग्रह कर रही हूं।

अपने-आपमें मैच खेलने का कोई महत्त्व नहीं है यदि वह तुम्हें कुछ ऐसा अनुभव प्राप्त करने में सहायता न दे जिससे तुम जरा प्रगति कर सको। यदि खेल-कूद या दौड़-भाग से तुम्हें जो लाभ हो सकता है उसका तुम जरा-सा फायदा भी न उठा सको तो फिर खेलने का लाभ ही क्या ? मैं इसी पर आग्रह कर रही हूं। तुम्हारे चारों ओर जो कुछ हो रहा है उसके बारे में जरा-सा सचेतन होओ। शारीरिक शिक्षण एक ऐसी कसौटी है जिसमें तुम ठोस रूप में, तेजी के साथ सीख सकते हो कि जीवन हमें क्या दे रहा है। यह जीवन में कुछ अनुभूति प्राप्त करने का एक सीधा साधन होता है। कामचोर का जीवन नहीं बल्कि एक ऐसे व्यक्ति का जीवन जो लड़ना जानता है, अपने पैरों पर खड़ा होना जानता है, कठिनाइयों को पार करना सीखना जानता है।

शारीरिक शिक्षण हमें केवल अच्छा स्वास्थ्य, बलवान्, सुनम्य, सन्तुलित शरीर ही नहीं देता बल्कि साथ ही असंदिग्ध मनोवैज्ञानिक गुण भी देता है। उदाहरण के लिये, सहनशक्ति, साहस, प्रसन्नता, अपने-आपको पूर्ण करने का संकल्प और सबसे बढ़कर समुदाय-भाव। सद्भावना का वह मनोभाव जिसे अंग्रेजी में 'स्पोर्ट्समैनशिप', खिलाड़ी का भाव, कहते हैं। खेलकूद से मिलनेवाले ये गुण बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। एक अच्छे खिलाड़ी का भाव अपने स्वभाव में प्रायः योगी की मनोवृत्ति के जैसा होता है। वह निश्चय ही हमेशा ऐसा प्रभाव डालता है मानों वह एक विजेता हो, कहानियों का कोई वीर पुरुष हो जो औरों के सद्गुणों का मूल्यांकन करना जानता हो, जो कभी किसी के साथ कोई बुरी चालाकी नहीं करता। वह अपने साथ ईमानदार होता है, प्रायः दम्भी नहीं होता और वह ईर्ष्या को स्वीकार नहीं करता। हमें लगता है कि वह अपने अहं को जीतने की कोशिश कर रहा है। वह अच्छी तरह व्यवहार करना जानता है और दूसरों से आदर प्राप्त करता है। वह औरों के प्रति उदार और निष्पक्ष होता है। तुम और क्या चाहते हो, अगर कोई इन गुणों को विकसित कर सके तो यह अपने-आपमें एक जीवन के लिये एक बड़ी उपलब्धि है।

शारीरिक प्रशिक्षण शरीर को मजबूत करता है, जीवन को नियमित करता है, दैनिक जीवन में सुव्यवस्था, संतुलन और सामंजस्य लाता है। वह तुम्हारी इन्द्रियों को तेज करता, एकाग्रता, सहन-शक्ति और अन्य बहुत-सी चीजों को विकसित करता है। सद्गुणों की सूची का कहीं कोई अंत नहीं। वह शरीर और उसकी गतिविधियों पर नियंत्रण और शरीर के असाधारण विकास में सहायता देता है। हम जितना प्राप्त कर सकते और सहन कर सकते हैं वह सचमुच अद्भुत, चमत्कारिक, अविश्वसनीय होता है और तुम जिस पूर्णता के स्तर तक पहुंच सकते हो वह बहुत ऊंचा होता है। हमारे जीवन में शारीरिक शिक्षण मानों तमस् और अज्ञान के लिये एक चुनौती है। इसके बिना जीवन अपनी बहुत-सी मनोहरता को खो बैठता है। अगर तुम सामंजस्यपूर्ण और सुव्यवस्थित जीवन जीना चाहते हो तो यह अनिवार्य है।

लेकिन इसे सच्ची मनोवृत्ति और प्रगति के लिये सचेतन संकल्प के साथ, अपने-आपको पूर्ण करने के लिये, अपने को जीवन का एक लक्ष्य प्रदान करने के लिये, आपस में टकरानेवाले विभिन्न भागों में सामंजस्य लाने के लिये, बड़े परिश्रम के साथ शारीरिक श्रम कम करते हुए कोई विशेष परिणाम लाने के लिये करना होगा। तुम सचेतन और अधिक सचेतन बनने का प्रयास करो। खेलकूद से जो आनंद मिलता है वह इस ठोस और रचनात्मक प्रयोग के कारण होता है। अगर तुम कष्ट उठाओ तो तुम स्थिति पर अधिकार पा सकते हो और उस पर हावी हो सकते हो। यह अद्भुत है कि तुम क्या-क्या कर सकते हो। शारीरिक व्यायाम तुम्हें बहुत-से रोगों और दोषों से मुक्त कर सकता है। और खेलकूद के क्षेत्र में अपने परे जा सकने, अपनी क्षमता से अधिक कर सकने में अविश्वसनीय समर्पण और प्रयास की जरूरत होती है। इसका कहीं अंत ही नहीं है . . ., तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। यह प्राप्त किया जा चुका है।

तुम्हें यह सीखना होगा कि दुर्घटनाओं से बचने और भयानक परिणामों और दुर्घटनाओं को दूर रखने के लिये चेतना का वहां पर उपयोग किया जाये। तुम अपने-आपको चेतना के प्रति खोलना सीखो और शरीर

को सतर्क रखो ताकि वह लड़खड़ाये नहीं, हर क्षण याद रखे, उत्तेजना में आकर भूल न जाये, हर पग पर उचित मनोवृत्ति रखे और चेतना का प्रयोग करने का प्रयास करे। तुम हमेशा सचेतन और सतर्क रहो तो सब प्रकार की दुर्घटनाओं से बच सकते हो। स्वभावतः यह बहुत कठिन और श्रमसाध्य प्रशिक्षण है लेकिन मैं तुम्हें विश्वास दिलाती हूं कि अगर तुम सदा सचेतन और शांत रहो तो तुम सब तरह की दुर्घटनाओं, सब प्रकार के प्रहारों से बच सकते हो। अपनी सत्ता के अंग-प्रत्यंग के बारे में सचेतन रहो, हर तत्त्व, हर कोषाणु में सचेतन रहो। इस तरह शरीर को थोड़ा-थोड़ा करके सचेतन बनाया जा सकता है। चेतना के लिये अभीप्सा करो, सत्ता के हर भाग में, चमड़ी में, मांसपेशी, कोषाणु में, समस्त शरीर में सचेतन बनो। अगर तुम इस भाव के साथ खेलकूद का अभ्यास करो, अपनी सहज क्षमताओं को विकसित करने की कोशिश करो तो तुम उन छिपी हुई चीजों को पा लोगे जो सामंजस्यपूर्ण जीवन के लिये और योग की पक्की नींव रखने के लिये जरूरी हैं।

लेकिन तुम कोई कष्ट नहीं उठाते, प्रगति करने या सचेतन होने के लिये कोई प्रयास नहीं करते। तुम्हारे अंदर प्रगति करने या हमेशा अच्छे-से-अच्छा करने के लिये, अपने-आपको एक नये तरीके से अधिक पूर्ण बनाने के लिये इच्छा-शक्ति नहीं है। इन सब सलाहों के बावजूद, इन सब सुंदर शब्दों और आवश्यक सहायता के बावजूद मैं तुम्हारे और उन लोगों के बीच कोई फर्क नहीं देखती जो कहीं और खेलकूद का अभ्यास करते हैं। वही आदतें, वही चीजें जो सामान्य मनुष्य को प्रेरणा देती हैं, वही नगण्य-सी चीजें तुम दोहराते जाते हो। तुम सावधानी के साथ बिना जाने ही उन मूढ़ताओं को दुहराते जाते हो। मेरी समझ में नहीं आता कि तुम इन चीजों से पिण्ड क्यों नहीं छुड़ाना चाहते, तुम ज्यादा अच्छे क्यों नहीं होना चाहते। तुम्हारे अपने अंदर इसकी प्रेरणा क्यों नहीं है, तुम्हारे अंदर किस चीज की कमी है ?

मैं यह बात हजारों बार कह चुकी हूं फिर भी मैं देखती हूं कि हर मैच के बाद किसी ने अपनी बांह तोड़ ली है, कोई लंगड़ा रहा है और कई अप्रिय घटनाएं होती हैं जिनके बारे में कहते हुए मुझे लज्जा आती है। लेकिन इस सबका तुम्हारे चरित्र पर कोई असर नहीं होता, इस प्रकार की दुर्घटनाओं से बचने के लिये तुम्हें इससे कोई प्रेरणा नहीं मिलती। आखिर तुम कब जानोगे और बड़े जोर से कहोगे, "नहीं! अब ये दुर्घटनाएं न होंगी, यह निश्चेतना न रहेगी, ये अज्ञानभरी मूढ़ताएं न रहने पायेंगी। बस, अब इन चीजों का अंत होना चाहिये। मुझे अधिकाधिक सचेतन होना चाहिये। मेरे अंदर अपने-आपको शुद्ध करने, अपने-आपको सचेतन करने की इच्छाशक्ति होनी चाहिये।" तब तुम देखोगे कि कौन तुम्हें घेरे हुए है। तुम्हें अभीप्सा करनी होगी, अपने-आपको अंदर से मेरी ओर खोलना होगा और तब तुम देखोगे कि क्या फर्क पड़ता है। तुम्हें कोई चीज छू भी न पायेगी। तुम्हें पता नहीं कि तुम किस चीज से वंचित हो, कौन-सी चीज है जो तुम सबके निकट है फिर भी तुम उसे नहीं पा रहे।

चलो, एक छलांग लगाओ और एक बूंद प्राप्त करने की कोशिश करो और तुम अंतर देख सकोगे। एक बूंद पर्याप्त है। शांति और चेतना की एक बूंद ही काफी है। वह चाहे जितनी छोटी क्यों न हो वह सारी सत्ता में अपनी उपस्थिति से बाढ़ ला सकती है और तुम तलवार की धार की तरह स्पंदित होना शुरू करते हो।

तब तुम्हें लगेगा कि कोई चीज तुम्हें उठाये हुए है, तुम्हें राह दिखाती और आगे बढ़ाती है और तुमसे प्रगति करवाती है। इस चेतना को शरीर में अभिव्यक्त करना है। तब तुम निश्चिंत हो सकते हो कि कोई दुर्घटना न होगी क्योंकि वह हमारे अंदर से समस्त निश्चेतना को निकाल बाहर करती है। मैं चाहती हूं कि मेरे बच्चे इसे जान लें और अधिकाधिक इस चेतना में निवास करें। तब मुझे जरा भी चिंता न करनी होगी क्योंकि मैं जानती हूं कि परिणाम क्या होगा और देखो मैं तुम्हारी चेतना में इसी चीज को मथ रही हूं परंतु परिणाम बहुत कम होता है।

मुझे प्रतियोगिताओं और प्रतिस्पर्धाओं से कोई शिकायत नहीं है। इसके विपरीत मैं जानती हूं कि वे अधिक जाग्रत् होने में कैसे सहायक हो सकती हैं। मैं जानती और सराहना करती हूं कि उन सद्‌गुणों की जिन्हें वे विकसित करती हैं और कैसे यह ऊर्जा, यह बल और यह विजेता की भावना हमारे जीवन के लिये जरूरी है। पता नहीं कितनी बार मैंने तुमसे इसमें भाग लेने के लिये कहा है—प्रतियोगिताओं और साम्मुख्यों में सच्ची वृत्ति और उचित भाव के साथ भाग लेने के लिये कहा है।

जीवन में उद्देश्य की जरूरत

"उद्देश्यहीन जीवन हर्षहीन जीवन होता है।" क्यों?

यदि मनुष्य के सामने कोई लक्ष्य हो तो वह शांतिपूर्वक उस पथ का अनुसरण कर सकता है जो उस लक्ष्य की ओर ले जाता है।

किंतु शांति से मार्ग पर चलने के लिये लक्ष्य का होना आवश्यक नहीं है। बहुत सारे लोग ऐसे होते हैं जिनका कोई लक्ष्य नहीं होता और वे बिना किसी प्रयत्न के अपनी नियमित दिनचर्या के मार्ग पर बहुत शांति से चलते रहते हैं।

लक्ष्य आनंद प्रदान करता है।

कभी-कभी अपने लक्ष्य तक पहुंचने के लिये मनुष्य को अपना सारा जीवन ही खपा देना पड़ता है। तो ऐसी स्थिति में जीवन के अंत में ही आनंद मिल सकेगा!

लक्ष्य एक आदर्श होता है और आदर्श जीवन में समृद्धि लाता है।

हां, किंतु किसी का आदर्श बहुत ही स्थूल हो सकता है; आदर्श वह चीज नहीं है जो आनंद देती है।

लक्ष्य जीवन को एक अर्थ देता है, उसके अस्तित्व का एक कारण होता है और यह कारण एक प्रयास की अपेक्षा करता है और उस प्रयास में ही हमें आनंद मिलता है।

बिलकुल ठीक है। प्रयास ही आनंद देनेवाली चीज है। जो मनुष्य प्रयास करना नहीं जानता उसे कभी आनंद नहीं मिलता। जो लोग मूलतः आलसी होते हैं उन्हें कभी आनंद नहीं मिलता,—उनमें आनंदित होने की क्षमता ही नहीं होती। प्रयास ही आनंद देता है। वह सत्ता के तारों में एक खास खिंचाव पर थरथराहट पैदा कर देता है। उससे आनंद अनुभव करने की सामर्थ्य आती है।

किंतु जो प्रयास आनंद देता है, वह परिस्थितियों द्वारा लादा गया होता है या प्रगति की ओर ले जानेवाला?

तुम दो चीजों को मिला रहे हो। एक तो है भौतिक और दूसरी है मनोवैज्ञानिक। यह बिलकुल स्पष्ट है कि

जो काम इसलिये किया जाता है कि तुमने उसे करने का निश्चय कर लिया है और जो काम परिस्थितियों द्वारा थोपा गया है—वे परिस्थितियां चाहे कम या अधिक अनुकूल ही क्यों न हों—उन दोनों का परिणाम बिलकुल एक जैसा नहीं होता। उदाहरणार्थ, सभी जानते हैं कि यौगिक अभ्यास करनेवाले लोग प्रायः उपवास किया करते हैं। बहुत-सी यौगिक साधनाओं में तो बड़े लंबे-लंबे उपवासों का विधान है और जो लोग ये उपवास करते हैं वे साधारणतया इन्हें करके बहुत प्रसन्न होते हैं, क्योंकि वे अपनी इच्छा से करते हैं। किंतु उसी व्यक्ति को लो और उसे ऐसी परिस्थिति में रख दो जहां भोजन का अभाव हो, चाहे इस कारण कि भोजन मिल ही न सकता हो या इस कारण कि उसके पास पैसे न हों, तुम उस व्यक्ति को एक दयनीय अवस्था में पाओगे, वह विलाप करता हुआ मिलेगा कि जीवन बड़ा भयानक है, यद्यपि दोनों अवस्थाएं एक जैसी ही हैं; बस, एक अवस्था में तो उसने भोजन न करने का स्वयं निश्चय किया था और दूसरी में उसने इसलिये भोजन नहीं किया कि वह अन्यथा कर ही नहीं सकता था। यह जानी हुई बात है, किंतु यही एकमात्र कारण नहीं है।

जिस किसी क्षेत्र का प्रयास हो, भौतिक, नैतिक या बौद्धिक प्रयास, केवल प्रयास ही वह चीज है जो हमारे अंदर उन स्पंदनों को पैदा करती है जिनसे तुम विश्वव्यापी स्पंदनों के संपर्क में आने में सक्षम होते हो और यही वह चीज है जो तुम्हें आनंद प्रदान करती है। प्रयास ही तुम्हें तमस् से बाहर खींच लाता है, प्रयास ही तुम्हें विश्व-शक्तियों के प्रति ग्रहणशील बनाता है। और सबसे बढ़कर, जो चीज तुम्हें सहजभाव से आनंद देती है वह है विश्व-शक्तियों के साथ अपनी शक्तियों का आदान-प्रदान। यहां तक कि जो लोग योग नहीं करते, जिन लोगों में कोई आध्यात्मिक अभीप्सा नहीं है, जिनका जीवन बिलकुल सामान्य है, उन्हें भी यह चीज आनंद देती है। बस, लोग इसे जानते नहीं, वे यह नहीं कह सकते कि उन्हें इसी कारण आनंद होता है, पर बात यही है।

कुछ ऐसे लोग हैं जो ठीक सुंदर पशुओं जैसे होते हैं। उनकी सभी गतियां सामंजस्यपूर्ण होती हैं, उनकी शक्तियां सुसंगत रूप में खर्च होती हैं, उनका सहज-स्वाभाविक प्रयत्न सदा ही शक्तियां खींच लाता है और वे सदैव प्रसन्न रहते हैं। किंतु कभी उनका मस्तिष्क विचार-शून्य होता है, कभी हृदय भावना-शून्य होता है, वे बिलकुल पशुवत् जीवन बिताते हैं। मैंने ऐसे सुंदर पशु-जैसे लोगों को देखा है। वे खूबसूरत थे, उनकी गतियां सुसमंजस थीं, उनके अंदर की शक्तियां संतुलित थीं, वे उन्हें बेहिसाब खर्च करते थे और बेहिसाब ही ग्रहण करते थे। उनका संपर्क भौतिक विश्व-शक्तियों के साथ था और वे प्रसन्नता के साथ जीवन बिताते थे। वे शायद तुम्हें यह न बता पाते कि वे प्रसन्न हैं। उनकी प्रसन्नता इतनी स्वतःस्फूर्त थी कि वह एकदम स्वाभाविक बन गयी थी। फिर उनके लिये इसका कारण बताना तो और भी कठिन होता, क्योंकि उनमें अभीतक बुद्धि का भली-भांति विकास नहीं हुआ था। मैं ऐसे लोगों को भी जानती थी जो आवश्यक प्रयत्न भी कर सकते थे,—अवश्य ही कोई सुविवेचित युक्तिसंगत प्रयत्न तो नहीं, बल्कि सहज-स्वाभाविक प्रयत्न,—और वह भी भौतिक, प्राणिक, बौद्धिक आदि किसी भी क्षेत्र में, और इनके इस प्रयत्न में सदा ही आनंद रहता था। उदाहरण के लिये, एक व्यक्ति को लो जो पुस्तक लिखने बैठता है, वह प्रयत्न करता है और उसके मस्तिष्क में कोई चीज स्पंदित हो उठती है जिससे कि वह विचारों को आकर्षित कर सके। बस, वह तत्काल आनंद का अनुभव करने लगता है। यह बिलकुल निश्चित है कि तुम चाहे जो कुछ करो, चाहे वह कार्य एकदम स्थूल ही क्यों न हो, जैसे कमरा बुहारना या रसोई बनाना, यदि तुम उसे करने के किये अपनी पूर्ण शक्तिभर आवश्यक प्रयत्न करो तो तुम्हें आनंद मिलेगा भले ही वह कार्य तुम्हारी प्रकृति के विपरीत ही क्यों न हो। जब तुम कुछ प्राप्त करना चाहते हो तो तुम बहुत स्वाभाविक ढंग से आवश्यक प्रयत्न करते हो; उससे तुम्हारी शक्तियां प्राप्य वस्तु पर एकाग्र हो जाती हैं और तुम्हारे जीवन के बने रहने का एक कारण, एक हेतु मिल जाता है। वह तुम्हें अपने-आपको सुसंगठित करने के लिये, अपनी

शक्तियों को एक-न-एक प्रकार से केंद्रित करने के लिये बाध्य करता है, क्योंकि तुम बस उसी एक चीज को करना चाहते हो न कि ऐसी अन्य पचासों चीजों को जो कि उसका खंडन करती हों। और इच्छा-शक्ति की इस तीव्रता में, इस एकाग्रता में ही आनंद का मूल निहित होता है। यह तुम्हें अपनी खर्च होनेवाली शक्तियों के बदले में नयी शक्तियां ग्रहण करने की क्षमता प्रदान करता है।

श्रीमां लेख पढ़ना जारी रखती हैं: "... अपनी पूर्णता प्राप्त करने के लिये सबसे पहला पग है अपने विषय में सचेतन होना।"

"अपने-आपको जानने और अपने-आपको संयमित करने" का क्या अर्थ है ?

इसका अर्थ है अपने आंतरिक सत्य के प्रति सचेतन होना, अपनी सत्ता के विभिन्न अंगों और उनकी अपनी-अपनी क्रियाओं के विषय में सचेतन होना। व्यक्ति को यह जानना चाहिये कि वह ऐसा क्यों कर रहा है, वैसा क्यों कर रहा है; उसे अपने विचारों को जानना चाहिये, अपने हृद्‌गत भावों को जानना चाहिये, अपनी सारी क्रियाओं को, सारी गतियों को, अपनी क्षमता आदि सबको जानना चाहिये। और अपने-आपको जानना ही पर्याप्त नहीं है; यह आवश्यक है कि यह ज्ञान हमें सचेतन संयम प्रदान करे। अपने-आपको पूर्णतः जानने का अर्थ है अपने-आपको पूर्णतः संयमित करना।

किंतु यह आवश्यक है कि मनुष्य अपने जीवन में प्रतिक्षण अभीप्सा बनाये रखे।

इसे आरंभ करने के लिये न तो कोई समय बहुत जल्दी का है, और न जारी रखने के लिये कोई समय बहुत देर का। कहने का मतलब यह है कि जब तुम कम उम्र के हो तब भी अपने-आपको ध्यानपूर्वक देखना, जानना-समझना और धीरे-धीरे संयमित करना आरंभ कर सकते हो। और जब तुम उस अवस्था में पहुंच जाते हो जिसे लोग 'बुढ़ापा' कहते हैं, जब तुम बहुत बूढ़े हो जाते हो, उस समय भी यदि तुम अपने-आपको अधिकाधिक अच्छे रूप में जानने और अधिकाधिक अच्छे रूप में संयमित करने का प्रयास करो तो उसे देर नहीं कह सकते। बस, यही है जीवन-यापन करने का यथार्थ विज्ञान।

अपने-आपको पूर्ण बनाने के लिये तुम्हें सबसे पहले स्वयं अपने प्रति सचेतन होना होगा। उदाहरण के लिये, निश्चित रूप से तुम्हारे जीवन में यह घटना अवश्य ही कई बार घटी होगी; अचानक कोई तुमसे पूछता है, "तुमने ऐसा क्यों किया ?" और सहज उत्तर निकलता है, "मालूम नहीं।" यदि कोई तुमसे पूछता है, "किस चीज के विषय में सोच रहे हो ?" तो तुम उत्तर देते हो, "मालूम नहीं।" "तुम क्यों थके हुए हो ?" "मालूम नहीं।" "तुम क्यों प्रसन्न हो ?" "मालूम नहीं।" इत्यादि इत्यादि। निःसंदेह यदि मैं किन्हीं पचास लोगों को लूं और उनकी किसी तैयारी के बिना अकस्मात् पूछूं, "तुमने ऐसा क्यों किया ?" तो यदि वे अंदर से 'जाग्रत्' न हुए तो बस यही उत्तर देंगे, "मालूम नहीं।" (अवश्य ही मैं उन लोगों की बात नहीं कर रही जिन्होंने अपने-आपको जानने के लिये और अपनी गतियों का अंतिम सीमा तक अनुसरण करने के लिये किसी अनुशासन का अभ्यास किया है। ऐसे लोग स्वभावतः ही सचेत और एकाग्र होकर सही उत्तर दे सकते हैं, यद्यपि इसमें कुछ समय लगेगा।) यदि तुम अपने सारे दिन पर अच्छी तरह निगाह डालो तो तुम्हें पता चलेगा कि बात ऐसी ही है। तुम कोई बात कहते हो और यह भी नहीं जानते कि ऐसा क्यों कह रहे हो—जब शब्द मुंह से बाहर निकल जाते हैं केवल तभी तुम्हें यह बोध होता है कि यह बात ठीक वही नहीं थी जिसे तुम कहना चाहते थे। उदाहरण के लिये, तुम किसी से मिलने जाते हो, तुम जो शब्द कहनेवाले हो उन्हें पहले से ही तैयार कर लेते हो, किंतु उस व्यक्ति के सम्मुख पहुंचकर तुम कुछ भी नहीं कहते या तुम्हारे मुंह से कुछ और ही शब्द निकल जाते हैं। क्या तुम कह सकते हो कि उस व्यक्ति के वातावरण ने तुम पर किस हद तक प्रभाव डाला और तुमने जो बात तैयार कर रखी थी उसे कहने से

रोका ? कितने लोग यह बता सकेंगे ? उन्हें तो यह बोध भी नहीं होता कि वह व्यक्ति इस या उस अवस्था में था और इसी कारण वे उससे वह बात न कह पाये जिसकी उन्होंने तैयारी की थी। अवश्य ही, कभी-कभी ऐसे स्पष्ट अवसर आते हैं जब व्यक्ति इतनी अप्रसन्न मुद्रा में होते हैं कि तुम उनसे कुछ भी नहीं कह सकते। पर मैं ऐसी स्थिति की बात नहीं कह रही। मेरा तात्पर्य है, पारस्परिक प्रभाव के स्पष्ट बोध से, यह देख पाने से कि तुम्हारी प्रकृति पर क्या क्रिया और प्रतिक्रिया हो रही है; लोगों को इस बात की जानकारी नहीं रहती। उदाहरण के लिये, तुम अचानक बेचैन या प्रसन्न हो जाते हो; किंतु कितने लोग कह सकते हैं कि "यह बात है ?" और यह जानना है भी कठिन, यह आसान बिलकुल नहीं है। इसके लिये आवश्यक है कि हम बिलकुल 'जागृत' रहें, बहुत अधिक ध्यान के साथ निरीक्षण करते रहने की स्थिति में निरंतर बने रहें।

ऐसे लोग होते हैं जो रोज बारह घंटे सोते हैं और बाकी समय कहते हैं, "मैं जाग्रत् हूं !" ऐसे भी लोग होते हैं जो रोज २० घंटे सोते हैं और बाकी समय केवल अर्ध-जाग्रत् ही रहते हैं।

ऐसी स्थिति में रहने के लिये, जिसमें कि तुम सतर्कता से निरीक्षण कर सको, तुम्हारे पास मानों सर्वत्र ऐसे बेतार के तार रहने चाहियें जो तुम्हारी चेतना के सच्चे केंद्र के साथ सतत संपर्क बनाये रखें। तब तुम प्रत्येक चीज अंकित कर लोगे, प्रत्येक चीज संगठित कर लोगे और इस प्रकार तुम अनजाने पकड़ में नहीं आओगे, तुम धोखा नहीं खाओगे, गलती नहीं करोगे, और तुम जो कुछ कहना चाहोगे उससे भिन्न कुछ नहीं कहोगे। किंतु साधारणतः कितने लोग इस अवस्था में रहते हैं ? जब मैं "सचेतन होने" की बात कहती हूं तो मेरा तात्पर्य ठीक यही होता है। जिन दशाओं और परिस्थितियों में तुम रहते हो उनसे यदि अधिक-से-अधिक लाभ उठाना चाहते हो तो तुम्हें पूरी तरह जागृत रहना होगा; ऐसा नहीं होना चाहिये कि तुम अचानक पकड़ में आ जाओ। तुम्हें कोई काम यह जाने बिना नहीं करना चाहिये कि तुम उसे क्यों कर रहे हो, कोई बात यह जाने बिना नहीं कहनी चाहिये कि तुम उसे क्यों कह रहे हो। तुम्हें निरंतर जागरूक रहना चाहिये।

तुम्हें यह भी समझना चाहिये कि तुम लोग कोई पृथक् व्यक्तित्व नहीं हो, जीवन सब प्रकार की शक्तियों, चेतनाओं, गतियों और स्पंदनों का एक सतत आदान-प्रदान है। यह एक ऐसी चीज है मानों एक भीड़ में तुम देखते हो : जब हर एक धकेलता है, तो सब आगे बढ़ते हैं और जब सब पीछे हटते हैं तो हर एक पीछे हटता है। यही बात आंतरिक जगत् में, तुम्हारी चेतना में भी होती है। वहां तुम पर सदैव शक्तियों और प्रभावों की क्रिया-प्रतिक्रिया चलती रहती है, यह वातावरण में विद्यमान एक गैस के जैसी चीज है और यदि तुम एकदम जाग्रत् न रहो तो ये चीजें तुम्हारे अंदर प्रवेश कर जाती हैं और इनका पता तुम्हें केवल तभी चलता है जब वे तुम्हारे अंदर भली-भांति प्रविष्ट हो चुकती हैं और इस प्रकार निकलकर आती हैं मानों तुम्हारे अंदर से निकलती हों। कितनी बार ऐसा होता है कि मनुष्य किसी अन्य व्यक्ति से मिलता है जो घबड़ाया हुआ, क्रोध में या खिन्न अवस्था में है, और फिर वह स्वयं उसीके जैसा घबड़ाया हुआ या क्रुद्ध या खिन्न बन जाता है और यह नहीं जानता कि ऐसा क्यों हो गया। भला ऐसा क्यों होता है कि कुछ प्रतिद्वंद्वियों के सामने तो तुम बहुत अच्छा खेलते हो, और कुछ दूसरों के सामने नहीं खेल पाते ? और जो व्यक्ति शांत स्वभाव के हैं, दुर्जन बिलकुल नहीं हैं, वे किसी क्रुद्ध भीड़ के बीच पड़कर अचानक क्यों उग्र हो जाते हैं ! और यह कोई नहीं जानता कि किसने उस चीज की शुरूआत की; यह ठीक ऐसी चीज है जो पास से गुजर गयी और चेतना को बहा ले गयी। ऐसे लोग होते हैं जो इस तरह स्पंदन छोड़ सकते हैं और दूसरे कारण जाने बिना उसका प्रत्युत्तर देते हैं। प्रत्येक चीज, सबसे छोटी से लेकर सबसे बड़ी तक, ऐसी ही है।

किसी समूह के अंदर अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि हम अपनी

"आत्मा" के प्रति पूर्णतया सचेतन हों। पर किस "आत्मा" के प्रति ? अपनी उस 'आत्मा' के प्रति जो किसी भी प्रकार के मिश्रण से ऊपर है, जिसे मैं तुम्हारी सत्ता का 'सत्य' कहती हूं। और जब तक तुम अपनी सत्ता के 'सत्य' के प्रति सचेतन नहीं हो तबतक एकदम अनजाने में ही हर प्रकार की चीजों से चालित होते रहते हो। सामूहिक विचार और सामूहिक सुझाव का बड़ा प्रबल प्रभाव पड़ता है। व्यक्ति के विचार पर इनकी निरंतर क्रिया होती रहती है। और विलक्षण बात तो यह है कि इनकी जानकारी किसी को नहीं होती। व्यक्ति सोचता है कि वह 'अमुक प्रकार से' सोच रहा है, किंतु वास्तव में समुदाय ही इस प्रकार सोच रहा होता है। समुदाय सदा ही व्यक्ति से निम्न कोटि का होता है। तुम समान गुणवाले, एक ही श्रेणी के कुछ व्यक्तियों को लो, वे जब अकेले होंगे तब वे भीड़ में रहनेवाले उसी श्रेणी के लोगों से कम-से-कम दो डिग्री ऊपर होंगे। बात यह होती है कि भीड़ में अंधकारपूर्ण और अचेतन चीजों का मिश्रण रहता है और तुम बेबस होकर अचेतनता में फिसल जाते हो। इससे बच निकलने का बस एक ही उपाय है; वह है अपने विषय में सचेतन होना, अधिकाधिक सचेतन होना और अधिकाधिक सतर्क होना।

यह छोटा-सा अभ्यास करने का प्रयत्न करो। दिन के आरंभ में कहो, "जो कुछ मुझे कहना होगा उस पर विचार किये बिना मैं कुछ नहीं बोलूंगा।" तुम्हारा यह विश्वास है, है न, कि तुम जो कुछ भी कहते हो सोचकर कहते हो ! किंतु यह बिलकुल ही सही नहीं है, तुम देखोगे कि कितनी ही बार जो शब्द तुम बोलना नहीं चाहते वही फूट पड़ने को तैयार हैं और उसे बाहर निकलने से रोकने के लिये तुम्हें सचेतन प्रयत्न करने के लिये विवश होना पड़ता है।

मैंने ऐसे लोगों को देखा है जो झूठ न बोलने के लिये बहुत ही सावधान रहते थे; किंतु जब वे किसी समुदाय में होते थे, तो सत्य न बोलकर सहज-भाव से झूठ बोलने लगते थे। वे ऐसा करना नहीं चाहते थे पर यह "यूं ही" हो जाता था। क्यों ? —क्योंकि वे झूठ बोलनेवालों की संगति में रहते थे; उनके साथ झूठ का वातावरण होता था और बिलकुल सहजभाव से वे इस रोग से आक्रांत हो जाते थे।

इसी प्रकार थोड़ा-थोड़ा करके, धीरे-धीरे निरंतर प्रयास करके, सबसे पहले बड़ी सावधानी और सतर्कता के साथ मनुष्य सचेतन होता है, अपने-आपको जानना और बाद में अपने-आपको वश में करना सीखता है।

—श्रीमातृवाणी खण्ड ४ से

दुर्भावना के बारे में

दुर्भावना क्यों होती है ?

मेरे बच्चो, यह तो ऐसा ही है जैसे तुम मुझसे पूछो कि प्रकृति में निश्चेतना, अज्ञान और अंधकार क्यों हैं ! यह तो तुम संसार का क्यों पूछ रहे हो ! संसार ऐसा क्यों है, और तरह का क्यों नहीं ? लोगों ने इस विषय पर पोथियां लिख डाली हैं। और हर एक अपने तरीके से व्याख्या करता है और इससे तथ्य में कोई फर्क नहीं पड़ता। तुम मुझसे पूछ सकते हो, दुर्भावना क्यों है ? अज्ञान क्यों है ? मूर्खता क्यों है ? दुष्टता क्यों है ? यह सब अशुभ क्यों है ? संसार एक बहुत मनोहर स्थान क्यों नहीं है ? . . . सभी दार्शनिक तुम्हें अपने-अपने ढंग से यह चीज समझायेंगे। जड़वादी अपने ढंग से व्याख्या करते हैं, वैज्ञानिक अपने तरीके से समझाते हैं, लेकिन इनमें से कोई भी इससे पिंड छुड़ाने का तरीका नहीं पा सकता। और आखिर, एकमात्र महत्त्वपूर्ण चीज होगी (तुम पूछते हो : दुर्भावना क्यों है ?) ऐसा रास्ता खोजना जिससे दुर्भावना और न रहने पाये। वह कष्ट उठाने लायक बात होगी; अगर तुम मुझसे कहो : दुःख क्यों है, दरिद्रता क्यों है ? . . . तो इससे तुम्हरा क्या बनेगा ?

इस क्यों से क्या होगा, जबतक कि वह कोई उपाय बताने का साधन न हो ? मुझे नहीं लगता कि इससे कुछ लाभ होगा क्योंकि (हम यहां यह बात कर चुके हैं), अगर तुम क्यों की खोज करो तो तुम अपने अंदर सब तरह की व्याख्याएं पा लोगे जो न्यूनाधिक रूप में बेकार होंगी और उनसे कुछ न बनेगा।

तथ्य तो यह है कि बात ऐसी है, है न ? और दूसरा तथ्य है कि हम ऐसा नहीं चाहते और तीसरी चीज है ऐसे उपाय ढूंढ़ना जिससे ऐसा न रहने पाये। यह हमारी समस्या है। दुनिया वैसी नहीं है जैसी कि हम सोचते हैं कि होनी चाहिये, दुनिया में बहुत-सी चीजें हैं जिन्हें हम पसंद नहीं करते। हां, संसार में ऐसे लोग हैं जिन्हें वह चीज बहुत पसंद है जिसे वे "ज्ञान" कहते हैं और वे यह जानने की कोशिश शुरू कर देते हैं कि ऐसा क्यों है। एक तरह से यह बहुत अच्छा है, लेकिन जैसा कि मैंने कहा, यह जानना कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण होगा कि क्या किया जाये जिससे चीज और तरह की हो जाये। यही समस्या है जो बुद्ध ने अपने सामने रखी थी। कहा जाता है कि वे पेड़ के नीचे बैठ गये और जब तक समाधान न मिल गया बैठे रहे। लेकिन उनका समाधान बहुत अच्छा नहीं है; जब तुम मुझसे कहते हो : "संसार बहुत बुरा है," तो उनका समाधान है : "संसार को ही समाप्त कर दो।" —जैसा कि श्रीअरविंद ने कहीं लिखा है : "किसके लाभ के लिये ?" तब संसार बुरा नहीं रहेगा क्योंकि उसका अस्तित्व ही न होगा ? लेकिन तब फिर बुरा न रहने का अर्थ ही क्या है जब उसका अस्तित्व ही न रहे ! यह बहुत साधारण-सा तर्क है। यह उन लोगों की तरह है जो चाहते हैं कि समस्त संसार अपने 'मूल' की ओर लौट जाये; तो श्रीअरविंद उत्तर देते हैं : "तुम किसी ऐसी चीज के सर्वशक्तिमान् स्वामी होगे जिसका कोई अस्तित्व ही नहीं रहा, साम्राज्य के बिना सम्राट्; राज्यहीन राजा !" बस, यही है . . .। यह एक समाधान है। लेकिन इससे अच्छे और समाधान भी हैं। मेरा ख्याल है, हमने ज्यादा अच्छे समाधान पाये हैं।

कुछ का कहना है कि दुर्भावना अज्ञान से आती है (बुद्ध भी ठीक इसी बात का दावा करते थे), और अगर अज्ञान गायब हो जाये तो कोई दुर्भावना न बाकी रहेगी। दूसरे हैं जो कहते हैं कि दुर्भावना विभाजन से, अलगाव से आती है, कि यदि विश्व अपने मूल से कट न गया होता तो कोई दुर्भावना न होती। कुछ दूसरे हैं जो कहते हैं कि दुर्भावना ही हर चीज का कारण है, विभाजन का भी और अज्ञान का भी; तो, अब यह समस्या उठती है : यह दुर्भावना आती कहां से है ? अगर वह हर चीज के आरंभ में थी तो इसका मतलब होगा कि वह हर चीज के मूल में थी। और तब, मेरे बच्चो, हम एकदम खो-से जाते हैं ! हम बरसों अनुमान लगा सकते हैं, पर कभी उससे बाहर न हो पायेंगे। इसलिये जो लोग तुम्हें इतनी दूर तक खींच ले जाते हैं वे अंत में कहते हैं : दुर्भावना है ही नहीं, यह भ्रांति है। और यह इसलिये कि वे अपने तर्क के बीच में ही अटक जाते हैं; अगर वे जरा और आगे बढ़ते तो कह सकते थे : शायद यह, दुर्भावना, मनुष्य की खोज है . . .। यह संभव है !

—श्रीमातृवाणी खण्ड ५ से

अन्तर में भगवान्

हमारे अंदर जो कुछ पूरी तरह अन्तर के भगवान् को निवेदित नहीं है, वह टुकड़े-टुकड़े करके वस्तुओं की उस समग्रता के अधिकार में है जो हमें घेरे रहती है और उस चीज पर क्रिया करती है जिसे हम अनुचित रूप में अपना "आपा" कहते हैं। वह या तो इन्द्रियों के द्वारा या सुझावों के द्वारा सीधी मन पर क्रिया करती है।

सचेतन सत्ता बनने का, स्वयं बनने का एक ही मार्ग है और वह है भागवत आत्मा के साथ एक होना जो सब में विद्यमान है। उसके लिये, हमें एकाग्रता की सहायता से अपने-आपको बाहरी प्रभावों से अलग कर लेना चाहिये।

जब तुम अंतर में भगवान् के साथ एक होते हो तो तुम सभी चीजों के साथ उनकी गहराइयों में एक हो जाते हो। तुम्हें उस भागवत तत्त्व से, "उसी" के द्वारा उनके साथ नाता जोड़ना चाहिये। तब तुम बिना किसी आकर्षण या अपकर्षण के, जो "उनके" नजदीक हो उसके नजदीक और जो कुछ "उनसे" दूर हो उससे दूर होगे।

दूसरों के साथ रहते हुए तुम्हें हमेशा एक दिव्य उदाहरण होना चाहिये। तुम्हें एक ऐसा अवसर बनना चाहिये जो उन्हें भागवत जीवन को समझने और दिव्य जीवन के मार्ग पर चलने के लिये दिया गया है। इससे बढ़कर कुछ नहीं। तुम्हारे अंदर यह चाह भी न होनी चाहिये कि वे प्रगति करें क्योंकि यह भी तुम्हारी मनमानी होगी।

जब तक तुम अंदर के दिव्यत्व के साथ एक नहीं हो जाते तब तक बाहर के साथ संबंधों के बारे में सब से अच्छा तरीका यह है कि जिन्हें इस एकता का अनुभव है उनकी एकमत से दी हुई सलाह के अनुसार चलो।

हमेशा सतत शुभेच्छा की स्थिति में रहना—इसे अपना नियम बना लो, किसी चीज से परेशान न हो और किसी की परेशानी का कारण न बनो और, जहां तक हो सके, किसी को कष्ट न पहुंचाओ।

८ जून, १९१२ माताजी

उद्घाटन

माताजी के प्रति स्वयं को हमेशा खुला रखो, उन्हें हमेशा याद रखो तथा अन्य सभी प्रभावों को त्याग कर उनकी शक्ति को अपने अंदर कार्य करने दो—यही योग का नियम है।

*

इस योग का समस्त सिद्धांत है स्वयं को भागवत प्रभाव के प्रति खोलना। वह तुम्हारे ऊपर मौजूद है, अगर तुम उसके प्रति सचेतन हो जाओ तब तुम्हें उसका आह्वान कर उसे नीचे अपने अंदर उतारना होगा। वह मन तथा शरीर में शांति, प्रकाश, कार्य करनेवाली शक्ति, निराकार या साकार भागवत उपस्थिति, आनंद के रूप में उतरता है। इस चेतना को पाने से पहले तुम्हारे अंदर उद्घाटन के लिये श्रद्धा होनी चाहिये, तुम्हें उसके लिये अभीप्सा करनी चाहिये। अभीप्सा, पुकार, प्रार्थना सभी एक तथा समान चीज के रूप हैं और सभी प्रभावकारी होते हैं। जो तरीका तुम्हारे पास आये या जो तुम्हारे लिये सब से अधिक आसान हो तुम उसे अपना सकते हो। दूसरा है एकाग्रता का तरीका; तुम अपनी चेतना को हृदय में एकाग्र करो (कुछ लोग सिर में या सिर के ऊपर करते हैं) और माताजी के बारे में हृदय में ध्यान करो और उन्हें वहां बुलाओ। तुम किसी एक का या अलग-अलग समय पर दोनों का अनुसरण कर सकते हो—जो मार्ग तुम्हारे पास स्वाभाविक रूप से आये या जिसको करने के लिये तुम तत्क्षण प्रेरित हुए हो। विशेष रूप से आरंभ में एक सबसे बड़ी आवश्यकता है मन को अचंचल बनाना, ध्यान के समय साधना से विजातीय सभी विचारों तथा गतियों को अस्वीकार करना। अचंचल मन में अनुभूति के लिये उत्तरोत्तर तैयारी होगी। लेकिन अगर सब कुछ तुरंत न हो जाये तो तुम्हें अधीर न हो उठना चाहिये; मन में पूर्ण अचंचलता लाने में समय लगता है, तुम्हें तब तक लगे रहना चाहिये जब तक चेतना तैयार न हो जाये।

—श्रीअरविंद

सत्यतपस्या

कदाचित् शक्तिं प्राप्तुकामः कश्चिद् जनः तपश्चरणाय निश्चितवान्। कृतसङ्कल्पः सः वनं गत्वा कस्यचित् वृक्षस्य मूले समाधिस्थः अभूत्। 'इच्छा यत्र उपायस्तत्र'। तस्य युवकस्य अनेकदिनानां तपस्या अपि फलीभूता। नेत्रे उन्मील्य तेन अन्तरे, बहिर्, सर्वत्रैव तथा आश्चर्यकरं परिवर्तनं लक्षितं यत् आनन्देन रोमाञ्चितं तस्य कृत्स्नं शरीरम्। किन्तु हा हन्त! तत्क्षणं वृक्षस्थः कश्चित् काकः तं विष्ठया अपवित्रमकरोत्। क्रोधेन काकमपश्यत् सः, ईषत् शक्तिसम्पन्नस्य तस्य रोषाग्निना दग्धः निर्दोषः काकः भूमौ अपतत्। आश्चर्यान्वितस्य तपस्विनः मनसि अहङ्कारनादः गुञ्जितः—"अहो! सिद्धपुरुषोऽहम्!!" स्वसिद्धिं दर्शयितुं वनात् नगरं प्रति अगच्छत् सः। मार्गमध्ये एव क्षुधया पीडितः। वने भुक्तानि स्युः कन्दमूलानि किन्तु अधुना तु भिक्षायाचनमेवासीत् एकमात्रः उपायः। किमपि गृहं प्राप्य, "तपस्वी तिष्ठति द्वारे, भिक्षां ददातु" इति उच्चैः अवदत्। गृहलक्ष्मीः अभ्यन्तरात् अवदत्—"महात्मन्, क्षणं तिष्ठतु, एषा आयाम्यहम्।" अस्वस्थस्वामिनः सेवायां मग्ना आसीत् सा, प्रतीक्षारतस्य तपस्विनस्तु क्षणमपि युगायते स्म। तेन पुनः आहूतम्। गृहिण्या भणितम्—"आयामि भगवन्, शय्याधीनं पतिं जलं पाययित्वा बहिरेव आयामि।" बुभुक्षोः तपस्विनः क्रोधाग्निः ईषत् प्रज्ज्वलितः, प्रतीक्षाकालः असह्यः जायते स्म, स्वक्रोधः शब्दैः प्रदर्शितः तेन। गृहिणी अन्तरात् उदतरत्—"भो महाराज, न वसन्ति अत्र काकाः ये भवतः क्रोधाग्निना भस्मीभवेयुः।"

गृहिण्याः इदं वाक्यं किङ्कर्तव्यविमूढतां प्रापयत् तम्। निर्वाक् अतिष्ठत् द्वारदेशे। क्षुधापिपासे क्षणेन लुप्ते। गृहिणीं सम्मुखे दृष्ट्वा एकमेव प्रश्नमकरोत्—"का भवती? कथं ज्ञातः वनस्य वृत्तान्तः?" विहस्य गृहिणी अवदत्—"महाराज, स्वीकरोतु पूर्वं यत्किञ्चिदानयमहम्, भवतः प्रश्नस्य समाधानं तु कर्तुं शक्नोति सः सम्मुखस्थः आपणिकः अपि।"

तपस्वी अविलम्बं प्राप्तः तत्र। आसीत् सम्मर्दः, किन्तु अस्मिन् वारे आक्रोशेन तेन स्वस्य उपस्थितिः न घोषिता, तूष्णीकः अतिष्ठत् एकस्मिन् कोणे। सम्मर्दे विसर्जिते आपणिकः तमभिनन्द्य अकथयत्—"महात्मन्, आगतो भवान् स्वजिज्ञासां शमयितुं मम सकाशे। अपि न प्राप्तं अधुनावधि भवता स्वप्रश्नस्य उत्तरम्?"

ईषत्-तपःशक्त्या आध्मातः भवतः अहङ्कारः। मन्यते च भवान् यत् शक्तिसम्पन्नः विश्वाधिपतिः अहं, सामान्यनागरिकाणां स्थितिः मे पादतले इति। अपि जानाति भवान् सा पतिव्रता सामान्या नारी भवतः अधिकं तपश्चरति या अहर्निशं सरलभावेन रुग्णं पतिं सेवते? अहङ्कारमदेन आत्मानं सम्राजं मन्यमानेन भवता भवितव्यं पूर्वं स्वराजा . . .।

सच्ची तपस्या

एक बार की बात है, शक्ति का इच्छुक एक व्यक्ति जंगल में तपस्या के लिये निकल पड़ा। वन में एक पेड़ के नीचे उसने आसन जमाया। कहते हैं, 'जहां चाह वहां राह', उस युवक की कई दिनों की तपस्या भी सफल हुई। जब उसने आंखें खोलीं तब अंदर, बाहर के परिवर्तन को देख वह रोमांचित हो उठा। हाय भगवान्, उसी समय पेड़ पर बैठे कौए की बीट से वह अपवित्र हो गया। गुस्से के साथ तपस्वी ने कौए की ओर नजर उठायी, कुछ शक्ति तो पा ही ली थी, बस उसकी तमतमायी हुई दृष्टि ने निर्दोष कौए को जलाकर राख कर दिया। यह देखकर तपस्वी के आश्चर्य का ठिकाना न रहा। अहंकार उसके सिर पर चढ़कर बोलने लगा, "ओह, मैं तो सिद्ध पुरुष बन गया।" अपनी सिद्धि का प्रदर्शन करने वह शहर की ओर चल पड़ा।

रास्ते में तपस्वी को बहुत जोर की भूख सताने लगी, जंगल तो था नहीं कि कन्द-मूल खा लेता। अब तो उसे नगर में जाकर भिक्षाटन द्वारा ही निर्वाह करना था। एक घर के सामने जाकर उसने टेर लगायी। अंदर से गृहिणी की आवाज आयी, ''महाराज, अभी आयी।'' गृहिणी अपने बीमार पति की सेवा-सुश्रूषा में लगी थी, इधर भूखे-प्यासे तपस्वी का एक-एक पल युग के समान बीत रहा था, उसने फिर से आवाज लगायी। इस बार भी गृहिणी ने जब जरा प्रतीक्षा करने के लिये कहा तो क्रुद्ध तपस्वी बड़बड़ाने लगा, तभी अंदर से आवाज आयी, ''महाराज, यहां कौए नहीं बसते जो आपके गुस्से से जलकर भस्म हो जायेंगे।''

यह वाक्य सुनते ही तपस्वी सकते में आ गया। भूख-प्यास मानों छूमंतर हो गयीं। जब गृहिणी बाहर आयी तो सबसे पहले तपस्वी ने उससे यही प्रश्न किया, ''कौन हैं आप, वन के उस वृत्तान्त के बारे में आप कैसे जानती हैं ?'' स्त्री ने मुस्करा कर कहा, ''महाराज, पहले भिक्षा तो ग्रहण करें। आपकी जिज्ञासा का समाधान तो वह सामनेवाला दुकानदार भी कर सकता है।''

तपस्वी उसी समय उस दूकानदार के पास गया। वहां बड़ी भीड़ लगी थी लेकिन इस बार वह चुपचाप एक कोने में जाकर खड़ा हो गया। भीड़ के छंटते ही दूकानदार ने उसका अभिवादन करके कहा, ''महाराज, अपनी जिज्ञासा शांत करने आप यहां आये हैं, लेकिन क्या आपको अपने प्रश्न का उत्तर नहीं मिला ?''

''तपस्या की जरा-सी शक्ति पाकर आपका अहंकार फूल उठा, आपने सोचा, मैं हूं सिद्ध पुरुष, संसार का राजा, सामान्य स्त्री-पुरुषों का स्थान तो मेरे चरणतल में है, लेकिन क्या आप जानते हैं, वह पतिव्रता, सामान्य नारी आपसे कहीं ज्यादा तपस्या कर रही है जो रात-दिन पूरी निष्ठा के साथ अपने अस्वस्थ पति की सेवा में लगी हुई है। अहंकार के मद से आपने अपने-आपको सम्राट् की पदवी दे डाली लेकिन उससे पहले आप स्वराट् तो बनिये . . .।''

—वन्दना

ग्राहकों और पाठकों के नाम आवश्यक सूचना

कई वर्षों से हम यह प्रयास करते आ रहे हैं कि पुरोधा व अग्निशिखा का चंदा न बढ़ाया जाये, परंतु अब वर्तमान स्थिति को देखते हुए यह एकदम असंभव हो गया है और अभी के लिये हमने यह निश्चय किया है कि अग्निशिखा का वार्षिक चंदा १५ रु. और पुरोधा का २० रु. कर दिया जाये।

आजीवन सदस्यता के लिये भी दोनों पत्रिकाओं का चंदा मिलाकर ७०० रु. और अलग-अलग—पुरोधा के ४०० और अग्निशिखा के ३०० रु. होंगे। आप अपनी सुविधा के लिये ये रुपये किस्त में भी भेज सकते हैं। आजीवन सदस्यता २० वर्ष के लिये मानी जायेगी।

वी० पी० पी० का खर्च भी बहुत ज्यादा बढ़ गया है और वी० पी०पी० वापिस आ जाये तो हमें एक करारी चपत लगती है, इसलिये विचार यह है कि दिसंबर से वी० पी० पी० की व्यवस्था स्थगित कर दी जाये। अगर कोई अपने-आप मंगवाना चाहें तो उनके लिये वी० पी० पी० भेजी जा सकेगी।

यहां से पुरोधा हर महीने की दस तारीख को और अग्निशिखा महीना शुरू होने से पहले २५ को भेजी जाती है। यदि पत्रिका आपके पास पंद्रह दिनों के अंदर न पहुंचे तो सूचना अवश्य दीजिये।

कृपया अपना चंदा धनादेश, पोस्टल-ऑर्डर या ड्राफ्ट द्वारा ही भेजें, चेक आने पर हमें बहुत ज्यादा असुविधा होती है। चंदा भेजते समय अपनी सदस्यता-संख्या लिखना न भूलें।

हम आशा करते हैं कि जिन ग्राहकों ने पुराने चंदे के हिसाब से अग्रिम धनराशि भेज दी है वे कृपया बकाया पैसा चुकाकर पत्रिकाओं को जारी रखने में हमारी पूरी मदद करेंगे।

—संपादक पुरोधा एवं अग्निशिखा

कल की दुनिया

बापू की दृष्टि में
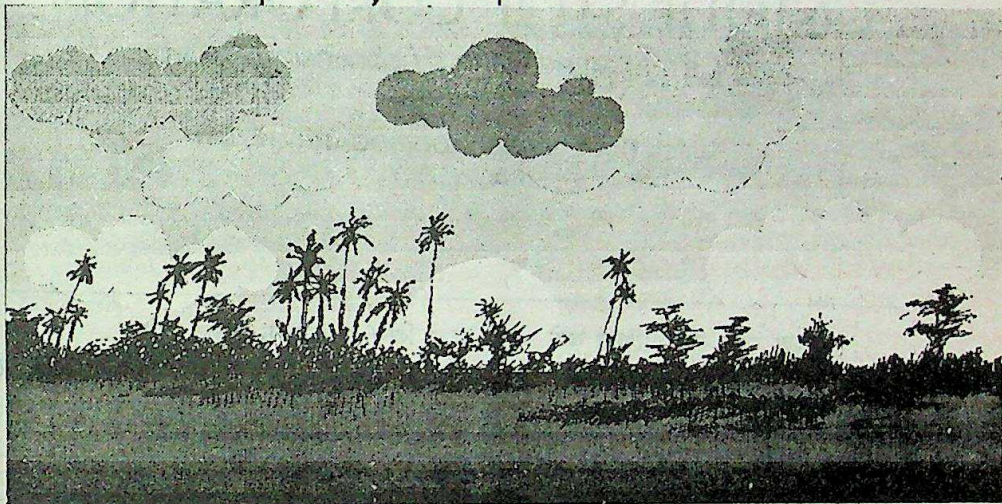
"कल की दुनिया अहिंसा पर आधारित होगी, होनी भी चाहिए। यह बुनियादी नियम है। बाकी सब कुछ अपने आप होता चला जायेगा।

व्यक्ति, समूह और राष्ट्र सब को अहिंसा और प्रेम का मार्ग ही अपनाना पड़ेगा।

यदि ऐसा हुआ तो आने वाले कल की दुनिया में न गरीबी होगी, न युद्ध होंगे, न उलट-फेर होंगे, न ही रक्तपात होगा।"

प्रगति के पथ पर – शांति के साथ

davp 91/388

संकल्प को कभी डगमगाना नहीं चाहिये, प्रयास निरंतर बना रहना चाहिये और श्रद्धा अडिग होनी चाहिये।

—श्रीमां

खुश रहने की कोशिश करो—तुम तुरन्त दिव्य प्रकाश के निकट होगे।

—श्रीमां

अपने-आपको माफ कर देने से कोई फायदा नहीं। तुम्हारे अन्दर यह संकल्प होना चाहिये कि एक बार जो भूल तुम कर चुके हो उसमें वापिस न गिरोगे।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.

THE MOTHER

प्रार्थना और ध्यान

१६ अगस्त १९१३

हे प्रेम, हे दिव्य प्रेम, तू मेरी समस्त सत्ता को भर देता है और चारों ओर छलकता है। मैं तू हूं और तू मैं, मैं तुझे हर सत्ता में देखती हूं, हर वस्तु में, मंद पवन के कोमल श्वास से लेकर हमें प्रकाशित करनेवाले, तेरे प्रतीक, जाज्वल्यमान सूर्य तक में मैं तुझे देखती हूं।

हे तू, जिसे मैं समझ नहीं सकती, शुद्धतम भक्ति की नीरवता में मैं तेरी आराधना करती हूं।

—श्रीमां

'मैं'
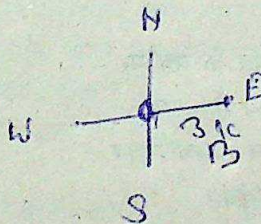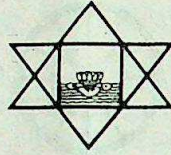
मानव अहम्मन्यता और अभिमान का यह 'मैं' उद्धत
एक पुत्तलिका है प्रकृति द्वारा अपने उपयोग के लिये निर्मित,
जो नाचता है उसके प्रखर रूप से धारहीन,
सशक्त रूप से दुर्बल कठोर आदेशों के अधीन।

उसका उत्प्लुतन है हमारे विचलनशील मन का चिंतन,
उसके बनाये करणों से हम करते श्रवण और दर्शन :
हमारा बल उसका है; उसके रंगों के संयोजन
से हम करते हैं अपनी भव्य रंगमयता का प्रदर्शन।

अभ्यन्तर में आसीन वह गढ़ता है प्रकृति के यंत्र पर
इन प्राणियों को, जो हैं उसके गूढ़ रहस्य के अंग,
उसकी महाप्रशांत सूर्याभा के वामनाकार किरण निकर,
उसकी एकमेवाद्वितीय अनंतता के प्रतिबिंब।

विश्वगत कर्म और चिंतन का अधिष्ठाता परमात्मन्।
इस नगण्य इकाई के आकार का करता है नियोजन।

अनु० —अमृता भारती

—श्रीअरविंद

दैनन्दिनी

दिसंबर

१. अगर लोग बोलने, करने या लिखने से पहले जरा शांत रह सकें तो बहुत-सी कठिनाइयों से बचा जा सकता है। इतनी सारी चीजें व्यर्थ में कही जाती हैं, वे गलतफहमियां लाती और दुर्भावना पैदा करती हैं। मौन के द्वारा इनसे बचा जा सकता है।

२. अगर वही शब्द बोले जाते जिनका बोलना जरूरी हो तो यह धरती बहुत ही शांत स्थान होती।

३. जगत् व्यर्थ बकवास के कारण बहरा हो रहा है।

४. मौन रहने की शक्ति में बहुत बल होता है।

५. आध्यात्मिकता का वातावरण शब्दों के आदान-प्रदान की अपेक्षा अधिक मदद देता है।

६. तुम्हें हमेशा वह करना चाहिये जो तुम कहते हो लेकिन जो कुछ तुम करते हो उसे कहना बहुत बुद्धिमत्ता नहीं है।

७. तुम जब भी बोलो सच बोलो, लेकिन कभी-कभी न बोलना ज्यादा अच्छा होता है।

८. भौतिक चीजों के बारे में बोलते समय तुम्हारी शैली सजीव, प्रीतिकर और मनोरंजक होनी चाहिये, प्राणिक चीजों के बारे में बोलते समय शैली अर्थपूर्ण होनी चाहिये, मानसिक चीजों के बारे में बोलते समय शैली स्पष्ट, यथार्थ और सुनिश्चित होनी चाहिये और चैत्य विषयों में बोलते समय शैली अंतःप्रेरित होनी चाहिये।

९. चीजें कोमलता के साथ कह सकना हमेशा बल का चिह्न होता है और अप्रियता के साथ उबल पड़ना हमेशा दुर्बलता का सूचक होता है।

१०. क्रोध हमेशा लोगों से मूढ़ता-भरी बातें ही कहलवाता है।

११. डींग मारना प्रगति के मार्ग में बहुत बड़ी बाधा होता है और अगर तुम सच्ची प्रगति करने की अभीप्सा करते हो तो तुम्हें सावधानी के साथ इस मूर्खता से बचना चाहिये।

१२. आलोचना करने की आदत अन्य बहुत-सी आदतों की अपेक्षा अधिक विनाशक होती है।

१३. अनुपयोगी ढंग से बोला गया हर शब्द गपबाजी है, हर दुर्भावनापूर्ण बोला गया निंदात्मक शब्द चेतना का स्खलन होता है।

१४. जब निंदा भद्दी भाषा, गंदे ढंग से प्रकट की जाये तो यह आत्महत्या के बराबर है—आत्मा की हत्या के बराबर।

१५. जब अज्ञान में कोई औरों के बारे में बुरी बातें करता है तो वह अपनी चेतना को भ्रष्ट और अपनी आत्मा को निम्न करता है, मानपूर्वक विनीत भाषा में बोलना ही शिष्य को शोभा देता है।

१६. निंदाभरे भाव को दूर करने के लिये, जो भाषा के असंयम में प्रकट होता है, जब तुम ऐसी अवस्था में हो तो एकदम चुप रहो—जरूरी हो तो अपना बोलना भौतिक रूप से असंभव कर दो। निर्दय होकर अपना अध्ययन करो, तुम देखोगे कि जिन चीजों को तुम औरों में इतना बेतुका मानते हो, वे सब तुम्हारे अंदर मौजूद हैं। अपनी प्रकृति में उन बुरी चीजों के विपरीत रूप (नम्रता, सद्भावना, शुभेच्छा) पैदा करो और आग्रह करो कि वे विकसित हों और विरोधी चीजों को हटा दें।

१७. बल और सुरक्षा, हृदय में स्थित भागवत उपस्थिति से आते हैं।

१८. अगर तुम इस उपस्थिति को अपने अंदर बनाये रखना चाहते हो तो अपने मन, वचन और कर्म में गंवारूपन न आने दो। स्वच्छन्दता और आचरण की उच्छृंखलता को स्वाधीनता न समझ बैठो। विचार शुद्ध होने चाहियें और अभीप्सा तीव्र।

१९. जब तुम लोगों से बातचीत करो तो जाग्रत् उपस्थिति और सुरक्षा को अपने चारों ओर बनाये रखो, जब बातचीत करो तो कम-से-कम बोलो।

२०. जो लोग तुम्हारी बात नहीं समझ पाते उनके आगे चुप रहना ही ठीक है। भगवान् तुम्हारे साथ हैं और बस यही महत्त्वपूर्ण है।

२१. निश्चय ही औरों के दोषों के बारे में बोलना बहुत बुरा है, हर एक के अंदर त्रुटियां होती हैं और उनके बारे में सोचते रहना उन्हें दूर करने में सहायक नहीं होता।

२२. बोलने में—बोलने की अपेक्षा लिखने में अधिक—तुम तेजी से भगवान् की ओर बढ़ने की अभीप्सा के बारे में अपनी अच्छे-से-अच्छी वृत्ति बनाये रखो।

२३. बोलते समय और उससे भी बढ़कर लिखते समय अपना यह नियम रखो कि केवल वही बोलो या लिखो जो एकदम अनिवार्य है। अगर तुम सचाई के साथ इसका अनुसरण करो तो यह बहुत अच्छा अनुशासन है।

२४. जानना पर्याप्त नहीं है, अभ्यास करो, दिखावा करना काफी नहीं है, तुम्हें होना चाहिये।

२५. बोलो मत, कर्म करो, घोषणा न करो, उपलब्ध करो।

२६. सत्य के मार्ग पर अधिक जानने के लिये जितना तुम जानते हो उसपर आचरण करो।

२७. जरा-सा सच्चा आचरण बहुत सारे लिखे या बोले गये शब्दों से अधिक मूल्यवान् है।

२८. आचरण की एक बूंद सिद्धांतों और अच्छे निश्चयों के सागर से बढ़कर है।

२९. जानना अच्छा है, जीना ज्यादा अच्छा है, होना—यह आदर्श है।

३०. तुम्हारी प्रकृति में जो नहीं है उसे पाने के लिये, जिसे तुम अभी तक नहीं जानते उसे जानने के लिये, जिस काम को तुम अभी तक नहीं कर सकते उसे कर सकने के लिये तुम्हारे अंदर अटल संकल्प होना चाहिये।

३१. तुम्हें व्यक्तिगत कामना के अभाव से आनेवाले प्रकाश और शांति में निरंतर प्रगति करनी चाहिये।

——*——

मन प्राण और शरीर के लिये विनयशील होने का अर्थ है, यह कभी न भूलना कि वे भगवान् के बिना कुछ नहीं जानते, वे कुछ भी नहीं हैं, वे कुछ नहीं कर सकते, भगवान् के बिना वे केवल अज्ञान, अव्यवस्था और असमर्थता हैं। केवल भगवान् ही सत्य, जीवन, शक्ति, प्रेम और सुख-शांति हैं।

अतः मन, शरीर और प्राण को एक बार और हमेशा के लिये यह सीख लेना और अनुभव कर लेना चाहिये कि वे भगवान् को केवल उनके तत्त्व में ही नहीं बल्कि उनकी क्रिया और अभिव्यक्ति में भी समझने और उनका मूल्यांकन करने में पूरी तरह से असमर्थ हैं।

केवल यही है विनयशीलता; और इसके साथ आती है अचंचलता और शांति।

सभी विरोधी आक्रमणों के विरुद्ध यही सबसे अधिक सुरक्षित ढाल है। वस्तुतः मनुष्य में घमंड वह द्वार है जिसपर विरोधी खटखटाता है, यही वह द्वार है जो खुलकर उसे अंदर आने के लिये राह देता है।

—माताजी

'कुछ माताजी के बारे में' :

परिवर्तन की चाबी

माताजी की एक छोटी-सी पुस्तक है जो शायद १९३८ या ३९ में छपी थी जिसमें आध्यात्मिक जीवन की आधारभूत बातों पर वे सूत्र-रूप से बोलती हैं। वे कहती हैं, "हर व्यक्ति और हर वस्तु के हृदय में भगवान् विराजमान हैं और जब तुम भीतर निवास करनेवाले भगवान् के साथ एक हो जाओ तो तुम हर चीज के साथ उसकी गहराई में एक हो जाते हो।" "अहंकार को चटका दो और भगवान् को खोजो, उन्हींके साथ एक हो जाओ।" तुम भगवान् के साथ एक हुए बिना बाहर से आनेवाले सभी प्रकार के झूठे प्रलोभनों, विरोधी सुझावों, भरमानेवाले कुतर्कों, अशुभ प्रेरणाओं के शिकार हो जाते हो।"

मानवजाति सब तरह की समस्याओं का शिकार है। माताजी कहती हैं, "सरकारों के बाद सरकारें आती हैं, शासनों के बाद शासन आते हैं, शताब्दियों के बाद शताब्दियां आती रही हैं परंतु मनुष्य का दुःख-दर्द जैसा-का-तैसा बना रहता है तो इसका हल क्या है ? स्पष्ट है कि जबतक मनुष्य मनुष्य रहेगा, मानसिक की जगह अतिमानसिक प्राणी न बनेगा, अतिमानसिक या दिव्य चेतना को न पा लेगा, तबतक कोई स्थायी समाधान न हो सकेगा।"

"जीवन में हमें उच्चतर आध्यात्मिक विधान, जो ऊपर है, तथा मनुष्य के बनाये हुए उन नैतिक और सामाजिक विधानों में भेद करना सीखना होगा जो सापेक्ष और क्षणभंगुर होते हैं। लेकिन हमें सामान्य मानव कानूनों को छोड़ने से पहले मज़बूती से अपने पांव आध्यात्मिक या दिव्य विधान पर जमा लेने होंगे, नहीं तो यह मुसीबत को बुलाना होगा।"

निम्नतर मानव और उच्चतर भागवत विधानों की तरह निम्नतर मानव न्याय और उच्चतर भागवत न्याय भी होता है। निम्नतर न्याय आंख के बदले आंख और दांत के बदले दांत कहता है जब कि उच्चतर न्याय का कहना है, "केवल भागवत कृपा में ही वह शक्ति है जो हस्तक्षेप करके वैश्व न्याय के मार्ग को बदल दे। अवतार का महान् कार्य है धरती पर भागवत कृपा को अभिव्यक्त करना।"

माताजी के ध्यान द्वारा शिष्य की सच्ची अभीप्सा की हर लहर शिष्य के अंदर भागवत कृपा के हस्तक्षेप को बुलाती है।

"समस्त जीवन एक भयंकर यात्रा और संघर्ष है। जो असावधान है वह किसी भी समय गिर सकता है, फिसल पड़ता है या सापेक्षताओं की भूल-भुलैया में फंस जाता है। मानव जीवन के तत्त्वों में—भौतिक, प्राणिक, मानसिक और चैत्य तत्त्वों में—चैत्य ही जन्मों की शृंखला द्वारा सातत्य के तत्त्व को बनाये रखता है और चैत्य के जागने से ही हम भागवत चेतना में विकसित हो सकते हैं और शक्ति तथा ज्ञान के उस स्तर से ही हमारी समस्याओं को भली-भांति समझा और हल किया जा सकता है।"

"मानवजाति की अवस्था में सुधार केवल रूपांतर और मानव चेतना के प्रकाशित होने से ही आ सकता है।"

इस तरह थोड़े-से शब्दों में माताजी ने परिवर्तन की चाबी हमें थमा दी है। सामान्य चेतना के मन से अतिमन में जाने से ही सब समस्याओं का पूरा हल हो सकता है।

(आयंगार कृत 'ऑन द मदर' पुस्तक के आधार पर)

'भारतीय संस्कृति के आधार' पर आधारित :

नूतन धर्म का आविर्भाव

हमने पिछले लेख में चर्चा की थी कि भारत ने विभिन्न धर्मों के आचार-व्यवहारों को अपनाया, लेकिन क्या इन विभिन्न धर्मों का मिश्रण भारत है ? उदाहरण के लिये ब्रह्म समाज, वैष्णव धर्म, मठवाद इत्यादि की लहरों ने भारत को अपने-अपने काल में ओत-प्रोत किया, लेकिन इनमें से कोई भी या सब मिलाकर शायद संपूर्ण भारत की स्थिरता का नक्शा नहीं खींचते। ये विभिन्न धाराएं निश्चित रूप से भारतीय आध्यात्मिक मानस का प्रारंभिक आत्म-अन्वेषण हैं जो अपने विस्मृत अतीत को फिर से प्राप्त कर भविष्य की ओर बढ़ रहा है। भारत विभिन्न धर्मों का मिलन-स्थान है और इन धर्मों में हिंदूधर्म ही एक विशाल और जटिल वस्तु है, वह इतना धर्म नहीं जितना आध्यात्मिक विचार, उपलब्धि और अभीप्सा का महान्, विविधतापूर्ण लेकिन फिर भी सूक्ष्म रूप से एकीकृत समूह है। इस हलचल और खमीर का अंततः क्या परिणाम निकलेगा वह तो अभी भविष्य के गर्भ में है। विभिन्न क्रिया-कलापों के नये लाभदायक परिणाम सामने आ रहे हैं, अर्थात् पुराने विस्मृत आचार-विचारों को नयी ऊर्जा के साथ पुनरुज्जीवित किया जा रहा है, प्राचीन शास्त्रों, तपस्या इत्यादि को नये वर्तमान प्रकाश में परखने, पुनःस्थापित करने का प्रयास किया जा रहा है—इसमें वेदांत, वेद, पुराण, योग आ जाते हैं और तंत्र पर भी नूतन प्रकाश पड़ रहा है—इनके सच्चे अर्थ को समझने का प्रयास किया जा रहा है, हो सकता है कि हमेशा पूरी सफलता न मिले लेकिन समझने का प्रयास, उसे जीवन में उतारने की चाह ही अपने-आपमें पूर्णता की ओर बढ़ाया गया एक कदम है, क्योंकि इसका अंतिम परिणाम चाहे कुछ क्यों न हो, यह तो स्पष्ट है कि आध्यात्मिक तथा धार्मिक गतिविधि का यह बोलबाला ही नये भारत का भी प्रधान वैशिष्ट्य रहेगा; और यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि आध्यात्मिक तथा धार्मिकेतर क्षेत्रों में जहां भारत की प्रवृत्ति अभी हाल तक रचनात्मक होने के स्थान पर कहीं अधिक संकटापन्न रही है, अर्थात् अन्य क्षेत्रों में वह बहुत डूबता-उतराता सा रहा है, लेकिन इस क्षेत्र में इसका प्रत्येक आवेग आदि से अंत तक शक्तिशाली रूप में सर्जनात्मक रहा है, बीच के उस तथाकथित तमसपूर्ण काल में भी अंदर-ही-अंदर खमीर उठ रहा था। विशेष रूप से अब हम सर्वत्र जीवन की ओर आत्मा का पलटाव देखते हैं; अब राष्ट्र के नये जीवन में आध्यात्मिकता की नींव रखना मान्य आवेग बन गया है। यहां तक कि तपस्या और मठवाद भी अब मात्र ध्यान-धारणा, आत्म-केंद्रण तथा एकांतवास न रहकर बड़ी तेजी से धर्म-प्रचारक, शिक्षाप्रद तथा लोकोपकारी बन गये हैं। और हाल ही में, बड़े-बड़े संस्थापकों, विचारकों ने भी जीवन को बहुत महत्त्व दिया, उसे अब नकारने की बात तो दूर उसे अपनाया जा रहा है, केवल आत्म-केंद्रित या एकांतवास का जीवन बिताने की जगह आत्म-सचेतन जीवन की ओर ध्यान आकृष्ट किया जा रहा है। वर्तमान में यह भविष्य की ओर सबसे अर्थपूर्ण और सन्निकट लक्षण है। शायद यही है भारत के पुनर्जागरण की चाबी—रूपों और आकारों, अर्थात् जीवन के साथ अंतस्तल में गहरे पैठकर वहां से आध्यात्मिकता के उस स्रोत के साथ ऊपर आना जो एक बार फिर भारत के जीवन में घुल-मिलकर उसे उज्ज्वल मार्ग पर आगे ले जायेगा।

लेकिन यह आध्यात्मिकता कौन-से महान् रचनात्मक विचारों और महान् रचनात्मक यंत्रों को हाथ में लेकर जीवन को शासित करेगी यह प्रश्न अभी अस्पष्ट है क्योंकि नये भारत का यह विचार भी अपने शैशव में है अतः वह अपक्व और अनिश्चित-सा है। धर्म, मत-सिद्धांत इत्यादि तो आध्यात्मिक प्रेरणा के बाहरी चिह्न हैं और स्वयं धर्म वह तेज क्रिया है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी आंतरिक शक्ति को पाने को कोशिश करता है। प्रत्येक धर्म में यह प्रक्रिया होती है—पहले कोई विस्तृत क्रिया उसमें प्रवेश करती है जिसे वह

मानव-जीवन पर प्रक्षिप्त करता है—मानव-समुदाय उसे स्वीकार कर उसका प्रसार-प्रचार करता है, उस धर्म के आदर्श नये-नये क्षितिजों को खोलते हैं और एक बार मनुष्य का मन किसी धर्म के आदर्शों को स्वीकार कर ले तो फिर उसका जीवन भी उसे आत्मसात् कर चरितार्थ करने लगता है। यही है किसी भी धर्म की सामान्य व्याख्या, और भारत में धर्म का साथी रहा है दर्शन—दर्शन ही आध्यात्मिक ज्ञान तथा अनुभूति की बौद्धिक नहर रहा है और भारत में नवजीवन का जो कार्य अंदर-ही-अंदर आरंभ हो गया है उसे दार्शनिक बुद्धि अभी तक निश्चित रूप से क्रियान्वित नहीं कर पा रही है। कहीं इधर-उधर झलकें जरूर मिल जाती हैं, लेकिन धारा का प्रवाह अभी तक शुरू नहीं हुआ है और इसका कारण यह है कि एक ओर नूतन धर्म सिर उठा रहा है तो दूसरी ओर भारत अभी तक अपने पुराने लाभों की जुगाली कर रहा है, अपने उन पुराने लाभों को नया रूप देकर उसी दिशा में अपने विचारों को फैला रहा है और इस नूतन धर्म का अभी तक विकास इसलिये भी नहीं हो रहा है क्योंकि भारत यूरोपीय दर्शन से भी प्रभावित हो गया, भारत और यूरोप के दर्शन में कोई समानता ही नहीं है और यही कारण है कि यूरोप का दर्शन भारत को सचमुच ऐसी कोई चीज न दे पाया जो उसकी सर्जनात्मक प्रक्रिया में सार्थक सिद्ध होती। पहली बात तो यह है कि यूरोप के भूतकालीन दर्शनों में ऐसा बहुत ही कम था जो आध्यात्मिकता की इस दिशा में भारत के लिये उपयोगी सिद्ध होता, सचमुच ऐसा कुछ नहीं था जो उसके दर्शनों, उसकी आध्यात्मिकता में पहले से ही न हो, यद्यपि नीत्शे, बर्गसन इत्यादि की विचारधारा ने इधर-उधर कुछ लोगों को प्रभावित अवश्य किया, लेकिन उनके विचार बहुत अधिक सतही और मताग्रही थे और भारतीय आत्मा उससे प्रभावित भले हो जाये लेकिन उसे आत्मसात् नहीं कर पाती। वस्तुतः सच्चा भारतीय दर्शन तो आध्यात्मिक अनुभूति और आध्यात्मिक खोज के फल के रूप में विकसित होता है, हम इसका प्रमाण सभी भूतकालीन धार्मिक प्रवृत्तियों में देखते हैं। वह यूरोप की तरह केवल आलोचनात्मक बुद्धि अथवा वैज्ञानिक विचार तथा ज्ञान से नहीं पनप सकता। अधिक मौलिक प्रतिभाशाली व्यक्ति आध्यात्मिकता तो नहीं पर शुद्ध रूप से साहित्य की ओर मुड़ गये या फिर आधुनिक विचारों को भारतीय आध्यात्मिकता से रंगने लगे। अतः हम कह सकते हैं कि यद्यपि आधुनिक नूतन धर्म बार-बार अपनी झलकें दिखा रहा है लेकिन अभी तक उसका रूप रंग, उसकी तेजस्विता स्पष्ट रूप से नहीं उभरी हैं।

—वंदना

माताजी की अनुभूतियां

शारीरिक चेतना की कुछ अनुभूतियां

तुम समान सटीकता के साथ कह सकते हो कि सब कुछ भगवान् है और कुछ भी भगवान् नहीं है। सब कुछ इसपर निर्भर है कि तुम समस्या को किस कोण से देखते हो।

उसी तरह से तुम कह सकते हो कि भगवान् निरंतर रूप ले रहे हैं और यह भी कि वह शाश्वतकाल के लिये अपरिवर्तनशील हैं।

भगवान् के अस्तित्व को अस्वीकारना और स्वीकारना दोनों बातें समान रूप से सच हैं; लेकिन हर एक केवल अंशतः सत्य है। तुम सकारात्मकता और नकारात्मकता के ऊपर उठकर ही सत्य के निकट जा सकते हो।

इससे और आगे चलकर यह भी कहा जा सकता है कि संसार में जो कुछ होता है भागवत संकल्प का परिणाम है और यह भी कि इस संकल्प को ऐसे जगत् में अभिव्यक्त और प्रकट करना है जो इसका

प्रतिवाद करे या इसे विकृत कर दे। व्यवहार में इन दोनों वृत्तियों में से एक, जो कुछ होता है उसके प्रति शांतिपूर्ण समर्पण की ओर और दूसरी इसके विपरीत, जो होना चाहिये उसकी विजय लाने के लिये निरंतर संघर्ष की ओर ले जाती है। सत्य को जीने के लिये, तुम्हें इन दो वृत्तियों से ऊपर उठना, इन्हें एक करना सीखना होगा।

अप्रैल १९५४

*

अपने दृढ़ विश्वास को बनाये रखो अगर यह तुम्हारे जीवन को बनाने में सहायता करे, लेकिन यह भी जानो कि यह केवल एक विश्वास है और दूसरे विश्वास भी तुम्हारे विश्वास के जितने अच्छे और सच हैं।

अप्रैल १९५४

*

सहन करना श्रेष्ठ भाव से भरपूर होना है; इसका स्थान पूर्ण समझ को लेना चाहिये।

अप्रैल १९५४

*

सत्य रैखिक नहीं, सार्वभौम है। यह आनुक्रमिक नहीं, समकालिक है। अतः इसे शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता; इसे जीना होगा।

अप्रैल १९५४

*

अपने समस्त ब्यौरों में जगत् जैसा है उसकी संपूर्ण और सर्वांगीण चेतना पाने के लिये, आरंभ से ही इन ब्यौरों के बारे में कोई व्यक्तिगत प्रतिक्रिया, कोई आध्यात्मिक अभिरुचि, यहांतक कि वे कैसे होने चाहियें, इसका भान भी नहीं होना चाहिये। दूसरे शब्दों में, सर्वांगीण तादात्म्य द्वारा प्राप्त ज्ञान के लिये आवश्यक शर्त है पूर्ण तटस्थता और निरपेक्षता द्वारा पूर्ण स्वीकृति। अगर ब्यौरे की कोई बात, चाहे वह कितनी छोटी क्यों न हो, तटस्थता से बच निकले तो वह तादात्म्य से भी बच निकलती है। अतः सभी व्यक्तिगत प्रतिक्रियाओं का अभाव संपूर्ण ज्ञान के लिये प्रारंभिक आवश्यकता है, चाहे वे प्रतिक्रियाएं उच्चतम हेतु के लिये क्यों न हों।

अतः विरोधाभासी रूप में हम कह सकते हैं कि हम किसी वस्तु को केवल तभी जान सकते हैं जब हम उसमें रस न लेते हों या अधिक यथार्थ रूप से, जब हम व्यक्तिगत रूप से उसके साथ संबंध न रखते हों।

अप्रैल १९५४

*

भगवान् ने हमेशा, हर बार धरती को रूपांतरित करने और नये जगत् की सृष्टि करने के अभिप्राय से ही जन्म लिया है। लेकिन आज तक, अपने कार्य को संपन्न किये बिना ही उन्हें अपने शरीर को त्यागना पड़ा। और हमेशा यही कहा गया कि धरती तैयार नहीं थी और कार्य संपन्न करने के लिये मनुष्यों ने आवश्यक शर्तों को पूरा नहीं किया।

लेकिन आविर्भूत देव की अपूर्णता ही उनके चारों तरफ के लोगों की पूर्णता को अनिवार्य बनाती है। अगर अवतीर्ण प्रभु आवश्यक प्रगति के लिये अनिवार्य पूर्णता को धारण किये रहते तो यह प्रगति उनके चारों तरफ के जड़भौतिक जगत् की स्थिति पर आश्रित न होती। और फिर भी निःसंशय, इस परम विषयाश्रित जगत् में अन्योन्याश्रय निरपेक्ष है; अतः आविर्भूत भागवत सत्ता में अधिक ऊंचे स्तर की पूर्णता चरितार्थ करने के लिये समस्त अभिव्यक्ति में अमुक हद तक पूर्णता अनिवार्य होती है। परिवेश में अमुक पूर्णता की आवश्यकता मनुष्यों को प्रगति करने के लिये बाधित करती है, इस प्रगति की अक्षमता ही, वह चाहे जो भी हो, भागवत सत्ता को उसके अपने शरीर में प्रगति के कार्य को तीव्रता के साथ करने को प्रेरित करती है। अतः प्रगति की ये दोनों क्रियाएं समकालिक और एक-दूसरे की पूरक हैं।

अप्रैल १९५४

शारीरिक चेतना की नयी अनुभूतियां

जब तुम अपने जीवन में पीछे की ओर देखो तो प्रायः हमेशा तुम्हें यह अनुभव होता है कि अमुक-अमुक परिस्थितियों में तुम अधिक अच्छा कर सकते थे, यद्यपि हर क्षण तुम आंतरिक सत्य की आज्ञा का पालन कर रहे थे। इसका कारण यह है कि विश्व निरंतर गति कर रहा है और जो पहले पूर्ण रूप से सत्य था आज अंशतः सत्य है। या अधिक यथार्थ रूप से कहा जाये तो, जिस क्षण वह क्रिया की गयी थी उस क्षण वह जितनी आवश्यक थी अब वह आवश्यक न होगी : उसके स्थान पर कोई और क्रिया अधिक उपयोगी होगी।

अगस्त १९५४

*

जब हम रूपांतर की बात करते हैं तो अब भी इस शब्द का अर्थ हमारे लिये 'अस्पष्ट', धुंधला-सा है। यह हमें ऐसा आभास देता है कि कुछ होनेवाला है और परिणाम-स्वरूप सब कुछ ठीक होगा। धारणा अपने-आपमें प्रायः यह रूप ले लेती है : अगर हमारे सामने कठिनाइयां हैं तो कठिनाइयां विलीन हो जायेंगी; जो बीमार हैं वे बीमारी से छुटकारा पा लेंगे; अगर शरीर दुर्बल और असमर्थ है, तो दुर्बलता और असामर्थ्य दूर हो जायेंगी, इत्यादि। लेकिन जैसा मैंने कहा, यह सब बहुत अस्पष्ट है, यह केवल एक आभास है। हां, तो शारीरिक चेतना के बारे में एक विलक्षण बात यह है कि वह किसी चीज को पूरे विस्तार से और यथार्थता के साथ तबतक नहीं जान सकती जबतक कि वह उसे उपलब्ध करने के बिंदु तक न पहुंच जाये। अतः जब रूपांतर की प्रक्रिया स्पष्ट हो जायेगी, जब मनुष्य यह जान पायेगा कि क्रियाओं की किस शृंखला में और किन परिवर्तनों के द्वारा पूर्ण रूपांतर होगा—किस क्रम में, किस तरह यानी, कौन-सी चीजें पहले आयेंगी और कौन-सी बाद में—जब सब कुछ पूर्ण ब्योरे में मालूम हो जायेगा, वह इस बात का निश्चित सूचक होगा कि उपलब्धि का मुहूर्त निकट है, क्योंकि हर बार जब तुम किसी ब्योरे की यथार्थता की कल्पना करते हो तो इसका यह अर्थ होता है कि तुम उसे प्राप्त करने के लिये तैयार हो।

अभी के लिये, तुम सारी चीज का अंतर्दर्शन पा सकते हो। उदाहरण के लिये यह पूरी तरह निश्चित है कि अतिमानसिक प्रकाश के प्रभाव तले सबसे पहले शारीरिक चेतना का रूपांतर होगा; उसके बाद शरीर के सभी अवयवों की गतियों और सभी क्रियाओं पर संयम और प्रभुत्व में प्रगति होगी, उसके बाद, धीरे-धीरे यह प्रभुत्व क्रिया के मौलिक परिवर्तन के रूप में और फिर स्वयं अवयवों की रचना के परिवर्तन में बदल जायेगा। यह सब निश्चित है, यद्यपि इसका अंतर्दर्शन पर्याप्त रूप से सुस्पष्ट नहीं है। लेकिन अंत में,

—जब विभिन्न अवयवों का स्थान भिन्न शक्तियों, गुणों और स्वभावों की एकाग्रताके केंद्र ले लेंगे तो उनमेंसे हर एक अपनी विशेष पद्धति के अनुसार कार्य करेगा—यह सारी चीज अभी तक केवल एक धारणा है और शरीर इसे अच्छी तरह नहीं समझ पाता, क्योंकि यह अभी तक सिद्धि से दूर है और शरीर पूरी तरह से केवल उसीको समझ सकता है जिसे वह कर सकने के बिंदु पर हो।

अगस्त १९५४

*

अतिमानसिक शरीर अलैंगिक होगा, क्योंकि तब पाशविक प्रजनन की आवश्यकता नहीं रहेगी। मानव आकार केवल अपने प्रतीकात्मक सौंदर्य को बनाये रखेगा, और हम अब भी पुरुषों में जननेन्द्रिय और स्त्री में स्तनग्रंथि जैसे कुछ कुरूप उभारों के विलोपन का अनुमान लगा सकते हैं।

अगस्त १९५४

*

शरीर केवल अपने बाहरी आकार, अपने अत्यंत ऊपरी रंग-रूप में दिव्य नहीं है। यह आज विज्ञान की नयी-से-नयी खोजों के लिये भी उसी तरह भ्रामक है जैसा भूतकाल की आध्यात्मिकता के लिये था।

अगस्त १९५४

*

हे परम सद्वस्तु, हे अतिमानसिक सत्य, यह शरीर पूरी तरह तीव्र कृतज्ञता से स्पंदित हो रहा है। तूने इसे एक के बाद एक वे सभी अनुभूतियां प्रदान की हैं जो इसे एकदम निश्चित रूप से तेरी ओर ले जा सकती हैं। यह एक ऐसे बिंदु पर आ गया है जहां तेरे साथ तादात्म्य एकमात्र वांछनीय ही नहीं बल्कि एकमात्र संभव और स्वाभाविक वस्तु है।

मैं इन अनुभूतियों का भला किस तरह वर्णन करूं जो दो विरोधी छोरों पर हैं ? एक छोर से मैं कहूंगी :

''प्रभो, सचमुच तेरे निकट होने के लिये, तेरे योग्य बनने के लिये, व्यक्ति को अपमान के चषक-पर-चषक खाली करने होंगे और फिर भी अपमानित नहीं अनुभव करना होगा। व्यक्ति का अपमान उसे सचमुच मुक्त करता और केवल तेरा बनने के लिये तैयार करता है।''

और दूसरे छोर से मैं कहूंगी :

''प्रभो, सचमुच तेरे निकट होने के लिये, सचमुच तेरे योग्य बनने के लिये व्यक्ति को मानव मूल्यांकन के शिखर पर पहुंचना होगा और फिर भी गौरवान्वित अनुभव न करना होगा। केवल तभी जब मनुष्य व्यक्ति को दिव्य कहते हैं, वह अपनी अक्षमता का अनुभव करता है और तेरे साथ पूरी तरह एक होने की आवश्यकता का अनुभव करता है।''

ये दोनों युगपत् अनुभूतियां हैं : एक दूसरी को मिटा नहीं देती, बल्कि इसके विपरीत वे एक-दूसरे की पूरक मालूम होती हैं और इस तरह अधिक तीव्र हो जाती हैं। इस तीव्रता में अभीप्सा बहुत अधिक बढ़ जाती है, और उसके प्रत्युत्तर में **तेरी उपस्थिति** स्वयं कोषाणुओं में प्रत्यक्ष बन जाती है जो शरीर को ऐसे बहुरंगी कैलिडोस्कोप का आभास देती है जिसमें निरंतर गति में असंख्य ज्योतिर्मय कण किसी अदृश्य और सर्व-समर्थ परम हाथ द्वारा भव्य रूप में पुनर्व्यवस्थित होते हैं।

अगस्त १९५४

—माताजी

कला के विषय में

९ अप्रैल, १९५१

'बातचीत' (१९२९) से कला और योग के विषय में एक लेखांश पढ़ने के बाद।

कला और योग में क्या संबंध है ? क्या कलाकार और योगी की अंतःप्रेरणा का एक ही स्रोत हो सकता है ? (श्रीमाताजी एक शिष्य की ओर मुड़ती हैं) : अमृत, क्या तुम हमें बताओगे कि कला और योग के बीच क्या संबंध है ?

एक सुंदर संबंध . . . । कला एक योग हो सकती है और योग एक कला है ही।

बहुत सुंदर ! मैं एक अमेरिकन महिला को जानती थी; वह कहती थी कि आध्यात्मिकता सर्वोच्च सुरुचि है, संभवनीय सर्वश्रेष्ठ सुरुचि है। यह बिल्कुल वही बात है।

शास्त्रों में और स्वप्नों में सांपों का क्या अर्थ होता है ?

वह शास्त्रों पर निर्भर करता है ! वह स्वप्नों पर निर्भर करता है ! यदि तुम मुझे स्वप्न का कोई उदाहरण बताओ तो मैं तुम्हें बताऊंगी कि तुम्हारे सांप का क्या स्वरूप था, यूं तो "सांप" अत्यंत अस्पष्ट है।

भला आधुनिक कला इतनी कुत्सित क्यों है ?

मेरी समझ में मुख्य कारण यह है कि लोग अधिकाधिक आलसी होते जा रहे हैं और काम करना नहीं चाहते। सचमुच कुछ काम कर चुकने से पहले ही वे कुछ उत्पादन करना चाहते हैं, अध्ययन करने से पहले ही जान लेना चाहते हैं और कोई अच्छी चीज करने से पहले ही नाम कमाना चाहते हैं। जैसा कि हम देखते हैं, यही सब प्रकार की चीजों के लिये दरवाजा खोल देता है . . . । स्वभावतः ही अपवाद भी हैं।

मैं ऐसे कलाकारों को जानती हूं जो महान् कलाकार थे, जिन्होंने कठिन परिश्रम किया था और अपूर्व चीजें, उच्च कोटि की, अर्थात् अति-आधुनिक नहीं, चीजें तैयार की थीं। परंतु लोग उन्हें पसंद नहीं करते थे क्योंकि, वास्तव में, उन्हें उच्च कोटि का नहीं होना चाहिये था। जब किसी ऐसे आदमी के हाथ में तूलिका पकड़ायी गयी जिसने पहले कभी तूलिका नहीं छुई, जिसने कभी रंग-पट्टिका को हाथ न लगाया था उसने रंग-पट्टिका पर तूलिका लगायी, जिसने आज तक चित्र न बनाया था उसने अपने आगे चित्राधार पर कैन्वस का टुकड़ा पाया और बस यूं ही रंग पोतता गया, ऊंट-पटांग ढंग से रंग फेंकता गया और सभी चिल्ला उठे, "वाह, शाबाश !" "अद्‌भुत", "यह तो तुम्हारी आत्मा की अभिव्यक्ति है," "कितने सुंदर रूप में यह वस्तुओं का सत्य प्रकट कर रहा है," आदि-आदि ! यही थी प्रचलित प्रथा और जो लोग कुछ नहीं जानते थे वे बहुत सफल कलाकार थे। जिन गरीब लोगों ने सचमुच काम किया था, जो अपनी कला को भली-भांति जानते थे, उनके चित्रों की मांग नहीं रही; लोग कहा करते, "ओह ! यह तो पुराने फैशन का है, तुम्हें ऐसी चीजों के लिये कभी ग्राहक नहीं मिलेंगे।" परंतु आखिरकार, वे भूखे थे, उन्हें अपने मकान

का किराया चुकाना था और अपने रंगों का और बाकी सभी वस्तुओं का मूल्य चुकाना था और यह सब खर्चीला था। तब भला वे क्या कर सकते थे ? जब उन्हें चित्र-विक्रेताओं से झिड़की मिलती थी जो सब-के-सब उनसे एक ही बात कहते थे कि "परंतु आधुनिक होने की चेष्टा करो, मेरे मित्र, देखो, तुम समय से पीछे हो," और चूंकि वे बहुत भूखे थे, वे भला क्या कर सकते थे ? . . . मैं एक चित्रकार को जानती थी, वह गुस्ताव मोरो (Gustave Moreau) का शिष्य था; वह वास्तव में बड़ा ऊंचा कलाकार था, वह अपने कार्य में बहुत दक्ष था, और फिर भी . . . वह भूखों मर रहा था, वह नहीं जानता था कि वह अपना खर्च कैसे चलाये और वह बराबर रोया करता था। एक दिन, उसकी सहायता करने की अभिलाषा से एक मित्र ने एक चित्र-विक्रेता को उससे मिलने के लिये भेजा। जब उस व्यापारी ने उसकी चित्रशाला में प्रवेश किया, तो इस गरीब कलाकार ने मन-ही-मन कहा, "आखिरकार, यहां मेरे लिये एक अवसर है !" और उसने उसे अपने बनाये हुए सभी उत्तम चित्र दिखाये। चित्र-विक्रेता ने एकदम गंभीर मुद्रा बना ली, चारों ओर दृष्टि दौड़ायी, चीजों को उलटा-पलटा और सभी कोनों में देखना-खोजना शुरू कर दिया। अचानक उसे मिल गया . . .। आह ! मुझे तुम्हें यह बात समझा देनी चाहिये, तुम इन चीजों से परिचित नहीं हो। एक चित्रकार जब दिन भर काम करता है तो उसके बाद कभी-कभी उसकी रंग-पट्टिका पर कुछ मिले-जुले रंग शेष रह जाते हैं; वह उन्हें रख नहीं सकता, वे एक दिन में सूख जाते हैं; इसलिये सर्वदा उसके पास कैनवस के कुछ टुकड़े रहते हैं जो भली-भांति व्यवस्थित नहीं होते और जिन पर वह उन चीजों को पोत देता है जिन्हें "रंग-पट्टिका की खुरचनें" कहते हैं (एक लचीली छुरी से वह रंग की तख्ती पर से सभी रंगों को खुरचता है और कैनवसों पर पोत देता है) और चूंकि उसमें बहुत-से रंग मिले होते हैं, उससे अप्रत्याशित आकार बन जाते हैं। वहां एक कोने में वैसा ही एक कैनवस पड़ा था जिस पर वह कलाकार अपनी तख्ती की खुरचन पोत दिया करता था। व्यापारी अचानक उसपर टूट पड़ता है और चिल्ला पड़ता है, "यह रहा ! मेरे मित्र, तुम बड़े प्रतिभाशाली हो, यह एक चमत्कार है, बस यह है जिसे तुम्हें दिखाना चाहिये ! देखो यह रंगों की समृद्धि, आकारों की यह विविधता, और कैसी है यह कल्पना !" और यह गरीब आदमी, जो भूखों मर रहा था, लजाते हुए बोला, "परंतु महाशय, ये सब मेरी तख्ती की खुरचनें हैं !" और चित्र-विक्रेता ने उसे जोर से पकड़कर कहा, "मूर्ख गावदी कहीं के, यह कहने की बात नहीं है !" फिर उसने कहा, "यह मुझे दे दो, मैं इसे बेचने का भार लेता हूं। इस तरह की चाहे जितनी चीजें तुम मुझे दो; दस, बीस, तीस, प्रति मास, मैं तुम्हारे लिये उन सब को बेच दूंगा और मैं तुम्हें प्रसिद्ध बना दूंगा।" और तब, जैसा कि मैं तुम से कह चुकी हूं, उसका पेट मांग कर रहा था; वह इस प्रस्ताव से बिल्कुल प्रसन्न नहीं था, पर वह बोला, "ठीक है, इसे ले लीजिये, मैं देखूंगा।" उसके बाद आता है उसका मकान-मालिक और अपना किराया मांगता है; रंग का व्यापारी आता है और अपने पुराने बिलों का भुगतान चाहता है; परंतु पर्स बिल्कुल खाली है, और तब क्या किया जाये ? सो, उसने यद्यपि तख्ती की खुरचनों से तस्वीरें नहीं बनायीं, पर उसने कुछ ऐसी चीजें तैयार कीं जिन्होंने कल्पना को खुलकर खेलने का अवसर दिया, जिनमें आकार बहुत अधिक स्पष्ट नहीं थे, रंग सभी मिले-जुले और चमकदार थे, और मनुष्य जो कुछ देखता था उसे बहुत अधिक नहीं समझता था; और चूंकि लोगों ने जो कुछ देखा उसे बहुत अधिक नहीं समझा; जिन लोगों ने उसके विषय में कुछ नहीं समझा उन्होंने चिल्लाना शुरू किया, "कितना सुंदर है यह !" और उसने ऐसी ही चीजें अपने कला-विक्रेता को प्रदान कीं। उसने कभी अपनी सच्ची चित्रकारी के लिये नाम नहीं कमाया जो वास्तव में बहुत सुंदर होती थी (उसकी चित्रकारी सचमुच बहुत सुंदर थी, वह बहुत अच्छा चित्रकार था), पर वह इन वीभत्स चित्रों के कारण विश्व में विख्यात हो गया ! और यह बात है ठीक आधुनिक चित्रकला के प्रारंभिक युग की, यह उस समय की बात है जब सन् १९०० में चित्रकला की विश्व-प्रदर्शनी हुई थी; यदि मैं तुम लोगों को उसका नाम बता दूं तो तुम सब उसे

जान जाओगे . . . । अब, निस्संदेह, वे उससे बहुत आगे बढ़ गये हैं, अब उन्होंने बहुत अधिक अच्छा कार्य किया है। परंतु उस व्यक्ति को सामंजस्य और सौंदर्य का बोध था और उसके रंग बहुत सुंदर थे। परंतु आजकल, जैसे ही चित्र में थोड़ा-सा सौंदर्य आ जाता है, वह बिल्कुल नहीं चलता, उसे तो बेहद भद्दा होना चाहिये, यह लो, यही है आधुनिक कला !

यह कहानी शुरू हुई थी . . . उस आदमी से जो जड़ पदार्थों का चित्रण किया करता था और उसकी प्लेटें कभी गोल नहीं होती थीं . . . सेजान्न (Cézanne) ! यही व्यक्ति था जिसने इसका प्रारंभ किया था; वह कहा करता था कि यदि प्लेटों को गोल रखा जाये तो वे सजीव नहीं होंगी। जब कोई सहज ढंग से चीजों को देखता है तब वह कभी प्लेटों को गोल नहीं देखता : वह उन्हें ऐसी (भंगिमा) देखता है। मैं नहीं जानती कि क्यों, पर वह कहा करता था कि वास्तव में मन ही हमें प्लेटों को गोल दिखा देता है, क्योंकि हम जानते हैं कि वे गोल हैं, अन्यथा मनुष्य उन्हें गोल नहीं देखता। यही वह व्यक्ति है जिसने आरंभ किया था . . . वह जड़ पदार्थों को चित्रित करता था जो वास्तव में बहुत सुंदर चीज होती थी, ध्यान दो; बहुत सुंदर, रंग और आकार के चित्रण के साथ सचमुच आश्चर्यजनक (मैं एक दिन तुम्हें उनकी प्रतिकृतियां दिखा सकती हूं, वे मेरे पास अवश्य होंगी, परंतु दुर्भाग्यवश वे रंगीन प्रतिकृतियां नहीं हैं; सौंदर्य तो यथार्थ में रंगों में है) । परंतु, सचमुच उसकी प्लेट गोल नहीं होती थी। उसके कुछ मित्र थे जिन्होंने ठीक यह बात कही, "परंतु आखिरकार, तुम अपनी प्लेट को गोल क्यों नहीं बनाते ?" उसने उत्तर दिया, "मेरे प्यारे दोस्तो, तुम लोग एकदम मनप्रधान हो, तुम कलाकार नहीं हो, क्योंकि तुम चिंतन करते हो इसलिये तुम अपनी प्लेटें गोल बनाते हो; यदि तुम केवल **देखो**, तुम इसे इस तरह करोगे (भंगिमा) । सच पूछो तो मन के ऊपर जो छाप पड़ती है उसके अनुसार प्लेट चित्रित होनी चाहिये; यह तुम पर एक प्रकार का संघात करता है, तुम उस संघात को रूपांतरित करते हो, और यही चीज है जो वास्तव में कलात्मक है। बस, इसी तरह आधुनिक कला प्रारंभ हुई। और इस बात पर ध्यान दो कि वह सही था। उसकी प्लेटें गोल नहीं थीं, पर वह सिद्धांततः सही था।

कला को किस चीज ने वैसा बनाया है जैसी कि वह है ? क्या तुम चाहते हो कि मैं यह बात बताऊं, मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ? . . . वह चीज है फोटोग्राफी। फोटोग्राफरों को अपना काम मालूम नहीं था और उन्होंने वीभत्स चीजें दीं, भयंकर रूप से कुत्सित, वह सब यांत्रिक था, उसमें कोई आत्मा नहीं थी, उसमें कोई कला नहीं थी, वह सब बड़ा घृणास्पद था। फोटोग्राफी के सभी प्रथम प्रयास तबतक . . . बहुत अधिक दिन नहीं हुए, वैसे ही थे। लगभग पचास वर्ष हुए जब कि यह थोड़ी संतोषजनक होने लगी, और अब धीरे-धीरे समुन्नत होकर कुछ सुंदर वस्तु बन गयी है। परंतु यह तो कहना ही होगा कि इसकी प्रक्रिया पूर्णतः भिन्न है। उन दिनों जब तुम्हारा चित्र बनाया जाता था, तुम एक आरामदेह कुरसी पर बैठ जाते थे, तुम्हें अच्छी तरह झुककर और काले कपड़े से ढकी एक भारी-भरकम वस्तु की ओर मुख करके बैठ जाना होता था जो इस प्रकार तुम्हारी ओर खुल जाती थी। और फोटो लेनेवाला मनुष्य हुक्म देता, "हिलिये मत ! स्थिर !" निस्संदेह, वह पुरानी चित्रकारी का अंतिम काल था। जब चित्रकार कोई जीवनसदृश चीज तैयार करता, सच्चे जीवन के जैसी तस्वीर बनाता तो उसके मित्र कहते, "ऐसे क्यों, यह तो फोटोग्राफी है !"

यह कहना ही होगा कि विगत शताब्दी के अंत की कला, (फ्रांस की) द्वितीय साम्राज्य की कला, बुरी थी। वह व्यापारियों का युग था, सबके ऊपर महाजनों, पूंजिपतियों का युग था, और विश्वास करो, रुचि बहुत नीचे गिर गयी थी। मैं नहीं समझती कि व्यापारी लोग निश्चित रूप से कला में बहुत कुशल होते हैं, पर जब वे अपनी तस्वीर बनवाना चाहते थे, वे ठीक-ठीक अपना प्रतिरूप चाहते थे ! चित्रकार छोटी-से-छोटी ब्योरे की बात भी नहीं छोड़ सकता था, वास्तव में यह एकदम हास्यास्पद था : "परंतु, देखिये, मुझे यहां थोड़ी-सी झुर्री है, उसे आंकना मत भूलियेगा !" और वह महिला जिसने कहा था, "देखिये, आप मेरे

कंधों को बिल्कुल गोल बनाइयेगा," आदि-आदि। तो कलाकारों ने ऐसे व्यक्तिचित्र तैयार किये जो सचमुच फोटोग्राफी बन गये। वे बहुत निर्जीव, भावशून्य, आत्मा से रहित तथा सूक्ष्मदृष्टि से रहित थे। मैं उस काल के बहुत-से कलाकारों के नाम बता सकती हूं, यह सब वास्तव में कला के लिये शर्म की बात थी। यह स्थिति विगत शताब्दी के करीब अंत तक, लगभग सन् १८७५ तक बनी रही। उसके बाद, इसकी प्रतिक्रिया आरंभ हुई। फिर आया एकदम अत्यंत सुंदर युग (यह बात मैं इसलिये नहीं कहती कि स्वयं मैं चित्रकारी करती थी), पर उन दिनों में मैं जितने कलाकारों से परिचित थी वे सब-के-सब यथार्थतः कलाकार थे, वे सभी गंभीर थे और उन्होंने ऐसे प्रशंसनीय कार्य किये जो अब भी प्रशंसनीय बने हुए हैं। यह प्रभाववादियों (impressionists) का युग था; यह माने (Manet) का युग था, यह सुंदर युग था, उन्होंने सुंदर वस्तुएं तैयार कीं। परंतु लोग जैसे बुरी वस्तुओं से थक जाते हैं वैसे ही सुंदर वस्तुओं से भी थक जाते हैं। तो, ऐसे लोग आये जिन्होंने "सालों दोतोम" (Salon d'Automne) की स्थापना करनी चाही। उन्होंने दूसरों को अतिक्रांत करना, अधिक नवीन की ओर जाना, यथार्थ में फोटोग्राफी जैसी पेंटिंग के विरुद्ध जाना चाहा। और, हे भगवान्! वे सीमा से कुछ परे चले गये (मेरी पसंद के अनुसार)। उन्होंने रैंब्रें (Rembrandt) की निंदा करना आरंभ कर दिया—रैंब्रें अनाड़ी चित्रकार था, टिटियन (Titian) अनाड़ी चित्रकार था, इटैलियन नवजागरण के सभी महान् चित्रकार अनाड़ी चित्रकार थे। राफेल (Raphael) का तो नाम ही नहीं लिया जा सकता था, वह तो शर्म की बात थी। और इटैलियन नव जागरण का समस्त महान् काल, यहां तक कि लियोनार्दो दा विन्सी (Leanardo da Vinci) की कृतियों का भी "बहुत अधिक मूल्य" नहीं था; लोग कहते, "जानते हो, उन्हें बस लेना और छोड़ देना चाहिये।" फिर वे थोड़ा-सा और आगे बढ़ गये; उन्होंने कोई संपूर्णतः नयी चीज करनी चाही, वे असंयत बन गये। और फिर, वहां से बस एक ही पग और बाकी रह गया तख्ती की खुरचन तक जाने में और फिर चित्रकारी का अंत ही हो गया।

यही है कला का इतिहास जैसा कि मैं जानती हूं।

अब, सच पूछो तो, हम फिर से ऊपर की ओर मुड़ रहे हैं। वास्तव में, मैं समझती हूं, हम लोग असंगति, निरर्थकता, कदर्यता की—कुत्सित और कुरूप, गंदी, गर्हित के प्रति अपनी रुचि की गहराई तक में पहुंच गये थे। मेरी समझ में हम एकदम तहतक में पहुंच गये थे।

क्या वास्तव में हम ऊपर जा रहे हैं?

मैं ऐसा ही समझती हूं। हाल में मैंने कुछ चित्र देखे जिनमें सचमुच कुछ ऐसी चीजें थीं जो कुरूपता और अश्लीलता से भिन्न थीं। यह अभी भी कला नहीं है, सुंदर होने से अभी बहुत दूर है, परंतु ऐसे लक्षण हैं कि हम फिर से ऊपर जा रहे हैं। तुम देखोगे, आज से पचास वर्ष बाद हमें शायद सुंदर चीजें देखने को मिलेंगी। कुछ दिन पहले मैंने यह अनुभव किया था कि हमने यथार्थतः अवनतिमुखी मोड़ को पार कर लिया है—हम अभी भी बहुत नीचे हैं, पर हमने ऊपर चढ़ना आरंभ कर दिया है। लोगों में एक प्रकार की संवेदना है और अभी भी इस समझ का पूरा-पूरा अभाव है कि सौंदर्य क्या हो सकता है और उसे क्या होना चाहिये, परंतु हम किसी ऐसी वस्तु की ओर एक अभीप्सा देखते हैं जो कुत्सित रूप में स्थूल नहीं होगी। एक समय कला ने, जिसे लोग "यथार्थवादी" कहते थे, वह बनने के लिये पंक में लोटना चाहा था। उन्होंने एक ऐसा "यथार्थ" चुना था जो संसार में सबसे अधिक वीभत्स, अत्यंत कुरूप था : थीं सब प्रकार की विकृतियां, समस्त गंदगी, समस्त कुत्सितता, समस्त भयानक वस्तुएं, रंग और आकार की समस्त असंबद्धता; हां, तो मैं समझती हूं कि यह सब अब हमारे पीछे है। इस बात का बहुत प्रबल अनुभव मुझे

इन विगत कुछ दिनों में हुआ था (चित्रों को देखकर नहीं, क्योंकि हमें यहां बहुत देखने का अवसर नहीं मिलता, बल्कि "वातावरण का अनुभव करके")। और, यहांतक कि उनकी जो प्रतिलिपियां हमें दिखायी जाती हैं, उनमें भी किसी ऐसी वस्तु की ओर थोड़ी अभीप्सा है जो कुछ उच्चतर होगी। इसके लिये लगभग पचास वर्षों की आवश्यकता होगी; फिर . . . यदि दूसरा युद्ध न हो, दूसरा संहार न हो; कारण, इसमें कोई संदेह नहीं कि कुत्सित वस्तुओं के प्रति इस रुचि के लिये, बहुत बड़ी हदतक, उत्तरदायी हैं युद्ध और युद्ध की विभीषिकाएं। लोग सब प्रकार की सूक्ष्म संवेदनशीलता को, सामंजस्य के प्रेम को, सौंदर्य की आवश्यकता को एक ओर रख देने के लिये बाध्य थे ताकि वे इस सबको सह सकें अन्यथा, मैं समझती हूं, वे विभीषिका के कारण वास्तव में मर ही गये होते। यह सब इतना अवर्णनीय रूप से गर्हित था कि उसे सहन नहीं किया जा सकता था, अतएव उसने सर्वत्र मनुष्यों की रुचि को विकृत कर दिया और जब युद्ध समाप्त हो गया (यदि यह मान लें कि वह किसी दिन समाप्त हुआ था), उन्होंने बस एक ही चीज चाही—भूल जाना, भूल जाना, भूल जाना। वे मन को बहलाना चाहते थे, जिस विभीषिका को उन्होंने झेला था उस सबकी बात सोचना नहीं चाहते थे। ऐसी ही स्थिति में मनुष्य बहुत नीचे चला जाता है। समूचा प्राणिक वातावरण पूर्णरूप से कलुषित हो जाता है और भौतिक वातावरण भयानक रूप से अंधकारपूर्ण हो जाता है।

अतएव यदि हम नये विश्व-युद्ध से बच सकें . . .। क्योंकि युद्ध तो है ही, वह कभी समाप्त नहीं हुआ है। वह लगभग इस शताब्दी के प्रारंभ से ही रहा है; वह आरंभ हुआ था चीन, तुर्की, ट्रिपोलीटानिया, मोरोक्को, —समझ रहे हो न ?—बालकन से, वह कभी समाप्त नहीं हुआ है, वह अधिकाधिक बुरा होता जा रहा है, पर जब-जब उसने विश्व-युद्ध का रूप लिया है, उसने एकाएक निकृष्ट विस्तार ग्रहण कर लिया है। तुम सब मेरे बच्चो, तुम युद्ध के बाद पैदा हुए हो (मैं प्रथम युद्ध की बात कह रही हूं), अतएव तुम उसके विषय में बहुत अधिक नहीं जानते, और फिर तुम यहां, एक ऐसे देश में पैदा हुए हो जिसे यथार्थ में विशेष सुविधा प्राप्त रही है। परंतु जो बच्चे यूरोप में पैदा हुए, अभी हाल में, ये नन्हें-नन्हें बच्चे, जो युद्धकालीन बच्चे थे, अपने अंदर कुछ ऐसी चीजें लिये हुए हैं जिसे मिटा देना बहुत कठिन होगा—एक प्रकार की भीति, एक प्रकार का आतंक। वास्तव में उसके साथ उलझने पर ही कोई यह जान सकता है कि भीति क्या चीज होती है ! प्रथम युद्ध संभवतः द्वितीय युद्ध से कहीं बदतर था। दूसरा युद्ध इतना भीषण था कि सब कुछ नष्ट हो गया . . .। परंतु प्रथम, ओह ! मैं नहीं जानती . . . जिन अंतिम महीनों में मैं पैरिस में रही वे सचमुच में बड़े अजीब महीने थे। और उनका वर्णन करना संभव नहीं। उदाहरणार्थ, खाइयों का जीवन ऐसा है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। उसे नयी पीढ़ी नहीं जानती . . .। पर, जो बच्चे अब पैदा हुए हैं वे यह भी नहीं जानेंगे कि ये सब वीभत्स बातें जो उन्हें सुनायी जाती हैं सच हैं भी या नहीं। विजित देशों में, जेकोस्लोवाकिया में, पोलैंड में, फ्रांस में जो कुछ हुआ—भयानक, अविश्वसनीय, अचिंत्य बातें घटित हुईं—उसपर कोई विश्वास नहीं कर सकता जबतक कोई उसके बहुत समीप न रहा हो, देखा न हो, वह था . . .। मैं उस दिन कह रही थी कि वास्तव में प्राण जगत् भयानक वस्तुओं का जगत् है; हां, प्राणमय जगत् की समस्त भयावह वस्तुएं पृथ्वी पर उतर आयी थीं, और पृथ्वी के ऊपर वे प्राणमय जगत् की अपेक्षा कहीं अधिक भयानक होती हैं, क्योंकि प्राणमय जगत् में, यदि तुम्हारे अंदर आंतरिक शक्ति हो, यदि तुम्हें ज्ञान हो, यदि तुम में शक्ति-सामर्थ्य हो, तुम उनपर क्रिया कर सकते हो—तुम क्रिया कर सकते हो, तुम उन्हें पराजित कर सकते हो, तुम अपने को अधिक शक्तिशाली सिद्ध कर सकते हो। परंतु तुम्हारा सारा ज्ञान, तुम्हारी सारी शक्ति, तुम्हारा सारा बल, इस स्थूल जगत् में उस समय बिल्कुल बेकार हो जाता है जब तुम किसी युद्ध की विभीषिकाओं के अधीन होते हो। और यह चीज पार्थिव वातावरण में ऐसे ढंग से कार्य करती है कि उसे मिटाना बहुत, बहुत कठिन होता है।

स्वभावतः ही मनुष्य भूल जाने के लिये सर्वदा बहुत व्यग्र होते हैं। ऐसे लोग पहले से ही हैं, उन्होंने यह कहना प्रारंभ कर दिया है, "क्या तुम बिल्कुल निस्संदिग्ध हो कि यह ऐसा ही था?" परंतु जो लोग उसमें से गुजरे हैं वे उसे विस्मृत होने देना नहीं चाहते; अतएव उत्पीड़न, हत्या के स्थानों को, —ऐसे वीभत्स स्थानों को जो उन सभी बुरी-से-बुरी अवस्थाओं को अतिक्रांत करते हैं जिनकी मानवीय कल्पना धारणा बना सकती है, —इनमें से कुछ स्थानों को सुरक्षित रखा गया है। तुम जाकर उन उत्पीड़न-कक्षों का निरीक्षण कर सकते हो जिन्हें जर्मनों ने पेरिस में बनाया था, और मेरी समझ में वे कभी नष्ट नहीं किये जायेंगे, ताकि जो लोग आकर कहते हैं, "ओह! तुम जानते हो, ये चीजें अतिरंजित की गयी हैं" (क्योंकि लोग यह जानना नहीं पसंद करते कि ऐसी भयंकर बातें भी घटित हुई हैं), उन्हें हाथ पकड़कर वहां ले जाया जाये और कहा जाये, "आओ और देखो, यदि तुम भयभीत न होओ।"

यह चीज चरित्र का निर्माण करती है। यदि इसे समुचित ढंग से लिया जाये (और मेरी समझ में ऐसे लोग हैं जिन्होंने इसे समुचित ढंग से ग्रहण किया है), तो यह तुम्हें सीधे, बिल्कुल सीधे योग तक ले जा सकती है। कहने का मतलब, ऐसी अवस्था में, जब मनुष्य संसार की सभी वस्तुओं के प्रति इतनी गहरी अनासक्ति का, किसी अन्य वस्तु को पाने की एक इतनी बड़ी आवश्यकता, कोई ऐसी चीज पाने की एक अनिवार्य आवश्यकता का अनुभव करता है जो सचमुच सुंदर, वास्तव में नवीन, यथार्थ में शुभ हो... तब, एकदम स्वाभाविक रूप में, यह बात तुम्हें एक आध्यात्मिक अभीप्सा तक ले जाती है। और इन विभीषिकाओं ने मानों मानव वर्ग को विभक्त कर दिया है : एक अल्पसंख्यक वर्ग था जो तैयार था और बहुत ऊंचा उठ गया; एक बहुसंख्यक वर्ग था जो तैयार नहीं था और बहुत नीचे गिर गया। यह वर्ग आजकल पंक में लोट रहा है, और इसलिये, अभी कोई इसमें से बाहर नहीं निकलता; और यदि यह अवस्था जारी रही तो हम दूसरे युद्ध की ओर अग्रसर होंगे और इस बार वास्तव में इस सभ्यता का अंत हो जायेगा—मैं संसार का अंत नहीं कहती, क्योंकि संसार का अंत नहीं हो सकता, बल्कि इस सभ्यता का अंत होगा, अर्थात्, दूसरी सभ्यता का निर्माण करना होगा। तुम लोग शायद यह कहोगे कि यह तो बहुत अच्छा होगा, क्योंकि यह सभ्यता अपने ह्रास की स्थिति में है, यह विनष्ट होने के पथ पर है; परंतु आखिरकार, इसके अंदर बहुत-सी सुंदर चीजें हैं, सुरक्षित रखे जाने के योग्य हैं, और यदि यह सब विलीन हो जाये तो यह बड़े दुःख की बात होगी। परंतु, यदि दूसरा युद्ध हो तो मैं तुमसे कह सकती हूं कि यह सब विलुप्त हो जायेगा। कारण, मनुष्य बड़े बुद्धिमान् प्राणी हैं और उन्होंने प्रत्येक चीज को नष्ट कर देने का उपाय ढूंढ़ निकाला है, और वे उसका प्रयोग करेंगे, क्योंकि कुछ विशेष बमों को तैयार करने में अरबों खर्च करने से क्या लाभ, यदि उनका व्यवहार ही न किया जा सके? भला इस आविष्कार से क्या लाभ कि मनुष्य कुछ मिनटों में एक शहर को धूल में मिला सकता है, यदि वह उसे धूल में मिलाने के लिये न हो! मनुष्य अपने प्रयासों का परिणाम देखना चाहता है! यदि युद्ध हो तो बस यही चीज घटित होगी।

अच्छा, तो मैं तुमसे ऐसी बातें कह रही हूं जो बहुत सुखदायी नहीं हैं, परंतु ऐसा करना कभी-कभी अच्छा होता है ताकि मनुष्य के सोचने के लिये उसके मस्तिक में थोड़ा-सा बोझ पड़ जाये।

—श्रीमातृवाणी खंड, ४ से

——***——

*तुम्हें अपने-आपको अपनी की गयी भूलों के लिये पीड़ा न देनी चाहिये, परंतु तुम्हें **अपनी अभीप्सा में पूर्ण सचाई रखनी चाहिये और अंत में सब कुछ ठीक हो जायेगा।***

—श्रीमां

श्रीअरविंद के साथ बातचीत

(मनुष्य के व्यक्तित्व, चरित्र इत्यादि के बारे में)

२६-८-१९२६

शिष्य—क्या मनुष्य के भौतिक व्यक्तित्व को योग द्वारा पूरी तरह से समाप्त किया जा सकता है ?

श्रीअरविंद—भौतिक व्यक्तित्व से तुम्हारा मतलब क्या है ? एक बाहरी व्यक्तित्व होता है जो प्रधानतः भौतिक होता है। परंतु उसमें प्राणिक और मानसिक तत्त्व भी रहता है। मनुष्य का बाहरी भाग केवल वह अंश है जो बाहर निकला हुआ है। दूसरे भाग ज्यादा छिपे हुए हैं और हो सकता है कि इस जीवन में बाहर न भी आयें। योग का उद्देश्य है मानसिक सत्ता के और प्राणिक और भौतिक सत्ता के विभिन्न भागों में सामंजस्य लाना और सारे को मिलाकर एक सामंजस्यपूर्ण अभिव्यक्ति देना और इसके लिये बाहरी व्यक्तित्व को जीतना और बदलना होगा। कुछ तत्त्व बने रह सकते हैं लेकिन उनका रूपांतर होगा।

शिष्य—कौन-से तत्त्व बने रहते हैं ?

श्रीअरविंद—कौन-से तत्त्वों को बनाये रखना और रूपांतरित करना चाहिये और किन्हें त्याग देना चाहिये इसके लिये कोई सामान्य नियम नहीं है, यह व्यक्ति-व्यक्ति पर निर्भर है।

योग में बाहरी व्यक्तित्व इतना अधिक बदल जाता है कि वह एक और ही व्यक्ति मालूम होने लगता है। जब 'क' योग के द्वारा रूपांतरित हो जायेगा तो जिन लोगों ने उसे दस साल से नहीं देखा है उन्हें उसे पहचानने में कठिनाई होगी।

शिष्य—हो सकता है कि बाहरी व्यक्तित्व में विभिन्न मिश्रित व्यक्तित्व हों।

श्रीअरविंद—हां, मनुष्य के व्यक्तित्व में मानसिक तत्त्व हो सकते हैं, मानसिक-प्राणिक तत्त्व (जैसे सौंदर्यग्राही वृत्ति) और भौतिक तत्त्व हो सकते हैं। मनुष्ये का व्यक्तित्व प्रधानतः भौतिक होता है, मानसिक और प्राणिक उसमें अंतर्लीन होते हैं।

शिष्य—क्या विभिन्न व्यक्तित्व पिछले जन्म के फलस्वरूप होते हैं ?

श्रीअरविंद—दूसरे तत्त्व भी होते हैं, मनुष्य इस जीवन में जो बनता है उसके साथ पिछले जन्मों के व्यक्तित्व भी जुड़े रह सकते हैं।

लेकिन जो लोग भली-भांति विकसित नहीं होते उनमें व्यक्तित्वों को अलग-अलग करके पहचान सकना मुश्किल होता है। जब सब तरह के तत्त्वों का घालमेल हो तो हम कहते हैं, इस आदमी में कोई व्यक्तित्व ही नहीं है। मैं ऐसे लोगों को इकहरे व्यक्तित्ववाला कहता हूं, लेकिन विकसित लोगों में व्यक्तित्वों को आसानी से पहचाना जा सकता है।

शिष्य—तो क्या लोगों के चरित्र में परस्पर-विरोधी तत्त्वों का यह कारण होता है ?

श्रीअरविंद—हां।

शिष्य—हम एक ठोस उदाहरण लें। एक समय रोबेस्पीयर किसी को मृत्यु-दंड न दे सकता था।

श्रीअरविंद—यह उसकी जवानी में था। बाद में वह बदल गया था।

शिष्य—चित्तरंजनदास में बहुत-से व्यक्तित्व थे—वकील, कवि, राजनेता।

श्रीअरविंद—तुमने अपने लेख में लिखा है कि दास के भाषण युक्ति-संगत न होते थे, लेकिन पहले उनके सभी भाषण, उदाहरण के लिये उनके वकालती भाषण बहुत ज्यादा युक्ति-संगत होते थे, लेकिन जब वह राजनीति में घुसे तो उन्होंने वह आदत छोड़ दी और इसीलिये सफल हो पाये। दास के अंदर राजनेता वकील से एकदम भिन्न था।

शिष्य—ऐसे लोग हैं जो अपने घरेलू जीवन में बहुत अनैतिक थे पर सार्वजनिक जीवन में बहुत सफल रहे।

श्रीअरविंद—नैतिकता और महानता में क्या संबंध है? अधिकतर बड़े आदमी अनैतिक थे। अपने निजी जीवन में अनैतिकता बलवान् प्राण के कारण आती है और वही प्रबल प्राण सार्वजनिक जीवन के बड़े कामों में सफलता लाता है।

अनैतिकता प्राणिक आवेगों को बिना रोक-टोक खुल खेलने देने में है। यह बल से भी आ सकती है और दुर्बलता से भी। बल की अवस्था में आवेग बलपूर्वक निकलते हैं और दुर्बलता की अवस्था में वे संयम में नहीं रखे जा सकते।

आत्म-संयम या तपस्या करने के लिये यह जरूरी नहीं है कि आदमी योगी या दिव्य पुरुष ही हो। असुर अपने प्राणिक आवेगों पर नियंत्रण करते हैं ताकि अधिकाधिक योग करने के लिये अपनी ऊर्जा को संचित रख सकें।

जो दुर्बलता या समाज के भय के कारण अपने आवेगों को छूट नहीं देते वे समाज में आदर पा सकते हैं पर मैं उन्हें शुद्ध नहीं कह सकता।

नैतिकता के बारे में साधारण विचार यही है कि सामाजिक नियमों का पालन किया जाये। इस तरह जब कोई अपनी गर्भवती पत्नी के साथ भोग-विलास करता है तो इसमें साधारण विचार के अनुसार कोई बुराई नहीं है लेकिन मैं ऐसे आदमी को अनैतिक कहूंगा।

अधिकतर संत अपने पहले जीवन में पापी रहे हैं, उदाहरण के लिये बिल्वमंगल।

शिष्य—अपवाद भी होते हैं।

श्रीअरविंद—नहीं, बात यह है कि सब लोग अपने पापों को स्वीकार नहीं करते। दास नैतिक नहीं थे परंतु वह बड़े आदमी बन गये।

शिष्य—अपने पिछले जीवन में उन्होंने संयम रखा था।

श्रीअरविंद—हां, वह हमेशा बलवान् आदमी रहे।

—'श्रीअरविंद सर्कल' १९८४ से

रहस्य

...यह कहना कि एशिया अभी-अभी अपनी बाल्यावस्था से निकल रहा है, जब कि यूरोप बूढ़ा और जर्जर हो गया है, प्रचलित मान्यताओं के बिल्कुल विरुद्ध है। पर इसमें एक गहरा सत्य है। पश्चिम की अपेक्षा पूर्व हजारों वर्ष पुराना भले हो, पर केवल अधिक वर्षों के आधार पर ही किसी को बूढ़ा नहीं कहा जा सकता। लंबा आयुष्य पानेवाली जातियों में बाल्यावस्था के जितने वर्ष होते हैं, क्षणभंगुर जातियां उतने वर्षों में बचपन, जवानी, बुढ़ापा आदि सब कुछ खतम करके परमधाम को भी चली जाती हैं। एशिया हर चीज में बहुत विशाल है। एशिया का आकार-प्रकार बहुत विशाल है, उसकी गतिविधि विशाल और भव्य है। इसी तरह उसके जीवन-काल की गणना भी की जाती है। यूरोप शताब्दियों में जीता है और एशिया युगों में। यूरोप राष्ट्रों में बंटा हुआ है, एशिया सभ्यता में और संस्कृतियों में। सारे यूरोप में एक ही सभ्यता है, जिसका स्रोत एक ही है, वह पुरानी और कहीं से ली हुई है। एशिया में तीन सभ्यताएं हैं, जिनमें से हर एक मौलिक और स्थानीय है। यूरोप की सभ्यता का मुख्य स्रोत है यूनान। वह दो-तीन शताब्दियों में बढ़ा, दो शताब्दियों तक फला-फूला और उसके बाद दो शताब्दियों में मुरझाकर समाप्त हो गया। बरसों की

गिनती की जाये तो यूरोप के देश अभी कितने छोटे हैं, फिर भी स्पेन का तो प्राणांत हो ही चुका, आस्ट्रिया को लकवा मार गया है और अब विघटित होता जा रहा है, फ्रांस को एक घातक और असाध्य रोग हो गया है, इंग्लैंड में विघटन और ह्रास के पहले लक्षण शुरू हो चुके हैं। यूरोप के खाली किये हुए स्थान को भरने के लिये एशिया, जो युवा, बलशाली, ओजस्वी, अमरता के उपहार से संपन्न, रूपांतर के रहस्य से अवगत है, आगे आ रहा है। भविष्य पर वही छा जायेगा। केवल वही संसार को अमरता का रहस्य सिखा सकता है। यह रहस्य उसके पास है।

—श्रीअरविंद

यूरोपीय और एशियाई मनुष्य का मानस

. . . यूरोपीय मनुष्य का मानस एक ओडीसी है या ईलियड जो अनगढ़, अपरिष्कृत रूप से भले पर वीरता के साथ आगे बढ़ता जाता है, जो समृद्ध कुतूहल से भरा है, जो यथार्थ, ऊर्जस्वी द्रष्टा की तरह विचारों के खुश्की से घिरे सागर में विचरता है। एशियाई का मानस रामायण या महाभारत है जो भव्य और प्रेरक कल्पनाओं तथा आदर्शवादों की चमकती हुई अनंतता या फिर विस्तृत नैतिक अभीप्सा तथा सदा परिवर्तित होते हुए और विचारों के नये वर्गित समूहों का विश्व है। पश्चिम के मनुष्य का मन वह भूमध्य-सागर है जो छोटे, उपजाऊ द्वीपों से भरा है और ऐसे बंदरगाहों से टंका है जिनकी ओर उनका स्वामी, जो व्यक्तिगत व्यापारी है, उत्सुकता के साथ अपना सौदा सुलुफ लेकर ऊंची-ऊंची लहरों में टकराने के बाद भागता है। वह उत्सुकता के साथ चल पड़ता है और अपनी प्यारी धरती मां को चूमता है। पूर्व के मनुष्य का मन एक सागर है और उसमें यात्रा करनेवाला एक साहस-भरा यात्री और अन्वेषक है, वह एक कोलम्बस है जो महीनों उस असीम सागर में चक्कर लगाता है जो भूमि की पहुंच के बाहर है, उसके बंदरगाह गिने-चुने और एक दूसरे से बहुत दूर हैं। वह अपनी तली में ऐसा बहुत-सा व्यापार का सामान नहीं लिये रहता जिससे तुम लेन-देन कर सको, फिर भी वह व्यापारी के लिये नये बाजार, नये जगत् और नयी दुनियाएं खोल देता है। अपने अंतर्भास और भविष्य-दृष्टि द्वारा वह चक्रों को विस्तृत करने में सहायता देता है जब कि यूरोपीय हमेशा आग्रह के साथ लीक पर चलता रहता है। यूरोपीय तत्त्वतः वैज्ञानिक, कलाकार और व्यापारी है, एशियाई तत्त्वतः नैतिक, धर्मपरायण और दार्शनिक है। हां, यह फर्क कठोर या सुनिश्चित नहीं है . . .

—श्रीअरविंद

दूसरों का मूल्यांकन करना

जब कभी कोई सामान्य बनावट के अनुसार ठीक नहीं होता, अगर उसके सभी अंगों और क्रियाओं में सामान्य संतुलन नहीं है, अगर न्यूनाधिक रूप से किन्हीं क्षमताओं की कमी है और कुछ अन्य बढ़ी-चढ़ी हुई हैं तो सामान्य और सरल आदत के अनुसार उसे ''अपसामान्य'' घोषित कर दिया जाता है और जल्दबाजी के साथ की गयी इस दंडाज्ञा के बाद मामला खतम। और अगर यह संक्षिप्त-सा निर्णय किसी ऐसे ने दिया हो जो किसी शक्ति के पद पर हो तो इसके नतीजे अनर्थकारी हो सकते हैं। ऐसे लोगों को जानना चाहिये कि सच्ची अनुकंपा क्या है, तब वे और तरह से व्यवहार करेंगे।

पहली आवश्यकता यह है कि किसी के बारे में निंदात्मक ढंग से सोचने से परहेज करो। जब हम किसी आदमी से मिलते हैं तो हमारे आलोचनात्मक विचार मानों उसकी नाक पर घूंसा लगाते हैं जो स्वभावतः उसके अंदर विद्रोह पैदा करता है। हमारी मानसिक रचना उस व्यक्ति के लिये विकार पैदा करनेवाले दर्पण का काम देती है और तब आदमी विचित्र न हो तो भी हो जायेगा। लोग अपने मन से यह विचार क्यों नहीं निकाल सकते कि यह या वह व्यक्ति अस्वाभाविक है। वे किस कसौटी से परखते हैं ? वास्तव में स्वाभाविक है कौन ? मैं तुम से कह सकती हूं कि एक भी व्यक्ति सामान्य या स्वाभाविक नहीं है क्योंकि स्वाभाविक होने का अर्थ है भगवान् होना।

मनुष्य का एक पैर मानवता में है दूसरा पाशविकता में और साथ-ही-साथ वह देवत्व का प्रत्याशी है। उसकी अवस्था सुखद नहीं है। सच्चे पशु ज्यादा अच्छी हालत में हैं। वे आपस में ज्यादा सामंजस्यपूर्ण हैं। वे मनुष्यों की तरह लड़ते-झगड़ते नहीं। वे अकड़फूं नहीं करते, वे लोगों को नीचा समझकर उन्हें दूर नहीं रखते।

तुम्हारे अंदर सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण होना चाहिये और तुम्हें अपने साथियों के साथ सहयोग देना सीखना चाहिये। उनके अंदर जो कुछ घटिया दीखता हो उसका मजाक उड़ाने की जगह उनकी सहायता करना और उन्हें ऊंचा उठाना चाहिये।

अगर किसी के अंदर कुछ त्रुटि है और वह अति संवेदनशील और हठी है तो तुम उसे बाधित करने या निकाल बाहर करने के संक्षिप्त तरीकों द्वारा सुधारने की आशा नहीं कर सकते। उसी तरीके से काम करके उसके अहंकार को अपने अहंकार द्वारा बाधित मत करो। उसकी प्रकृति के अनुसार, नरमी और समझदारी के साथ उसका पथ-प्रदर्शन करो। यह देखो कि क्या तुम उसे ऐसी जगह रख सकते हो जहां वह औरों के साथ संघर्ष में आये बिना काम कर सके।

अगर, जिन लोगों के हाथ में शक्ति है वे अपनी महत्ता से फूले रहें तो वे सच्चे कार्य में बाधा देते हैं। उनके अंदर जो भी क्षमता हो उसकी उपलब्धि ही वास्तविक चीज नहीं है।

लेकिन ऐसी बात नहीं है कि उनमें हमेशा सद्भावना की कमी होती है। क्या उचित है इसके बारे में उनके अंदर गलत विचार होते हैं। अगर वे भागवत लक्ष्य के बारे में ज्यादा सचेतन हो जायें तो वे निश्चय ही उसे पूरा करने में सफल हो सकते हैं।

—माताजी

ध्यान

ध्यान के समय या जब मैं अचंचल रहना चाहता हूं तो विचार और सुझाव आते रहते हैं और मन को व्यस्त रखते हैं। मैं देखता हूं कि मेरी सत्ता उन्हें फेंकने में और अलग ठहरकर अपने-आपको अंतर्मुख या ऊर्ध्वमुख करने में सकुचाती है। ऐसा लगता है कि यह सब करने में एक तरह का भय जगता है कि जिसे मन यह कह न्यायोचित ठहराता है कि "अगर तुम अलग हो जाओ और इन सब गतिविधियों को अपनी स्वीकृति न दो तो तुम आंतरिक नीरवता की ओर प्रवृत्त होओगे लेकिन फिर तुम्हें माताजी की ओर से आनेवाले कामसंबंधी सुझाव न मिल पायेंगे जो बहुधा काम के समय नहीं आते।" इस भांति वे सत्ता से मूक समर्थन पा लेते हैं। मैं आपका पथ-प्रदर्शन पाने के लिये प्रार्थना करता हूं।

इस औचित्य का कोई मूल्य नहीं है। अगर कामसंबंधी सुझावों को एक ओर कर दिया जाये तो वे संभवतः

ठीक समय पर आयेंगे। कम-से-कम उन्हें ऐसा करना तो चाहिये। यह तो साधक को चुनना होगा कि वे कब आयें, सुझाव अपना समय नहीं चुन सकते। एकाग्रता के समय मन की नीरवता या स्थिरता बहुत ज्यादा महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। उसे ऐसे विचारों के लिये द्वार खोलने के लिये न्यौछावर नहीं किया जा सकता जो अधिकतर के लिये केवल मानसिक रूपायण ही हो सकते हैं। जब मन नीरव होता है तब उच्चतर और गभीरतर स्रोतों से सच्चे ज्ञान के आने का आरंभ होता है।

१९३८

—श्रीअरविंद

पत्थरों की आवाज़

—"अरे दादाजी, यह तो कितनी पुरानी हो गयी है, अब इसमें बचा ही क्या है जिसके लिये इसकी हिफाज़त की जाये ! देखिये, जरा इसकी हालत ! चप्पे-चप्पे से चूना झड़ रहा है, और दीवारें, कैसी नंगी हो चुकी हैं ! इसे तो अब तोड़कर नये तरीके के "फ्लैट" बना देने चाहियें।" नये उत्साह से भरे वैभव ने पीढ़ियों से चली आ रही पैतृक संपत्ति को देखकर अपने दादा जी से कहा।

"—हां बेटे, अब तो यह भी बूढ़ी हो चली। बड़ी सेवा की है इसने। कितनों को आश्रय दिया ! कितनों की सुख-दुःख की साक्षी रही है यह हवेली। विभु बेटे, इसीमें मेरा जन्म हुआ था। उधर देख, वह जो बड़ा कक्ष है, वहीं मैं पैदा हुआ था। उसीमें मेरा शैशव बीता, बचपन के फूल खिले, यौवन के सपने सच्चे हुए ! और . . . " गहरी सांस लेते हुए दादा जी बोले—" . . . और उसी में मेरा पुत्र मुझे छोड़कर . . . !" रुंधे गले से निकले इस अधूरे वाक्य ने ही उनके मन की व्यथा कह डाली।

वैभव, बीस वर्ष का नवयुवक, आज पहली बार अपने दादाजी के साथ उनकी जमींदारी की वह हवेली देखने आया है जिसकी न जाने कितनी सारी कहानियां उसने बचपन से दादा जी के मुंह से सुनी थीं। अब, न जमींदारी है, न वह रौनक ! जिस अनोखी शान की कल्पना में विभु आज तक अपने दादाजी के सुख-दुःख में भाग लेता रहा वह मानों आज इस जीर्ण अट्टालिका को देखते ही इसीकी तरह ढह पड़ने को तैयार थी। कहां हैं वे नौकर-चाकर, वे पालकिया और घोड़े ? वे जगमगाते झाड़फानूस, वे आनंदभरी शामें ? फव्वारों की फुहारों से भरी शीतल हवाएं और चहलकदमियां ? वे संगीत की स्वरलहरियां ? कुछ भी तो नहीं है यहां ! विभु की सारी कल्पनाएं जैसे धूल में मिल गयीं। सिवाय नंगी-बूची दीवारों और दीमकों के द्वारा खाये गये आधे-अधूरे दरवाजों के अब इसमें बचा ही क्या है ? —"दादा जी, क्या रखा है इसमें जो इसकी मरम्मत का विचार भी किया जाये ?" विभु ने निराश होकर कहा।

विभु के शब्दों से दूर, अपनी यादों में खोये हुए दादाजी ने गंभीर निःश्वास छोड़ते हुए कहा—"ठीक कहते हो बेटे, अब रखा ही क्या है इसमें ? फिर भी, जब भी इसे तोड़ो, जरा रहमदिली से तोड़ना, बड़ी प्यार-भरी गोद रही है यह हमारे वंश की। मां की गोद की तरह इसने भी अपने आंचल में बड़ी शीतलता, बड़ी राहत दी है। और अब, तुम ही तो इसके एकमात्र वारिस हो, जैसा ठीक समझो करना।

विभु को पुरानी हवेली दिखाकर दादाजी लौटे तो उनके पुराने जीवन की सारी स्मृतियां मन में इतनी प्रबल हो उठीं कि वे बेचैन हो गये और उस एकाकी वृद्धावस्था को अधिक सहन न कर सके। . . .

. . . दादाजी को खोकर विभु बहुत अकेला हो गया। बचपन से आज तक दादाजी ही उसके सब कुछ थे। उन्हींकी प्रेरणा से विभु ने शिल्पकला की उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। बचपन से ही उसे मूर्तियां बनाने का शौक था। दिनभर मिट्टी की मूर्तियां बना-बनाकर दादाजी को दिखाता और दादाजी उसकी बाल-रचना में कल्पना से प्राण फूंक देते थे। सारी मूर्तियां सजीव हो जाती थीं। उन्हीं मूर्तियों को लेकर वे दोनों न जाने कितनी कहानियां गढ़ा करते थे।

आज अपनी नयी-पुरानी सभी मूर्तियों के सामने बैठा विभु मौन होकर उन्हींसे उनकी कहानियां सुन रहा है। घोड़े जैसा दीखनेवाला प्राणी, जो बचपन में राणाप्रताप के घोड़े का ही अवतार था, बोल उठा—'चल विभु, उठ ! हवा से बातें करते, सरसराते अरावली की चोटियों पर चढ़ जायें। वहां सिंहों और बाघों से तुझे युद्ध करना है न ! उठा अपनी तलवार ! मैं तुझे नदियां, घाटियां पार कराके अभी वहां ले जाऊंगा।'' विभु के मन में दादाजी की आवाज गूंजने लगी—

''रण बीच चौकड़ी भर-भर कर
चेतक बन गया निराला था,
राणा प्रताप के घोड़े से
पड़ गया हवा को पाला था।''

—''राणा प्रताप नहीं दादाजी, वैभव प्रताप''—विभु अनायास बोल उठा। बचपन का वही आग्रह स्वतः उसके मुंह से निकल पड़ा। और, अकेले में अपने पर ही हंसते हुए विभु ने अपने घोड़े को थपथपा कर शाबाशी दी—''शाबाश, चेतक ! तू वैभव प्रताप का सच्चा साथी है।'' फिर, उसकी दृष्टि अन्य कई मूर्तियों पर से घूमते-घूमते अपनी अंतिम कृति पर जा टिकी। अभी पिछले वर्ष ही उसने इसे बनाया था। यह थी उसकी अपनी ही मां की मूर्ति। उसे देखते ही विभु की आंखों में आंसू छलक आये। अनायास उसके हाथ मां की गर्दन से लिपट गये। उसने अपना सिर मां के कंधे पर टिका दिया। और . . . मानों उस मूर्ति में छिपी मां बोल उठीं—''विभु बेटे, तूने पत्थरों को काट-छांट कर रूप देना तो सीखा, पर, पत्थरों की आवाज सुनना भी सीखा या नहीं ? बेटा, आज दादाजी को खोकर तू एकदम अकेला हो गया है ! उनकी पुरानी हवेली को तोड़ने से पहले उसकी आवाज जरूर सुन लेना !''

अचानक विभु की चेतना यथार्थ जगत् में लौट आयी। ''अरे, मैं कहां कल्पना-लोक में भटक गया था ! पर, अभी-अभी जो मां की आवाज सुनायी दी, वह तो कल्पना नहीं थी। वह तो उन्हींकी आवाज थी। हां, वे मुझसे कुछ कह रही थीं।'' विभु चुपचाप अपनी मूर्तिशाला से निकलकर अकेला ही अपनी पुरानी हवेली की ओर चल पड़ा। वहां पहुंचकर निःशब्द, कुछ सुनने को उत्सुक, वह दादाजी के कमरे में पहुंचा। एकांत, शांत वातावरण में वह किसी और ही दृष्टि से हवेली की दीवारों को निहारने लगा। उसका हृदय जैसे कुछ सुनने को आतुर था। नीरवता में डूबे विभु को, अचानक जैसे उन पत्थरों में से निकलती संगीत की हल्की तरंगें सुनायी देने लगीं। विभु उस संगीत की मधुरता और पवित्रता में डूबने लगा। क्रमशः उस संगीत में उसे एक मधुर कंठस्वर स्पष्ट सुनायी देने लगा। उस कंठ को पहचानते उसे देर न लगी। यह उसकी मां का कंठस्वर था जो उस कक्ष में संगीत साधना किया करती थीं और जिसे इन पत्थरों ने अपने अंतर में समा लिया था। विभु के मनस-पटल पर शैशव के कुछ चित्र उभरने लगे—संगीत में डूबी मां, चित्रकला में निमग्न पिता . . . और फिर . . . एकाकी वह अपने दादाजी के साथ . . . ।

उन पत्थरों से आते संगीत में तल्लीन विभु की चेतना इस जगत् में तब लौटी जब उसके कंधे पर किसी ने स्पर्श करते हुए कहा—''विभु भैया, आप यहां कब आ गये ? मैं आपको कब से खोज रहा हूं। चलिये, घर चलिये, बहुत रात हो गयी है। विभु ने संभलते हुए कहा—''राधे काका, अब इस हवेली में मैं एक संगीतशाला बनवाऊंगा।''

—''अरे, क्यों विभु भैया ? अभी कुछ ही दिन पहले तो आप बड़े बाबू जी के साथ इसे देखने आये थे और आपने कहा था इसे तुड़वाकर नये मकान बनवाऊंगा। आपको क्या हो गया ?'' जमींदार साहब के बूढ़े नौकर राधेश्याम ने चकित होकर पूछा।

—''हां राधे काका, अब यह सब कुछ नहीं होगा। यहां संगीतशाला ही बनेगी।''

—''पर, यह विचार क्यों बदला विभु भैया ?''

—"राधे काका आज मैंने पहली बार पत्थरों की आवाज सुनी है। आज मुझे पत्थरों की सजीवता का बोध हुआ है। आज मेरे हृदय में शिल्पकला का पहला रहस्य उद्घाटित हुआ है। काका, आज मैं बहुत खुश हूं। आज यह हवेली मुझे चूने-पत्थर की दीवारें नहीं, अपनी मां की गोद दिखायी दे रही है। इसकी मजबूती के लिये जितना जरूरी होगा, उतना ही इसे छेड़ूंगा। भला मां की गोद को कोई तोड़ सकता है ?"

—अर्चना माहेश्वरी

रूपांतर

४ जनवरी, १९५१

श्रीमाताजी अगस्त, १९५० की 'बुलेटिन' से "रूपांतर" शीर्षक लेख पढ़ती हैं और फिर उसकी व्याख्या करती हैं :

हम चाहते हैं सर्वांगीण रूपांतर, शरीर और उसकी सारी क्रियाओं का रूपांतर।

पहले जब रूपांतर की बात कही जाती थी तब उसका एकमात्र अभिप्राय होता था आंतरिक चेतना का रूपांतर। स्वयं अपने अंदर गभीरतर चेतना को खोजने का प्रयास किया जाता था और शरीर तथा उसकी क्रियाओं को बोझ और अनावश्यक वस्तु मानकर उनका परित्याग कर दिया जाता था ताकि एकमात्र आंतरिक क्रियाओं में ही तल्लीन रहा जा सके। श्रीअरविंद ने घोषणा की कि यह पर्याप्त नहीं है; 'सत्य' की मांग है कि भौतिक जगत् को भी इस रूपांतर में भाग लेना चाहिये और गभीरतर 'सत्य' की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। किंतु जब लोगों ने यह सुना तो बहुतों ने समझा कि यह जानने का जरा भी कष्ट उठाये बिना ही कि अंतर में क्या हो रहा है, शरीर और उसकी क्रियाओं को रूपांतरित करना संभव है। स्वभावतया ही यह बात पूरी-पूरी ठीक नहीं है। सब चीजों से अधिक कठिन है भौतिक रूपांतर, और इस कार्य को हाथ में लेने से पहले तुम्हें अपनी आंतरिक चेतना को 'सत्य' के अंदर दृढ़ और ठोस रूप से प्रतिष्ठित करना होगा ताकि यह रूपांतर 'सत्य' की अंतिम अभिव्यक्ति हो सके—कम-से-कम इस समय के लिये 'अंतिम'।

इस रूपांतर का आरंभ-बिंदु है ग्रहणशीलता, हम इसकी बात पहले कह चुके हैं। रूपांतर सिद्ध करने के लिये यह अपरिहार्य शर्त्त है। तब आता है चेतना का परिवर्तन। चेतना के परिवर्तन और उसकी तैयारी की तुलना प्रायः अंडे के अंदर मुर्गी के बच्चे की तैयारी से की जाती है। अंतिम पल तक अंडा देखने में वह -का-वही बना रहता है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं दीखता, और जब बच्चा पूरा रूप ले लेता है, एकदम जीवंत हो उठता है, तब स्वयं वह बच्चा अपनी नन्हीं चोंच से अंडे के छिलके में छेद कर देता है और बाहर निकल आता है। चेतना के परिवर्तन के क्षण में ठीक ऐसी ही कुछ चीज होती है। लंबे अरसे तक तुम्हें ऐसा लगता है कि कुछ भी नहीं हो रहा, तुम्हारी चेतना पूर्ववत् ही है, और यहांतक कि यदि तुम में तीव्र अभीप्सा है, तो तुम्हें एक विरोध का भी अनुभव होता है, मानों तुम किसी दीवार से टकरा रहे हो जो गिरना नहीं चाहती। किंतु जब तुम अंदर से तैयार हो जाते हो, एक आखिरी प्रयास . . . सत्ता के छिलके पर चोंच की एक चोट, —और सारी चीज खुल पड़ती है और तुम दूसरी चेतना में जा पहुंचते हो।

मैंने कहा था कि यह "मूलगत संतुलन में ही क्रांति" है, अर्थात् चेतना पूर्णतः उलट जाती है। इसकी तुलना समपार्श्व कांच या प्रिज़्म में से गुजरनेवाली प्रकाश-किरण की अवस्था से की जा सकती है। या यह मानों ऐसा होता है जैसे तुमने किसी गेंद के अंदर के हिस्से को उलटकर बाहर कर दिया हो, जो कि केवल चतुर्थ आयाम में ही किया जा सकता है। व्यक्ति तीन आयामोंवाली सामान्य चेतना से निकल आता है और चौथे आयाम की उच्चतर चेतना में और फिर असंख्य आयामों में प्रवेश कर जाता है। यही अपरिहार्य

आरंभबिंदु है। जबतक तुम्हारी चेतना का आयाम नहीं बदल जाता, वह जैसी-की-वैसी बनी रहेगी, चीजों को छिछली दृष्टि से ही देखेगी और सारी गहराइयां उससे ओझल रहेंगी।

क्या यहां कोई ऐसा है जो चेतना की इस उलट-पलट का अनुभव कर चुका है और अपने अनुभव को (फ्रेंच में) व्यक्त कर सकता है ?

क : यह अनुभव मुझे हृदय में पीड़ा की भांति हुआ और सारे दिन बना रहा। दूसरे दिन जब मैं बिस्तर से उठा तो मुझे ऐसा लगा मानों मैं गहरे ध्यान से उठा हूं और मेरे सारे विचार, मेरे सारे कार्य एक ऐसी चीज या ऐसे व्यक्ति से निर्देशित होते जान पड़े जो मेरे सिर के समीप रहकर निगरानी कर रहा था। मेरे मुंह से निकलनेवाला प्रत्येक शब्द सही था।

यह पीड़ा कैसी थी ? दबाव जैसी ? चीरने जैसी ? तनाव जैसी ?

क : ऐसा लगता था मानों मेरे अंदर कोई चीज प्रसन्न नहीं थी, किंतु यह सब कुछ रात को बदल गया और दूसरे दिन सुबह बेचैनी चली गयी थी।

निस्संदेह, यह चीज थी उच्चतर चेतना की ओर मन का उद्घाटन; उच्चतर चेतना की ओर मनोमय चेतना का आरोहण। और शायद भावुक प्राणसत्ता में कोई विरोध था जिसके कारण वह पीड़ा हुई थी, दु:ख का बोध हुआ था, और जो रात्रि को उच्चतर लोक में चेतना के उन्मुक्त होते ही विलीन हो गया।

ख : जब मैं श्रीअरविंद के सामने खड़ा हुआ, मैंने एक तीखी पीड़ा अनुभव की। मैंने उनसे प्रार्थना की कि मुझे कुछ दें। और एकाएक पीड़ा तीव्र आनंद में बदल गयी।

यह अपने चैत्य पुरुष के साथ तुम्हारा संपर्क था।

ग : पृथ्वी से ऊपर चेतना के आरोहण की अनुभूति प्रायः ही होती है। हम ऐसे प्रदेश में प्रवेश करते हुए प्रतीत होते हैं जहां सब समस्याएं, सब प्रश्न हल होने की जगह विलीन हो जाते हैं। उनका फिर कोई महत्त्व नहीं प्रतीत होता। फिर भी यह "ज्ञान से ज्ञान की ओर" जाना नहीं है।

यह है चैत्य केंद्र में विद्यमान भगवान् के प्रति आंतरिक सत्ता का उद्घाटन और वहां तुम हर क्षण केवल यही नहीं जानते कि क्या करना चाहिये बल्कि यह भी जानते हो कि उसे क्यों करना चाहिये और कैसे करना चाहिये, और तुम चीजों के बाह्य रूप के पीछे विद्यमान सत्य को देखने की दृष्टि पा जाते हो। चीजों को देखने का जो सामान्य तरीका है, दूसरे शब्दों में, तुम जो इन्हें बाहर से देखते हो और इतना अधिक बाहर से देखते हो कि किन्हीं विरल प्रसंगों को छोड़कर, तुम यह भी नहीं जान पाते कि दूसरा व्यक्ति क्या सोच रहा है (तुम्हें बड़ा प्रयत्न करना पड़ता है, तुम्हें केवल चीजों की सतह दिखायी देती है, सतह के पीछे होनेवाली कोई भी चीज नहीं दिखायी देती); परंतु यह आंतरिक उद्घाटन हो जाने पर और चैत्य केंद्र में विद्यमान भागवत उपस्थिति से यह तादात्म्य हो जाने पर, तुम चीजों को अंदर से बाहर की ओर देखने लगते हो और तुम जो कुछ अंदर देखते हो उसकी कम या अधिक विकृत अभिव्यक्ति ही उसका बाह्य रूप बन जाती है : तुम सत्ताओं की आंतरिक स्थिति के प्रति सचेतन हो जाते हो और उनका रूप, उनका बाह्य अस्तित्व इस आंतरिक सत्य की कम या अधिक विकृत अभिव्यक्ति होता है। इसीलिये मैं कहती हूं कि मूलगत संतुलन ही पूरी तरह बदल जाता है। जगत् से बाहर होने और उसे 'अपने से बाहर' की किसी चीज के रूप में देखने की बजाय तुम जगत् के अंदर रहते हो और बाहरी रूपों को अंदर ही की चीज की—जो तुम्हारे लिये सत्य है—न्यूनाधिक रूप में बेढंगी अभिव्यक्ति के तौर पर देखते हो।

श्रीमातृवाणी खंड ४ से

अवतार

आज मुझसे अवतार के बारे में बोलने के लिये कहा गया है।

पहली बात तो मुझे यह कहनी है कि श्रीअरविंद ने इस विषय पर लिखा है और जिसने मुझसे यह प्रश्न किया है वह श्रीअरविंद का लिखा हुआ पढ़ना शुरू करे तो अच्छा होगा।

उसके बारे में मुझे कुछ नहीं कहना है क्योंकि उसे पढ़ना ही तुम्हारे लिये अधिक अच्छा होगा।

पर मैं तुम्हें एक बहुत पुरानी परंपरा, आध्यात्मिक और गुह्य परंपराओं की दोनों ज्ञात धाराओं, अर्थात्, वैदिक और कैल्डियन धाराओं से भी पुरानी परंपराओं के बारे में बताऊंगी; ऐसी परंपरा जो लगता है इन दो ज्ञात धाराओं के मूल में रही होगी। इसमें कहा जाता है कि जब विरोधी शक्तियों के द्वारा—जिन्हें हिंदू परंपरा में असुर कहते हैं—यह संसार अपने 'ज्योति' और जन्मजात 'चेतना' के विधान के अनुसार प्रगति करने के बजाय, तम, निश्चेतना और अविद्या, जिनसे हम परिचालित हैं, में डूब गया, तब 'सृजनकारी शक्ति' ने 'परम आदि मूल' से अभ्यर्थना की, इस पथभ्रष्ट विश्व को बचाने के लिये विशेष हस्तक्षेप की याचना की; और इस प्रार्थना के उत्तर में 'परम मूल-स्रोत' से उद्‌भूत हुई प्रेम और चेतना से निर्मित एक विशेष सत्ता जिसने सीधे निबिड़ निश्चेतन जड़ में डुबकी लगायी ताकि वहां आदि 'चेतना' और 'प्रेम' के प्रति उसे जगाने का काम शुरू हो सके।

पुरानी कथाओं में इस 'पुरुष' का वर्णन इस प्रकार आता है कि एक बहुत अंधेरी गुफा के तल में यह गहरी नींद में सोया पड़ा है और वहां इसकी नींद में ही इसमें से प्रकाश की तेज रंगीन किरणें फूटीं जो धीरे-धीरे निश्चेतन में फैल गयीं और निश्चेतन के सब तत्त्वों में जा बसीं, ताकि वहां 'जाग्रति' का काम शुरू कर सकें।

यदि इस निश्चेतन में कोई सचेतन भाव से प्रवेश करे तो अब भी वहां इस अलौकिक 'सत्ता' को देख सकेगा जो अभी तक गहरी नींद में सोयी हुई है, निस्सरण का अपना कार्य कर रही है, 'ज्योति' फैला रही है; और वह उस समय तक यह करती रहेगी जब तक 'निश्चेतन' निश्चेतन न रह जायेगा, जब तक दुनिया से अंधकार मिट नहीं जाता—और सारी सृष्टि 'अतिमानसिक चेतना' के प्रति सजग नहीं हो जाती।

और दर्शनीय बात यह है कि यह विलक्षण 'सत्ता' उस 'सत्ता' के साथ मिलती-जुलती है जिसे मैंने एक दिन अपने अंतर्दर्शन में देखा था, वह सत्ता जो दूसरे छोर पर, 'साकार' और 'निराकार' की सीमा पर स्थित है। लेकिन वह सुनहली अरुण-प्रभा-मंडित थी जब कि यह अपनी नींद में हीरे-सी चमकती शुभ्रता लिये थी जिससे दूधिया किरणें निकल रही थीं।

और वास्तव में, सब अवतारों का मूल यही है। कहना चाहिये कि यह पहला वैश्व अवतार है जिसने धीरे-धीरे उत्तरोत्तर अधिक सचेतन शरीर धारण किये और अंत में उन परिचित-सी 'सत्ताओं' की पंक्ति में आविर्भूत हुआ जो विश्व को तैयार करने के काम को पूरा करने के लिये **सीधी** 'परम' के यहां से अवतरित हुई हैं, ताकि विश्व निरंतर प्रगति के द्वारा, अतिमानसिक 'ज्योति' को उसकी संपूर्णता में ग्रहण करने और अभिव्यक्त करने के लिये तैयार हो सके।

हर देश में, हर परंपरा में, यह घटना एक खास ढंग से, विभिन्न सीमाओं के भीतर, विभिन्न विवरणों के साथ, अमुक विशिष्टताओं के साथ प्रस्तुत की गयी है, लेकिन सच पूछो तो इन कथाओं का मूल एक ही है और कहा जा सकता है कि वह बीच की सब अवस्थाओं से गुजरे बिना अंधतम जड़ में, 'परम' का सीधा, सचेतन हस्तक्षेप है जिससे कि यह जड़-जगत् भागवत शक्तियों को धारण करने के लिये जाग उठे।

इन अवतारों को अलग करनेवाले अंतराल उत्तरोत्तर छोटे होते दीखते हैं, मानों जैसे जड़ अधिकाधिक

तैयार होता गया वैसे ही क्रिया भी जोर पकड़ती और अधिक तेज होती चली गयी, साथ ही अधिकाधिक सचेतन और अधिकाधिक प्रभावशाली और निर्णायक भी।

और यह अपने-आपको बहुगुणित करता और तीव्र बनाता रहेगा जबतक कि सकल ब्रह्मांड 'परम' का पूर्ण अवतार नहीं बन जाता।

—श्रीमातृवाणी (खंड ९)

चुप रहना सीखो

व्यक्तिगत विकास की दृष्टि से और उन लोगों के लिये जो अभी पथ के शुरू में ही हैं, उस बात के बारे में चुप रहना जिसे वे नहीं समझते, उन चीजों में से एक है जो प्रगति में सबसे अधिक सहायक होती हैं। चुप कैसे रहा जाये यह जानना, केवल बाहरी तौर पर शब्द न बोलना ही नहीं, बल्कि यह जानना कि भीतर कैसे नीरव रहा जाये, यह जानना कि मन, जैसा कि वह हमेशा करता है, अपनी स्वभावगत ढिठाई के साथ अपने अज्ञान के दावे के साथ घोषणा न करे, समझने में असमर्थ यंत्र द्वारा समझने की कोशिश न करे, अपनी दुर्बलताओं को पहचानने और बस सहज-भाव से चुपचाप स्वयं को खोले, प्रकाश को ग्रहण करने के लिये मुहूर्त्त की प्रतीक्षा करे क्योंकि केवल 'प्रकाश', सच्चा प्रकाश ही उसे समझ प्रदान कर सकता है। जो कुछ इसने सीखा है वही सब कुछ नहीं है, जो कुछ निरीक्षण किया है वही सब कुछ नहीं है, जो कुछ जीवन का तथाकथित अनुभव लिया है वही सब कुछ नहीं है, वह तो कुछ और है जो इस सब का पूरी तरह अतिक्रमण कर जाता है। इससे पहले कि यह कुछ और—जो 'कृपा' की अभिव्यंजना है—उसमें अभिव्यक्त हो, यदि मन बड़ी शांति से, बड़ी विनम्रता से अचंचल बना रहे, समझने की, और सबसे बढ़कर मूल्यांकन करने की कोशिश न करे, तो चीजें **अधिक** तेजी से आगे बढ़ेंगी।

ये सारे शब्द, सारे विचार सिर में जो शोर मचाते हैं वह बहरा बना देनेवाला होता है, वह तुम्हें सत्य को, यदि वह अभिव्यक्त होना चाहे तो, सुनने से रोक देता है।

अचंचल और नीरव रहना सीखना . . .। जब तुम्हारे सामने सुलझाने के लिये कोई समस्या हो तो सब संभावनाओं, सब परिणामों, करणीय या अकरणीय सब संभव चीजों पर दिमाग लड़ाने की जगह यदि तुम सद्भावना की अभीप्सा लिये अचंचल बने रह सको, यदि संभव हो तो सद्भावना की आवश्यकता के लिये, तो बहुत जल्दी समाधान निकल आता है। और क्योंकि तुम नीरव होते हो, इसलिये तुम उसे सुन पाते हो।

जब तुम किसी कठिनाई में फंस जाओ तो इस तरीके को आजमाओ : विक्षुब्ध होने, सब विचारों को उलटने-पलटने, जोर-शोर से समाधान ढूंढ़ने, चिंता करने, चिढ़ने, अपने सिर के अंदर इधर-उधर भागते रहने के बजाय—मेरा मतलब बाह्य रूप से नहीं है, इतनी सामान्य बुद्धि तो तुम में होगी ही कि बाह्य रूप में दौड़-भाग न करो ! वरन्, भीतर, अपने सिर में—**अचंचल बने रहो**। और अपने स्वभाव के अनुसार, उत्कटता के साथ या शांति के साथ, तीव्रता के साथ या विस्तार के साथ या इन सबको मिलाकर, प्रकाश की अभ्यर्थना करो और उसके आगमन की प्रतीक्षा करो।

इस तरह पथ काफी छोटा हो जायेगा।

—श्रीमातृवाणी, खंड ९ से

काकस्य दुःखम्

काचित् कोकिला कस्मिंश्चित् तुङ्गे वृक्षे मधुरं कूजति स्म। सायङ्कालस्य शान्तवातावरणे तस्याः कर्णप्रियं गानम् समस्तं चराचरं जगत् आह्लादयति स्म। स्वं-स्वं नीडं गच्छन्तः नानाविधपक्षिणः अपि तस्यै मूकभाषायां धन्यवादान् अकुर्वन्, हठात् कर्कशध्वनिना चकिता कोकिला सर्वत्र अपश्यत्। उड्डयमानः कश्चित् काकः 'कां' 'कां' इति निरन्तरशब्देन सरोषं कोलाहलायते स्म। व्याकुलं खिन्नं च काकं वीक्ष्य मधुरस्वरेण कोकिला तमपृच्छत्—"भो मित्र काक! कुत्र गन्तुमुद्यतः तथा असमये, कुतश्च तथा अशान्तः दृश्यसे?" कोकिलायाः मधुरवचनं शूलमिव अप्रियमिति मुखाकृत्या प्रदर्शयन् अकथयत् सः—"हुं, मधुरवाण्या बहु जल्पसि! नास्ति तव किमपि कष्टं, मम असह्यदुःखं श्रुत्वा मकराश्रूणि निःसार्य प्रसन्नमनाः भविष्यसि, नैवम्! अपेहि, मा वद मया सह, गच्छामि अहं सुदूरं, नास्ति अत्र कोऽपि मे हितैषी न च मित्रम्," इति कथयन् पुनः उड्डयनपरः अभूत् सः काकः। कोकिला पुनरपि मधुरस्वरेण तमवदत्—"बन्धो! मया तु त्वं न कदापि दृष्टोऽपि, किमर्थं तथा अशुभं वदसि? अस्तु, तव वचनेन बोधामि यत् आहतहृदयस्त्वम्। वद किं कष्टं तव, अवश्यं साहाय्यं कर्तुं चेष्टिष्ये।" विक्षुब्धः काकः उदतरत्—"अहो! न जानामि त्वां विशेषेण, किन्तु सम्यक् परिचिनोमि तव जातिम्। युष्माकं सम्पूर्णं कुलमेव समानम्। कः बोधिष्यति मे दुःखम्? न वा अत्रत्याः खगमृगाः न च नराः अपि, तस्मात् गच्छामि तत्र यत्र प्राप्नुयामहं मनस्तुष्टिम्।" इति उक्त्वा पुनरपि गन्तुमुद्यतः सः।

स्वपक्षाभ्यां तं परामृश्य कोकिला पुनरपि अपृच्छत् तस्य दुःखस्य कारणम्। अन्ते काकः उदतरत्—"जानासि, कं दुःखभारम् आशैशवात् वहाम्यहं स्वहृदये? कोऽपि मां न सम्मानयति, प्राप्नोमि इतस्ततः उदरपूर्णं भोजनं किन्तु न कदापि बिन्दुमितमपि प्रेम। यत्र गच्छामि भर्त्सनामेव लभे तत्र। मन्ये अस्य प्रदेशस्य दोषः एषः यत् अत्र काकाः अशुभाः मन्यन्ते। तस्मात् गच्छामि अहं तत् प्रदेशं यत्र स्यात् अल्पं भोजनं किन्तु प्राप्नुयां यथेच्छं स्नेहम्। अस्तु, मा विलम्बय मामधुना, रात्रिः सञ्जायते।" इति कथयित्वा उड्डीनः काकः।

उच्चस्वरेण कोकिला तमपृच्छत्—"मित्र! केवलम् एकस्य प्रश्नस्य उत्तरं दत्वा गच्छ। कां भाषां वदिष्यसि त्वं तस्मिन् प्रदेशे?"

काकः विरतः, अघूर्णत, कोकिलामुपगम्य अपृच्छत्, "किमुक्तं त्वया?"

"—मया पृष्टं यत् त्वम् अन्यत् स्थानं गत्वा कां भाषां वदिष्यसि?"

"—अहो। ननु मूर्खा त्वम्! स्वस्य भाषां विस्मृत्य किं तव भाषां वदेयम्?"

"—तर्हि बन्धुभावेन मां शृणु मित्र! यावत् ईदृशानि वचनानि ईदृशी च भाषा तव कण्ठात् निर्गमिष्यन्ति तावत् गच्छेः त्वं पृथिव्याः सुदूरतममपि देशं, न कदापि प्राप्स्यसि तं सत्कारं यस्य अर्थे विह्वलः व्याकुलश्च त्वम्। पश्य, वर्तते आवयोः रूपसादृश्यं किन्तु तदापि भवति गृहे गृहे मे सम्मानः, मां श्रोतुं समुत्सुकाः भवन्ति जनाः, कुतः च त्वां दुरदुरायन्ते ते? मित्र! परिवर्तय स्वस्य आचरणम्, अचिरमेव द्रक्ष्यसि यत् गृहे एव प्राप्नोषि त्वं पर्याप्तं सत्कारम्, न त्वया विदेशं गत्वा तत् अन्वेषणीयम्!"

कोकिलायाः वचनं श्रुत्वा वाचालः सः काकः क्षणं निर्वाक् जातः। मन्दस्वरेण परमवदत् "—क्षमस्व मां भगिनि, त्वया मे नेत्रे उन्मीलिते। एतावत् न अवबुद्धं मया, किं कुर्यां जातिदोषः अस्माकम्, किन्तु पश्य, सम्प्रति प्रबोधितः त्वया अहम्, स्वभ्रातृभगिनीः अपि इदं सत्यं ज्ञापयिष्यामि यथा जनाः अस्मान् न लाञ्छयेयुः एतत् कथयित्वा—

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः।
वसन्तसमये प्राप्ते काकः काकः पिकः पिकः।"

कौए का दुःख

किसी वृक्ष की ऊंची डाली पर बैठी एक कोयल मधुर गीत गा रही थी, शांत वातावरण में उसका कर्णप्रिय संगीत सभी का मन मोह रहा था, अपने-अपने नीड़ों को लौटते पक्षी उसे मूक भाषा में धन्यवाद दे रहे थे। अचानक 'कां', 'कां' की कर्कश ध्वनि से कोयल चौंक उठी। देखा एक कौआ चीख-चीख कर शोर मचा रहा था। कोयल ने मीठी बोली में कौए से पूछा—"मित्र क्या बात है, इतने परेशान क्यों लग रहे हो, शाम के इस झुटपुटे में कहां जाने को तत्पर हो?" कोयल के मधुर वचन कौए को कांटे की भांति चुभ गये। मुंह बिचकाकर बोला, "हुं, बड़ी आयी दूसरों का दुःखड़ा सुननेवाली, चल हट, मेरे सामने झूठमूठ के आंसू बहायेगी और पीठ पीछे हंसेगी। दूर हट जा, मैं यहां से कहीं दूर जा रहा हूं। यहां मेरा अपना कोई नहीं है।"

कौए की कड़वी बातें सुनकर दुःखी कोयल बोली, "मित्र, मैं तो तुमसे आज पहली बार मिल रही हूं, ऐसी अशुभ बातें क्यों बोलते हो? बहुत दुःखी लग रहे हो, बताओ अपना कष्ट, मैं तुम्हारी मदद करने की पूरी कोशिश करूंगी।" कौआ फिर भड़क उठा, बोला, "अरे, तुझे पहली बार देखा तो क्या हुआ, तेरी जाति को तो खूब पहचानता हूं, तेरा सारा कुल एक समान है। कौन समझेगा मेरे दुःख को?—यहां के पशु-पक्षी, स्त्री-पुरुष तो नहीं। ऐसी जगह चला जाऊंगा जहां मन का संतोष मुझे मिलेगा।" इतना कह कौआ फिर जाने को तत्पर हो गया। कोयल ने फिर भी हार न मानी। इस बार अपने पंखों से उसे सहलाकर दुःख का कारण पूछा तो अंत में कौआ बोला—"जन्म से मैं दुःख के जिस पहाड़ को ढो रहा हूं उसे जानती है क्या? इधर-उधर से किसी-न-किसी तरह भरपेट खाना तो जुटा लेता हूं लेकिन प्यार की एक बूंद तक मुझ पर कोई नहीं बरसाता। जिधर जाऊं, जिधर बैठूं लोग बस दुत्कारते ही हैं। अब और नहीं रहा जाता इस जगह मुझसे, लगता है यह इस प्रदेश का ही दोष है, आज मैं ऐसे देश में जा रहा हूं जहां भले मुझे भरपेट खाना न मिले लेकिन स्नेह तो मिले, मैं स्नेह का भूखा हूं। अच्छा मैं चला।" कहते कहते कौआ उड़ चला।

कोयल ने पुकार कर कहा—"भाई कौए, बस मेरे एक प्रश्न का उत्तर देते जाओ, वहां जाकर बोली कौन-सी बोलोगे भला?"

कौआ ठिठका, घूमकर कोयल के पास आया, बोला—"क्या कहा? बोली कौन-सी बोलूंगा? अरे मूर्ख! अपनी बोलूंगा नहीं तो क्या तुझसे उधार लूंगा?"

मुस्कुराकर कोयल बोली—"भाई, तब तो बहन के नाते तुमसे एक बात कहती हूं कि जबतक तुम ऐसी कड़वी बोली बोलते रहोगे, संसार के किसी भी कोने में क्यों न चले जाओ कोई तुम्हें न पूछेगा। देखो बुरा न मानना, हम दोनों का रूप-रंग मिलता-जुलता-सा है फिर भी मेरा घर-घर में स्वागत होता है तुम्हारा अनादर, भाई, अपना आचरण बदलो तो देखोगे कि घर में ही तुम्हें पर्याप्त आदर-सम्मान मिल रहा है, उसे परदेश में जाकर नहीं खोजना पड़ेगा।"

कोयल की बातें कौए के हृदय को छू गयीं। कुछ देर रुककर मीठी बोली में बोला, "तुम ठीक कहती हो बहन, तुमने मेरी आंखें खोल दीं। इतनी जरा-सी बात मैं आज तक न समझ पाया था। धन्यवाद बहन, धन्यवाद। आज मैं अपने भाई-बहनों, बंधु-बांधवों को भी इस दुःख से छुटकारा पाने का अचूक इलाज बताऊंगा।" इतना कह कौआ जिस दिशा से आया था उसी ओर वापिस तेजी से उड़ गया।

—वन्दना

माताजी के साथ एक तरुण साधक का पत्र-व्यवहार

साधारणतः 'ब' योग के बारे में बातें करता है। उदाहरण के लिये 'क्ष' का संगीत प्राण से आता है इसलिये माताजी ने उसे गाने के लिये मना कर दिया है।

अगर तुम्हारी बातचीत इस प्रकार की बातों तक सीमित रहती है तो उनका उन अनगिनत अज्ञानभरी बातों से अधिक महत्त्व नहीं है जिनके आदान-प्रदान की आश्रमवालों को आदत है, जब वे यह समझते हैं कि वे जानने में समर्थ हैं कि मैं क्या करती हूं और क्यों करती हूं।
२७ अप्रैल १९३४

—माताजी

मधुर मां, आज रात मैंने कुछ बेचैनी का अनुभव किया लेकिन ध्यान के बाद उसे हटा दिया गया। क्या यह बेचैनी मेरे 'द' के साथ संपर्क के कारण आयी थी, या उसका कोई और कारण था ?

संभवतः, एक सामान्य नियम के तौर पर इस तरह की बेचैनी के कोई बुद्धिसंगत कारण नहीं होते, सिवाय इसके कि प्राण में असंतोष या विद्रोह की एक छोटी-सी गति होती है।
१० मई १९३४

—माताजी

मुझे कागज के कुछ टुकड़े मिले जिन पर श्रीअरविंद के अक्षर थे। उन्हें ट्रेजर हाउस' के कूड़ेदान में फेंक दिया गया था।

मैं आशा करती हूं कि तुमने उन्हें उठाकर रख लिया है।

—माताजी

मैं आज सवेरे से बेचैनी, थकान और उदासी का अनुभव कर रहा हूं। मैंने बहुत-सा समय जड़ता में गंवाया। मैं निष्कपट नहीं हूं और बेचैन हूं।

बाहरी प्रकृति हमेशा अपूर्णता से भरी रहती है जबतक कि भागवत उपस्थिति उसका रूपांतर न कर दे। लेकिन इन बातों से उदास होना गलत है।
४ मई १९३४

—माताजी

जब मैंने अपनी चादर उठायी तो फर्श पर एक बिच्छू गिरा। वह भाग निकले इससे पहले मैंने उसे अपनी चप्पल से मार डाला। कुछ दिन पहले मैंने ठीक यही चीज सपने में देखी थी।

इसे पूर्वसूचक स्वप्न कहते हैं, जो होनेवाला था उसे तुमने पहले ही देख लिया था।

तो इसका कोई अर्थ नहीं है ?

अर्थ से तुम्हारा क्या मतलब है ? तथ्य तथ्य है।
७ मई १९३४

—माताजी

आश्रम का एक मकान।

आज रात मुझे कुछ सुझावों और संदेहों का अनुभव हुआ लेकिन मैं जानता था कि वे विरोधी शक्तियों से आये थे। मैंने अपने-आपसे कहा, "माताजी जो कुछ करती हैं वह हमेशा मेरे भले के लिये होता है, चले जाओ!"

यह अच्छा है, यही करना चाहिये।

लेकिन बहुधा मैं औरों के सुझावों से धोखे में आ जाता हूं। वे प्रायः मुझे ठीक मालूम होते हैं परंतु बहुधा गलत होते हैं।

यह बिल्कुल ठीक है।

उदाहरण के लिये मैं बिच्छूवाले सपने का अर्थ न पूछना चाहता था। 'न' ने सुझाव दिया कि मैं आपसे पूछूं।

हां, ज्यादा अच्छा यह है कि केवल वही करो जो तुम्हारे अंतर की गहराई से आये।

९ मई १९३४ —माताजी

अपने-आपको माफ कर देने से कोई फायदा नहीं। तुम्हारे अन्दर यह संकल्प होना चाहिये कि एक बार जो भूल तुम कर चुके हो उसमें वापिस न गिरोगे।

—श्रीमां

Nothing but a radical change of consciousness can save humanity from the terrible plight into which it is plunged.

THE MOTHER